विज्ञान, इतिहास और समाज पर कुछ विचार

भारत की छाप

BHĀRAT KI CHHĀP

धारावाहिक फ़िल्मों की एक सहयोगी पुस्तक

प्रस्तुतकर्ता एवं वित्त सहायक

राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद

लेखक

चयनिका शाह

सुहास परांजपे

स्वातिजा मनोरमा

प्रकाशक

कॉमेट प्रॉजेक्ट, बम्बई

विषय-सूची

■ **ग्रंथ संरचना :** राजा मोहन्ती

भूमिका

जब "भारत की छाप" फ़िल्मों का दूरदर्शन पर प्रसारण हुआ था तब हमें बहुत सारे खत और संदेश मिले थे। कई शिक्षकों, विद्यार्थियों, पालकों, पुस्तकालयों आदि ने फ़िल्म के विडियो कैसेट की मांग की थी। फिर कई सारे गैर हिन्दी भाषी लोग चाहते थे कि ये फ़िल्में क्षेत्रीय भाषाओं में भी बनाई जाएं। कुछ और लोगों ने हमसे अनुरोध किया कि हम इस विषय पर किताबें तैयार करें क्योंकि इस संबंध में कोई छपी सामग्री उपलब्ध नहीं है।

प्रसारण के बाद इस बात पर भी चर्चा चली कि फ़िल्मों में कहा क्या गया है। प्राय: चर्चा इस बात पर केन्द्रित हो जाती थी कि फ़िल्म में क्या नहीं कहा गया। जब इन फ़िल्मों के विडियो कैसेट बन रहे थे, तो हमें लगता रहा कि हम आपके साथ ऐसे कुछ सवालों की बातचीत करेंगे। इसके लिए इन कैसेटों के साथ एक-एक पुस्तिका छापेंगे।

अब जब ये पुस्तिकाएं लिखकर तैयार हो गई हैं और एक किताब के रूप में छपने को हैं, तब फिर एक बार वही सवाल सिर उठा रहा है जो हमने अपने आपसे शुरू में ही पूछा था— इन पुस्तिकाओं में हम कहना क्या चाहते हैं? फ़िल्में बनाते समय हमने काफी अध्ययन किया था, कई विषयों के शोधकर्ताओं से मिले थे, कारीगरों, किसानों और कार्यकर्ताओं से बातचीत की थी और देशभर में घूमे थे। यह सब तो फ़िल्मों की नामावलियों से ज़ाहिर है ही। हमारे प्रयत्नों के पीछे, निर्माण के पूरे कठिन दौर में प्रो. यश पाल, सलाहकारी समिती के सदस्यों और इस परियोजना में अर्थ नियोजन करनेवाले नॅशनल काउंसिल फॉर साइंस एण्ड टेक्नॉलॉजी कम्युनिकेशन के डॉ. एन. के. सहगल का सतत सहयोग और अनुग्रह रहा है, जिससे यह निर्माण सम्भव हो सका। यह पाठ्यक्रम जैसे हमारी खुद की शिक्षा का रहा। जो बातें साफ जाहिर थीं, उन्हें हमने लपक लिया, जो हम पूरी तरह समझ नहीं सके, पर महत्वपूर्ण लगीं, उन्हें हम टटोलते रहे। इस अनूठी शिक्षा में से जो कुछ हमने पाया, वही फ़िल्मों के रूप में प्रस्तुत हुआ।

परन्तु ऐसी कई बातें हैं जो हम फ़िल्मों में नहीं कह पाए। कई बातें ऐसी थीं जिनके बारे में हमें लगा कि वे सबके लिए जानी-पहचानी हैं या आज लगता है कि उन्हें आपके साथ बांटना चाहिए। ये पुस्तिकाएं इनमें से कुछ चीज़ों को छूती हैं।

फ़िल्म की पहली कड़ी में मैत्रेयी कहती है कि हम दुनिया बदलने नहीं निकले हैं और न ही हम विज्ञान-इतिहास-समाज के विशेषज्ञ हैं हालांकि हम इसमें काफी गहरे में डूबे हुए हैं। परन्तु हमें लगता है कि विज्ञान-इतिहास-समाज की कड़ियां सबके लिए महत्व की हैं। इसलिए आप जहां कहीं भी हों, स्कूल-कालेज में, कारखानों-आफिसों में, करघे पर या चूल्हे के सामने या माइक के साथ मंच पर; यदि इन मुद्दों में आपकी दिलचस्पी बनी रहती है, तो हम मानेंगे कि हमारा और उन सारे ज़बर्दस्त लोगों का प्रयास सार्थक हुआ जिन्होंने इसमें अपना योगदान दिया।

जब हमने विज्ञान-इतिहास-समाज के इस तीनतरफा इलाके में प्रवेश किया, तो पाया कि यह तो ज्ञान का पूरा महाद्वीप ही है। प्राय: असंबद्ध, कभी-कभी धुंधला सा, कभी स्पष्ट; मत-मतान्तर समेत। इन सबको एक परिप्रेक्ष्य में जमाने में हमें काफी मेहनत करनी पड़ी। शुरुआत में कई बार अपने विचारों को एक ताने-बाने में बांधने में हम हार जाते थे। कई चीज़ें जो उस समय नई और अजनबी लगती थीं, आगे चलकर यही हमारे सोच की दिशा तय करने वाली थीं।

जब दिमाग में एक खाका बन जाता है, तो पहले की जानकारी और नई सीखी चीज़ों के बीच कड़ी जोड़ते जाते हैं। तब किसी शहर के साम्प्रदायिक दंगे की खबर या किसी नई टेक्नॉलॉजी का महत्व कोई अलग-थलग जानकारी नहीं रह जाती। हर चीज़ विज्ञान-इतिहास-समाज के ताने-बाने में जुड़ने लगती है। इसलिए, आज जब लोग बातें करते हैं एक मस्जिद को तोड़ने की क्योंकि उस जगह पर पहले एक मंदिर था, तो लगता है कि यदि हड़प्पा सभ्यता के कोई वंशज बाकी सारे लोगों को यहां से निकल जाने को कहें, तो? आखिर वे यह दावा तो कर ही सकते हैं कि इस भूखण्ड पर मात्र उनका अधिकार है।

जहां अतीत ने आश्वस्त किया, वहीं बेचैन भी किया। इन मुद्दों पर एक समूह के रूप में काम करते हुए हमने देखा कि जैसे-जैसे हमें जोड़ने वाली चीज़ें मज़बूत हुईं, वैसे-वैसे व्यक्तियों के रूप से हमारा सोच भी बनता रहा। हम कई बार एक-दूसरे से असहमत होते हैं, खासकर उन सवालों को लेकर, जिनके समाधान हमारी चर्चाओं में नहीं, समाज में हैं। पर यही तो वे मुद्दे हैं जिन्हें नज़र अन्दाज़ नहीं किया जा सकता।

यह जानना महत्वपूर्ण है कि शोधकर्ताओं ने जो पाया है, उससे मतभेद और तात्कालिक विवाद भी जुड़े हैं। हालांकि हम अपनी समस्याओं के समाधान के लिए शिक्षाविदों पर निर्भर नहीं रह सकते। यह हम पर निर्भर है - आप और हम पर - कि इन समस्याओं से किस तरह निपटें और रोज़मर्रा के जीवन में कैसा व्यवहार करें। हमें अपना रास्ता खुद खोजना होगा, हमारे अपने नज़रिए से देखकर वर्तमान घटनाक्रमों पर अतीत के प्रकाश में, विवेचनापूर्ण रवैया अपनाते हुए, हम कैसा भविष्य चाहते हैं यह सोचते-समझते हुए।

फ़िल्मों में हमारे और आपके बीच संवाद के माध्यम हमारे सूत्रधार और रिपोर्टर मैत्रेयी, निस्सिम, शहनाज़, अमृता, रंजन, रामनाथन और रघु बने हैं। ये पात्र धीरे-धीरे अपनी एक पहचान बनाते गए। यह पहचान जितनी स्क्रिप्ट लेखक ने गढ़ी उतनी ही उस कलाकार का भी योगदान रही। तो, इन पुस्तिकाओं में यही पात्र बातें कर रहे हैं। हमारे विचारों को अपनी पहचान के साथ अभिव्यक्ति दे रहे हैं।

यह पुस्तक हमारी खोजों के निर्णायक हल के बारे में नही है, नही ऐसी विशेषज्ञ खोजों के बारे में, जिसे कि अंतिम सत्य कहा जा सके, बल्कि यह उन विचारों के बारे में है, जो हमे उत्प्रेरित करते हैं, उन अनुभवों के बारे में है, जो हमने पाए हैं, उन सवलों के बारे में है, जिन्हें हम महत्वपूर्ण समझ पाए हैं, एकमत से और व्यक्तिगत रूप से भी। और यही है वह, जो हम बांटना चाहते हैं।

कॉमेट प्रॉजेक्ट टीम

इस कड़ी में हमारा परिचय होता है कहानी के सूत्रधारों और रिपोर्टरों से, जो शुरूआती अध्ययन में लगे हैं। रिपोर्टरों द्वारा गाए गए एक यात्रा-गीत के साथ हम कन्हेरी की गुफाओं, जयपुर के जन्तर-मन्तर, और एक आधुनिक निर्माण स्थल की सैर करते हैं।

अतीत को जानने के तरीकों की रूपरेखा बताई जाती है और ठोस सबूतों का महत्व रेखांकित किया जाता है। प्रो. बी. बी. लाल ने 'रामायण' और 'महाभारत' में उल्लेखित स्थलों पर खुदाई की है। उनके साथ एक मुलाकात के ज़रिये इतिहास और महाकाव्यों के बीच के अन्तर को उभारा जाता है। फिर हम डेक्कन कालेज, पुणे, द्वारा इनामगांव में की गई खुदाई पर नज़र डालते हैं जहां प्राचीन मकानों की नींवें मिली हैं और 3000 साल पहले सूखा पड़ने के संकेत भी मिलते हैं।

कार्बन डेटिंग से कार्बनिक अवशेषों की उम्र का पता किस तरह लगता है,यह हम ऐनिमेशन के माध्यम से समझते हैं। हम यह भी देखते हैं कि भौतिक अनुसंधान प्रयोगशाला, अहमदाबाद, में यह काम कैसे किया जाता है।

सूत्रधारों और रिपोर्टरों की चर्चाओं से हमें आगे की कड़ियों की कुछ झलक मिलती है।

पहली कड़ी इस पूरी श्रृंखला का ऐतिहासिक दायरा, सामाजिक सरोकार और स्वरूप निर्धारित कर देती है।

विज्ञान आखिर क्या है?
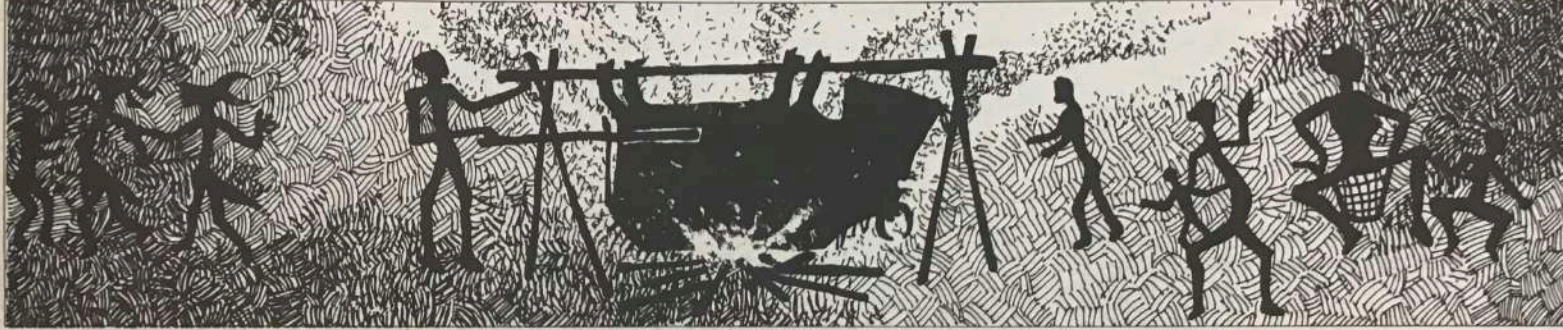
जब मानव ने पहली बार आग का इस्तेमाल किया और उसे जलाना सीखा, तब प्रागैतिहासिक दौर में यह विज्ञान की दिशा में बहुत बड़ा कदम था

भीमबैठका की पाषाण-युगीन शैल चित्रों पर आधारित रेखाचित्र

ज्ञान क्या है?’ फ़िल्म बनाते हुए यह सवाल लगातार नए नए रूपों में हमारे सामने आता रहा और हम उसका एक बहुआयामी उत्तर पाते गए, पर शुरू में तो इसको लेकर बहुत उलझनों में फंसे। याद आ रही है एक घटना। जब इस काम से मैं जुड़ा ही था तब मैं अपनी एक सहेली के साथ, जो विज्ञान की टीचर है, उसकी कक्षा में गया था। हम दोनों ही नए नए थे, फिर फ़िल्म के लिए कुछ पढ़ना शुरू ही किया था। मित्रा भी नई नई ही पढ़ाने लगी थी। शुरू का जोश था उसमें भी। नए नए तजुर्बे करने का उत्साह था हममें।

क्लास की शुरुआत हमने की एक मूलभूत सवाल से, ‘विज्ञान क्या है?’ सब ओर शांति छा गई। फिर एक स्मार्ट सा लड़का उठा ‘मिस, यह क्या हमारे कोर्स में है?’ सब को मानो एक बहाना मिल गया। पूरी कक्षा से एक समान मत उभर रहा था ‘पहले की परीक्षा में तो ऐसे सवाल नहीं हैं’ हम दोनों हताश। मुझे तो मित्रा को इसमें घसीटने का दुख होने लगा। पर मित्रा को तो शिक्षिका बनना था उसने एकदम टीचरी अदा में आराम से बैठकर कहा, ‘शोर नहीं । शायद यह सवाल ठीक नहीं है। चलो हम आज प्रागैतिहासिक विज्ञान के बारे में पढ़ेंगें। रंजन ‘भारत की छाप’ नाम की फ़िल्म बना रहा है.......’

मित्रा बोले जा रही थी। मेरी उपस्थिति का सबब बता रही थी और कहीं वापस हमारे मुद्दे पर बात लाने की कोशिश में थी। कक्षा में अब तैयारी थी। नोट्स लेने की। आखिर अब कुछ पढ़ने-पढ़ाने की बात जो शुरू हुई थी। ‘लेकिन उस ज़माने में तो आज की तरह विज्ञान था नहीं। पर तब क्या था यह समझने के लिए हमें यह समझना होगा आज हम विज्ञान किसे कहते हैं। रंजन ने जो पुरातत्व के स्थान देखे हैं और तब के विज्ञान के बारे में जो पढ़ा है उसके बारे में बताएगा।’

मैं शुरू हो गया। ‘आज हम जिसे विज्ञान कहते हैं वह वास्तव में प्रकृति को समझने का खण्डित नज़रिया है’। ‘मुझे परेशान करने के लिए, या विज्ञान की टर्र-टर्र बंद करवाने के लिए, या फिर कक्षा में अपना रौब जमाने के लिए, पता नहीं किसलिए, पर फिर एक कोई खड़ा हो गया।

‘मिस, आज मैंने बस में दो लोगो की बातचीत सुनी थी। एक आदमी कह रहा था कि इस बस में घुसना और बैठने की जगह पाना, यह भी अपने आपमें एक विज्ञान ही है। कितनी सारी दिक्कतों का ध्यान रखकर, एक खास तरीके से ही इस भीड़-भाड़ वाली बस में चढ़ा जा सकता है। साथ वाले लोग कहां से धक्का लगा रहे हैं, कैसे खींच रहे हैं और हमें कहां, किस कोण से धक्का लगाना है, इस सबकी गणना करने के बाद ही उस संकरे दरवाज़े से अंदर घुस सकते हैं। फिर वह विज्ञान नहीं तो क्या है?’ क्लास में एक हंसी की लहर के साथ मानो जान आ गई। ऐसे ही कई उदाहरण देने को सब तैयार थे। Notes लेनेवाली शांत क्लास का यह कायापलट कैसे और क्यों हो गया यह हमारी समझ के बाहर था।

हम लोग फिर असमंजस में एक तरफ तो क्लास में जोश पैदा हो गया था पर हम हमारी विषयवस्तु से तो मानो बहुत भटक गये थे। हमने फिर अपने टीचर होने का रौब जताया और मैंने यहां वहां भटके बगैर ठोस जानकारी देना शुरू कर दिया प्रागैतिहास के बारे में।

क्लास तो खत्म हो गई पर उन बच्चों के उत्तरों ने हमें मानो सोचने पर मजबूर कर दिया।

दरअसल इस सबमें जुड़ने से पहले मैं भी तो विज्ञान को केवल उसके अलग-अलग विषयों के रूप से ही जानता था। अंकों से जुड़ा हुआ विज्ञान यानि गणित, पदार्थों से जुड़ा हुआ पदार्थ विज्ञान, पदार्थ अंकों जैसे डरावने नहीं होते इसलिए कुछ ज्यादा अपने से। फिर पदार्थों के रासायनिक गुणों का विज्ञान याने रसायनशास्त्र और इन सभी पर आधारित और इन सबका उपयोग करता हुआ जीव विज्ञान। प्राकृतिक विज्ञान की पदवी से विभूषित ये सारे। फिर समाज की व्याख्या, प्रतिव्याख्या, हलचल का विज्ञान सामाजिक विज्ञान और इन सभी विज्ञानों का सरताज दर्शनशास्त्र। आज तो ये विभाजन और भी सूक्ष्म होते चले जा रहे हैं और इन सबका ज्ञान, उनकी भाषा, उनके विभाजन की बारीकियां समझना भी कुछ ही लोगों के बस की बात बची है।

हमने इस सबसे कुछ अलग हट कर प्रयास करने की कोशिश की थी। क्लास में वह विज्ञान को समग्रता से समझने और उसी रूप में सिखाने का एक प्रयास था। पर बच्चों के हंसी मजाक में किए गए सवालों ने हमें कुछ बौखला दिया। अगर हम विज्ञान के निर्धारित ढांचे और उसकी भाषा को ले कर न चलें, तो हालत यह हो जाती है कि हमारे पास होने वाली हर घटना विज्ञान ही लगने लगती है। हर एक में विज्ञान का कोई न कोई सिद्धांत तो ज़रूर होगा जिसके आधार पर हम चेतन या अचेतन उस घटना से जुड़ते हैं, उसमें शरीक होते हैं। पर फिर विज्ञान क्या है?

आज यह सब सोचने पर ऐसा लगता है कि क्या हम एक स्थायी सी परिभाषा में विज्ञान को बांध पाएंगे? क्या एक ही व्याख्या के तहत उसको ढाल पाएंगे? सदियों पहले हो रही घटनाओं को और तब के 'विज्ञान' को समझने के लिये हमें कुछ फर्क तो करना ही पड़ेगा। आज विज्ञान किसे मानते हैं वह निर्भर है हमारे आज के यथार्थ, आज के अनुभव, आज के ज्ञान और आज के दृष्टिकोण पर। इतिहास को समझने में शाखाओं में विभाजित विज्ञान की यह समझ काम नहीं आएगी, उसे छोड़ना होगा।

आज पीछे मुड़कर देखते हैं, तो लगता है कि तेरह कड़ियों की इस फ़िल्म शृंखला में हमने बहुत कुछ सीखा था। विज्ञान उसके अलग-अलग विषयों में बंधा हुआ नहीं है। विज्ञान तो समूचे जीवन की तलाश है। जीने के तरीकों और सोच की खोज और समझ है। इस शृंखला के साथ यह यात्रा खत्म नहीं हो जाएगी। विज्ञान का एक परिपूर्ण नज़रिया विकसित करने के लिए, उसकी उपलब्धियों और सीमाओं, दोनों को अपनाने के लिए, मुझे लगता है कि, प्रागैतिहास से वर्तमान तक की यह यात्रा और हर पायदान पर तब का जीवन और विज्ञान समझने की कोशिश और तैयारी — यही हमारी आगे की यात्रा की नींव बनेगी। यही हमें 'विज्ञान' का सही अहसास कराने में सहायक होगी।

लगा कि हर भूखण्ड ने पिछले लाखों-करोड़ों सालों में अपने स्थान बदले हैं। या शायद सारे महाद्वीप कभी स्थिर नहीं रहे। पिछले करोड़ों सालों में महाद्वीप लगातार खिसकते रहे हैं, अलबत्ता धीमी रफ्तार से। इन अजीबोगरीब घटनाओं की व्याख्या करने के लिए वैज्ञानिक आज-कल इसी सिद्धांत का सहारा लेते हैं।

कुछ अवलोकन करना, उनके आधार पर सिद्धान्त प्रतिपादित करना और फिर इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए और अवलोकन करना, और जानकारी खोजना, यह आज के विज्ञान का जाना माना तरीका है। तो इसी के अनुरूप यह सिद्धान्त सामने रखा गया कि महाद्वीपों की जो स्थितियां आज हम देखते हैं, वे हमेशा से ऐसी ही नहीं रही हैं। सारे महाद्वीप अलग-अलग टुकड़ों में अलग-अलग दिशाओं में, अलग-अलग गति से बह रहे हैं।

राजा मोहन्ती, अर्थ बिफोर लाइफ बिगेन, यूरोपा वर्लाग, 1973 पर आधारित

महाद्वीपों के बहाव के इस सिद्धान्त के अनुसार करीब 20 करोड़ साल पहले ये सारे महाद्वीप मिलकर एक बड़ा महाद्वीप था। उस बड़े महाद्वीप को पैनजिआ कहा गया। इससे पहले की स्थिति को लेकर ज्यादा स्पष्टता नहीं है। पर तब शायद कुछ भूखण्ड अलग-अलग टुकड़ों में बिखरे हुए थे। करीब 20 करोड़ साल पहले ये सारे टुकड़े शायद पैनजिआ के रूप में जुड़ गए होंगे। इसके कुछ करोड़ साल बाद पैनजिआ दो टुकड़ों में बंट गया और ये टुकड़े एक-दूसरे से दूर बहते गए। इनके नाम हैं गोंडवानालैण्ड और लॉरेशिया। इनसे और टुकड़े छिटक कर टूटते रहे और बहते रहे और आज की स्थिति में पहुंचे हैं। इनमें से अधिकांश टुकड़े सालाना करीब 1 इंच खिसके होंगे परन्तु कुछ टुकड़े (जैसे आज का भारत का टुकड़ा) कम से कम 2 इंच बहे होंगे जैसा कि चित्र से स्पष्ट है, किसी ज़माने में भारत वाला टुकड़ा दक्षिण ध्रुव के पास होता था। वहां से बहता हुआ यहां तक आया और एशिया के खंड से जा टकराया। जहां यह भिड़न्त हुई, वहां हिमालय पर्वतमाला उभर आई। यानि हिमालय पर्वतमाला दो भूखण्डों की टकराहट का नतीजा है।

इस सिद्धान्त के मुताबिक आज भी यह बहाव ज़ारी है। उपलब्ध जानकारी के आधार पर वैज्ञानिक यह अनुमान लगाने की कोशिश कर रहे हैं कि अगले करोड़ों सालों में स्थिति कैसी होगी। कुछ लोगों का अनुमान है कि अगले कुछ करोड़ सालों में शायद ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप एशिया के साथ जुड़ जाएगा और अमरीका का पश्चिमी तट
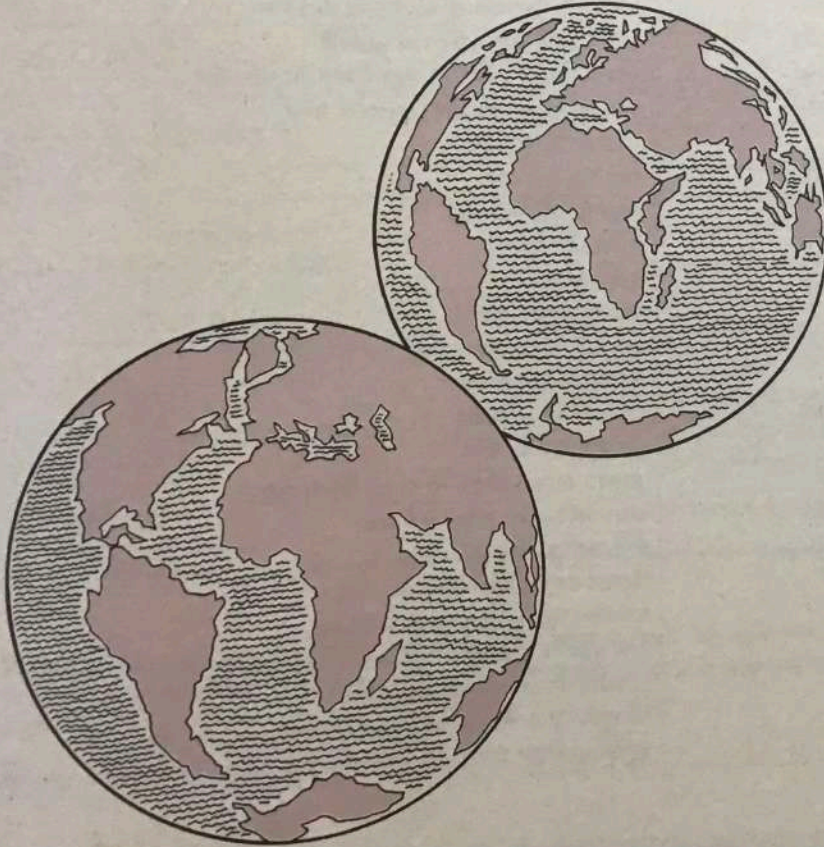
विकास के क्रम और बदलाव की गति

भौमिकीय काल, कालावधि, युग	पुरातत्वीय युग	वर्तमानसे लाखों वर्ष पूर्व	पृथ्वी पर जीवन
प्रीकेम्ब्रियन काल		45,000	पृथ्वी का निर्माण
		40,000	आद्य समुद्र का निर्माण
			भूपृष्ठ का निर्माण
		32,000	जीव का प्रथम स्वरुप समुद्र में प्राप्त एक-कोशीय बैक्टेरिया और काई
			बडी तादाद में पर्वतो का निर्माण
		10,000	आदि कालीन जिवोंमें विशेष कार्यक्षमतावाले कोशों का निर्माण
पैलियोज़ोइक काल		6,000	सबसे पहले कवचवाले बहु-कोशीय रीढ़ रहित जीव
		4,800	पहले रीढ़वाले प्राणी, जबडे रहित मछलियां
		4,350	भूमि पर पाए गए प्रथम पौधे। समुद्र में सांस लेने वाले जीव
		4,050	प्रथम जलस्थलचर और कीड़े। दलदल के जंगल,
			सर्व प्रथम बीजधारी पौधे
मेसोज़ोइक काल		3,500	प्रथम रेंगने वाले प्राणी
			शंकुधारी या कोनीफरस वृक्ष
		2,700	पैनजिआ का निर्माण
		2,250	प्रथम डाइनोसॉर
			समुद्र के स्तनधारी प्राणी
		1,800	प्रथम पक्षी,भूमि पर छोटे स्तनधारी प्राणी
			पैनजिआ विभाजन का आरंभ
सेनोज़ोइक काल		1,300	डाइनोसॉर युग की समाप्ति
			फूल वाले सर्वप्रथम पौधे
		700	आधुनिक स्तनधारी प्राणियों का फैलाव, आदिम नरवानर
		600	दक्षिण अमेरीका का अफ्रीका से विभाजन
		350	प्रथम वानरों का अस्तित्व
		250	गोंडवाना उपमहाद्वीप का एशिया में समावेश
			फलस्वरूप हिमालय पर्वत श्रृंखला का निर्माण
		45	मानव पूर्वज "होमो हैबिलिस" द्वारा बनाया गया अफ्रीका में प्राप्त सबसे पुराना औज़ार
सेनोजोईक काल का क्वाटनरी कालावधि		20	शीतकाल और उष्णकाल का सतत आवर्तन
	लोअर पैलियोलिथिक	18	मानवपूर्वज "होमो इरेक्टस" का अफ्रीका और एशिया में दिखाई देना
		14	भारतीय उपमहाद्वीप में पाया गया सबसे पुराना पत्थर औज़ार, "होमो इरेक्टस" द्वारा निर्मित

भौमिकीय काल, कालावधि, युग	पुरातत्वीय युग	वर्तमान से हज़ारों वर्ष पूर्व		पृथ्वी पर जीवन.
	मिडिल पैलियोलिथिक	800		पूर्ण विश्व के उष्ण और शीतोष्ण कटिबन्ध में "होमो इरेक्टस" का बसना
		700		भारत में पाए गए "होमो इरेक्टस" प्राचीनतम अवशेष नर्मदा घाटी में प्राप्त
	अपर पैलियोलिथिक	100		युरोप और अफ्रिका में "होमो सेपियन्स" की टोलियां
		70		सुक्ष्म औज़ारों का बनना
		60		पश्चिम एशिया में प्राप्त कब्रों। मृत्यु पश्चात जीवन की तत्कालीन कल्पना का संकेत
		40	अंतिम शीत युग	प्राचीनतम शैल चित्र भारत और यूरोप में
		35		औज़ारों में क्रमशः सुधार
		28		मानव ऑस्ट्रेलिया में बसे
		25		प्राचीनतम अभिलेख– यूरोप में प्राप्त हड्डी पर खोदी हुई चन्द्र कलाएं
		20		भारतीय उपमहाद्वीप में उष्णकाल का प्रारंभ
	मिसोलिथिक			उत्तर और दक्षिण अमरीकी उपमहाद्वीपों में मानव बसे
				मानव व जानवरों की प्रतिमाओं से प्रकृति की भक्ति के संकेत
				खानाबदोश मानव समूह भारत भर में पनपे
क्वाटनरी कालावधि का होलोसीन युग	विभिन्न वातावरणों में जैसे मानव का विकास हुआ, प्राचीन पाषाण युग की तकनीकें और अर्थव्यवस्था कुछ स्थानों पर बनी रही, जबकि अन्य स्थानों पर खेती की जीवन पद्धतियां अपनाई गई।	11		जेरिको पहली बसी हुई स्थाई बस्ती
				जानवरों को पालतू बनाना
				पश्चिम एशिया में गेहूं और जौ की खेती
				पश्चिम एशिया में गांवों का बसना आम हो गया
				मिट्टी के प्राचीनतम बर्तन
				टोकरियां बनाने की कला के प्राचीनतम प्रमाण
		10		मेहरगढ़ भारतीय उपमहाद्वीप का प्राचीनतम स्थान जहां कृषि और स्थाई ग्रामीण जीवन के प्रमाण पाए गए
		9		यूरोप में कृषि विस्तार। पश्चिम एशिया में करधे के संकेत
		7		तांबे के प्रचलन से धातु युग का प्रारम्भ

डॉ. पी. अग्रवाल की सलाह से

पृथ्वी पर प्रारंभिक दौर से जीवन के विकास का सिलसिलेवार ब्यौरा। इसी के साथ हो रहे मानव के विकास को दर्शाया गया है। इसमें कोशिश की गयी है कि अत्यन्त लम्बे भौमिकीय और मानव इतिहास के छोटे पुरातत्वीय युग के बीच का रिश्ता दर्शाया जाए। इसमें जो युग दर्शाए गए हैं, उनकी तारीख नई खोजों के साथ-साथ अक्सर बदलती रहती है। हमारा उद्देश्य किसी विशेष तारीख से नहीं, विकास के क्रम और बदलाव की गति से है।

अजित मेहता, टेम्स ऐंड हडसन
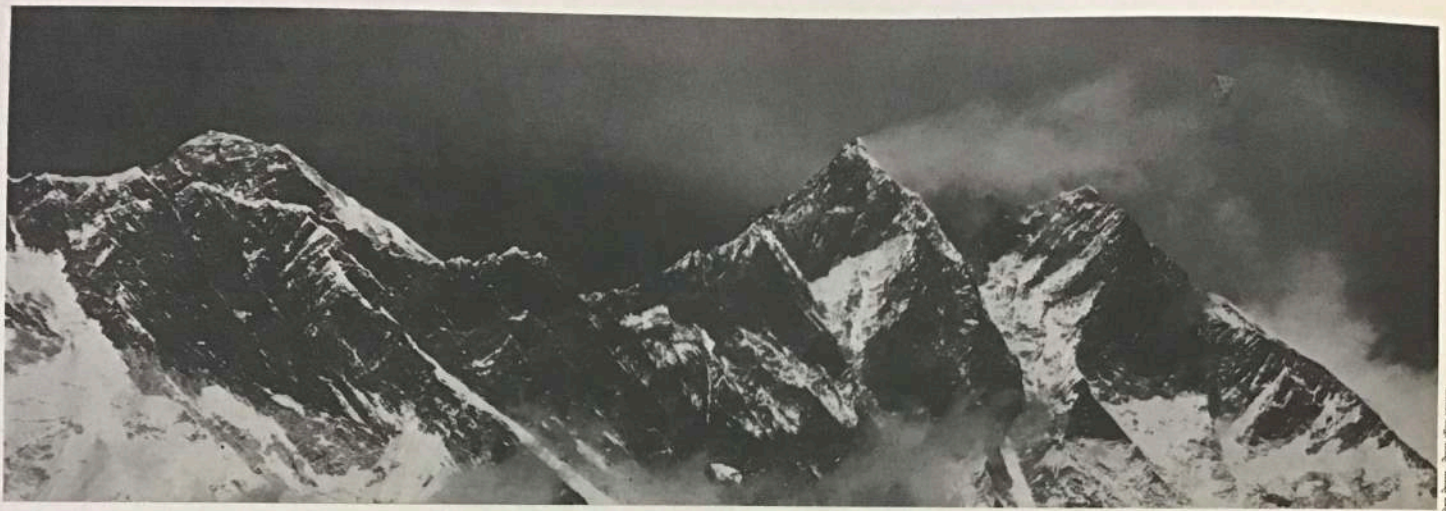
भारतीय उपमहाद्वीप की 'प्लेट' और एशियाई महाद्वीप की 'प्लेट' के टकराव से हिमालय पर्वतमाला उभरी

अलग होकर उत्तर की तरफ बह जाएगा। यह भी हो सकता है कि अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका एक-दूसरे से और दूर हो जाएं और बीच का अटलांटिक महासागर बड़ा कर दें। ये सारे अनुमान लगाने के लिए और उनकी एक सही समझ के लिए इस बहाव का कारण समझना बहुत ज़रूरी है। बहाव के कारण समझने के बाद ही हम सदियों पुरानी स्थिति का अंदाज़ा कर पाएंगे और आनेवाले समय के बारे में कुछ अनुमान लगा पाएंगे।

इन प्रश्नों के जवाब देने के प्रयास भी अटकलों और अनुमानों की शक्ल में ही हैं। इस संबंध में यानि बहाव की वजह के बारे में अब तक कोई ठोस सबूत नहीं मिले हैं। मसलन, एक अनुमान का आधार यह है कि पृथ्वी की अंदरूनी सतह पूरी तरह ठोस नहीं है। एक स्तर, जो लिथोस्फीयर कहलाता है और जो चन्द किलोमीटर गहरा है, के नीचे पिघली हुई चट्टानें हैं। इनका तापमान भी काफ़ी ज़्यादा है। इस पिघले हुए पदार्थ की हलचल की वजह से पृथ्वी की सतह के नीचे संवहन धाराएं बनती हैं। ये धाराएं महाद्वीपों के भूखण्डों को यहां-वहां बहाती रहती हैं, घुमाती रहती हैं और जोड़-तोड़ देती हैं।

आज इस विचार में काफ़ी बदलाव आ चुका है। आजकल ऐसा माना जाता है कि लिथोस्फीयर की लगभग 100-100 कि.मी. मोटी पट्टियां (प्लेटें) गतिमान होती हैं। इन प्लेटों में महाद्वीप तथा महासागर दोनों को शामिल किया गया है। इस तरह से पृथ्वी की पूरी सतह को प्लेटों में बांट दिया गया है। प्लेट कम्पनहीन क्षेत्र होते हैं। दो प्लेटें आपस में चलायमान पट्टियों द्वारा जुड़ी रहती हैं। ये चलायमान पट्टियां भूकम्प और ज्वाला मुखी की हरकत से पहचानी जाती हैं। इन्हीं प्लेटों की हलचल के कारण महाद्वीपों का बहाव होता है। परन्तु अभी भी यह स्पष्ट नहीं है कि ये प्लेटें हिलती-डुलती क्यों है और इतने विशाल भूखण्डों या विपुल जलराशि को चलाने की ताकत कहां से आती है।

किन्तु इन अनुमानित, वैज्ञानिक तथ्यों को यहां बताने का क्या आशय है? पहली बात तो यह है कि विज्ञान की इस खोज और अध्ययन के आधार पर हम इतने प्राचीन अतीत और इतने दूर के भविष्य की बात कर रहे हैं जब इस पृथ्वी पर मनुष्य रूपी जीव न तो था और न शायद रहेगा। आज दिखाई पड़ने वाले जीव शायद तब कतई न देखे गए हों। ऐसे अतीत और भविष्य की बातों की ओर हमारा वर्तमान इंगित कर रहा है। हम इस अतीत से बहुत दूर हैं परन्तु हमारा वर्तमान, हमारा अस्तित्व उसी अतीत से अंतरंग रूप से जुड़ा है।

दूसरी बात। आज हम इस तरह की ढेरों बातें कर रहे हैं कि यह हमारा विज्ञान, उनका विज्ञान, हमारा इतिहास, पूरब-पश्चिम की अलग-अलग संस्कृतियां, हम बनाम वे, वगैरह, परन्तु वर्तमान हम और वे शायद कभी बिलकुल अलग तरह से जुड़े थे। हमें हमेशा यह ध्यान में रखना होगा कि महाद्वीप, राष्ट्र, देश, क्षेत्र, वगैरह के नामकरण हमारे अपने किए हुए हैं। हमारा भूगोल तक कोई स्थिर, अटल, जड़ वस्तु नहीं है। और न ही हम हैं। हर चीज़ में बदलाव होता रहता है। हमें अपने अस्तित्व के इस पहलू को मद्देनज़र रखना होगा।

जैवविकास की पहचान
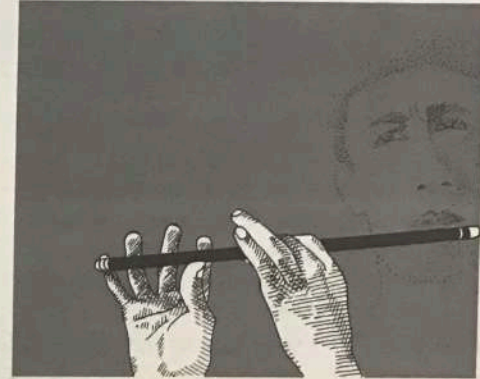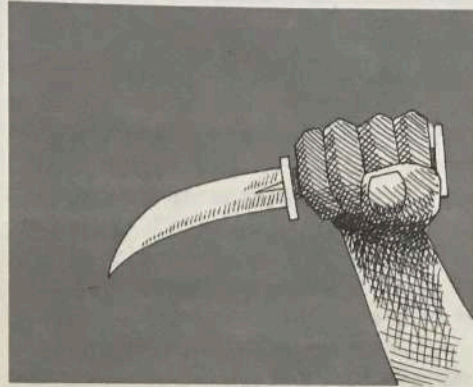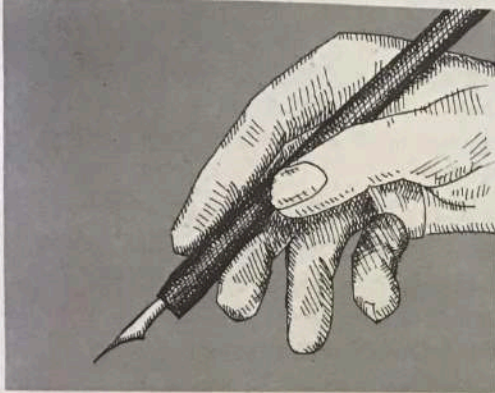
केवल मनुष्य ही अपने अंगूठे को पहली अंगुली के सामने ला सकते हैं। इसी कारण बारीकी से पकड़ने की क्षमता सिर्फ़ मनुष्य में ही है

मुझे पता चला कि विज्ञान के इतिहास पर एक फ़िल्म बन रही है। मेरे मन में इस तरह की तलाश का जज़्बा पहले से मौजूद था। इसलिए मैं पहले दिन से इसमें डूब गई। जैसे-जैसे मैं इसमें जुड़ती गई, वैसे-वैसे नाना प्रकार के प्रश्न दिमाग में उठते रहे।

ये प्रश्न वैसे तो मेरे दिमाग में तब से थे, जब मैंने स्कूल में विज्ञान और इतिहास पढ़ा था। परन्तु बाद में मैंने साहित्य का विषय चुन लिया, जिसका इन प्रश्नों से कुछ लेना-देना न था। उस समय मन में एक महत्वपूर्ण प्रश्न था विकास का, जैविक विकास का। विकास हम ऐसे परिवर्तन को कहते हों जो धीरे-धीरे हो। मैं हमेशा से प्रकृति के साथ एक घनिष्ठता महसूस करती रही हूं और इस तथ्य ने मुझे हमेशा ही आंदोलित किया है कि मैं होमो सेपियन्स याने सबसे विकसित जीव हूं। परन्तु मुझे लगता था कि हमारे सर्वश्रेष्ठ होने की वजह यह है कि हम प्रकृति को अपनी भलाई के मुताबिक बदल लेते हैं। जब कभी इन्सान की उपलब्धियों पर शंका होने लगती तो मैं आण्विक ऊर्जा में शीतलन के लिए बड़े-बड़े पाइपों, बिजली, रेल के इंजन, और न जाने क्या-क्या याद कर डालती। पता नहीं क्यों पर मुझे लगता था कि औरत होने के नाते मैं उतनी 'सर्वश्रेष्ठ' नहीं हूं। यही बात दलितों और अश्वेतों के लिए भी लगती। साहित्य के मार्फत यह भेदभाव मेरे जीवन का अंग था। परन्तु फिर कौन वह 'सर्वश्रेष्ठ' जीव है? विकास क्या होता है? मैंने अपनी एक मानववैज्ञानिक सहेली के घर पर अफ्रीका के वन्य जीवन की एक किताब देखी थी। उसमें बन्दरों के बहुत सारे चित्र थे। उन्हें देखकर मुझे लगा था कि उनमें कितनी विविधता है और कितने मानव सदृश लक्षण हैं। शायद इसीलिए हममें भी इतने भेदभाव हैं क्योंकि बन्दर ही तो हमारे सबसे ज्यादा नज़दीक हैं! किन्तु तब मेरी उसी सहेली ने मुझे प्राइमेट और बन्दरों में अन्तर समझाया था।

हालांकि उसकी अधिकांश बातें मेरे सिर के ऊपर से निकल गईं थी परन्तु कुछ बातें मुझे कुरेदती रहीं। जो बात मुझे सबसे ज्यादा ध्यान रही, वह थी इस नज़रिये की संकीर्णता, पूरे रवैये में ऊंच-नीच का भाव और घोर मानव केन्द्रित मापदण्ड। परन्तु उस वक्त मैं चुप रही क्योंकि मैं ऐसे बेहूदे सवाल पूछकर उसको टोकना नहीं चाहती थी। उसका प्रवचन चलता रहा।

"किसी प्रजाति को परिभाषित करने और अलग-अलग प्रजातियों के बीच समान प्रवृत्तियां ढूंढने और प्रजातियों की उत्पत्ति समझने के लिए वर्गीकरण एक ज़रूरी औज़ार है। वर्गीकरण शुरू होता है जन्तु जगत और वनस्पति जगत से। इसके बाद कदम-दर-कदम विकास के बढ़ते क्रम में प्रजातियों की समानताएं और अन्तर पहचाने जाते हैं। इस तरह से श्रेणी, उपश्रेणी, कुल, इत्यादि का विभाजन होता चलता है। और इस पूरे वर्गीकरण में हम है होमो सेपियन्स, जिनकी पहचान है दो पैरों पर चलना, दिमाग की साइज़, भुजाओं का तालमेल, कुल्हे की चौड़ी हड्डी और हमारे सोचने की ताकत। स्तन धारियों के 7 करोड़ साल के इतिहास में से हम आज से करीब 10 लाख साल पहले विकसित हुए हैं।"

मैं थोड़ी नर्वस थी और मेरे दिमाग में सवाल गड्ड-मड्ड होने लगे थे। हम यह अध्ययन क्यों करें? इस अध्ययन का इतना क्या महत्व है? जब कि मैं इन्सानों में कोई खास बात नहीं देखती। सिवाय विनाश, युद्ध, हत्या, मौत के और कोई नई बात है नहीं, जिसके कारण उसे 'सर्वश्रेष्ठ जीव' का दर्जा दिया जाए। हर तरफ मनगढ़न्त

विविधताएं, मिथ्या भेदभाव, प्रकृति के साथ खिलवाड़ और उसके सह-अस्तित्व के संतुलन को बरबाद करना।

बहरहाल उस सहेली ने अपना व्याख्यान ज़ारी रखते हुए बताया कि "श्रेष्ठता की कई कसौटियां हैं। जैसे कि हमारे पास आक्रामक नाखून, सींग, डैने, आदि नहीं हैं और न ही रंग-परिवर्तन या ज़हरीले पदार्थ छोड़ना, कठोर ढाल, आदि जैसे बचाव के साधन। हम कुल मिलाकर एक शान्तिपूर्ण जीव हैं। परन्तु इन सबकी कमी हमने अन्य कई शारीरिक चीज़ों से पूरी कर ली है।

"जैसे दो पैरों पर चलने के कारण हमारे हाथ मुक्त हैं और काफी हरफनमौला हैं। हमारी उंगलियों और अंगूठे ने मिलकर हमें चीज़ों को पकड़ने, बदलने वगैरह का हुनर दे दिया है। फिर दो टांग पर चलने के कारण हमारी गतियां काफी चुस्त-दुरुस्त हैं परन्तु इसके लिए ज्यादा तालमेल लगता है। इसके लिए दिमाग की साईज़ बड़ी है। फिर आंखों की रोशनी भी तेज़ है। यह भी बड़े दिमाग की मांग करती है।

"इन सब कारणों से इन्सान के दिमाग की साइज़ बड़ी हुई। पर एक बार दिमाग बड़ा हो गया तो वह इतने पर ही नहीं रुका। सोचने की क्षमता इन्सान में आई। अपने अस्तित्व को समय के सापेक्ष समझने की क्षमता आई। भाषा बनी, संवाद बना। फिर बोलने का हुनर हमने अर्जित किया। ये सभी इन्सान के वे गुण हैं, जो उसे श्रेष्ठ बनाते हैं।"

यह सब सुनते हुए मेरा दिमाग और ही भटक रहा था। मुझे वह पेड़ दिख रहा था, जिस पर पक्षियों के घोंसले बने थे। रोज शाम-सुबह वहां चिड़िया चोंच लड़ाती थीं याने वार्तालाप होता था। यह बहुत ही सुन्दर दृश्य था। समय की पाबन्दी का अहसास, जाड़े में आने वाली चिड़िया का मौसम का अहसास। फिर मैं सोचने लगी कि ये गली के कुत्ते कैसे तय करते हैं किसी और गली का कुत्ता वहां न फटक सके। उन्हें अपनी गली से कितना लगाव होता है, कैसा सामूहिक प्रयास होता है अपने इलाके की रक्षा का। उनके इस लगाव, इस सामूहिक तालमेल की गतिविधि को देखकर मैं हमेशा चकित रह जाती हूं।

उस सहेली को मेरे भटकाव का अन्दाज़ नहीं था। वह बताए चली जा रही थी कि "सामाजिक जीवन सिर्फ इन्सानों में ही नहीं होता। सारे जानवरों में होता है। कुछ वैज्ञानिक इन आम प्रवृत्तियों का अध्ययन करते हैं। इसे सामाजिक-जीवविज्ञान कहा जाता है। परन्तु मुझे मानववैज्ञानिक होने के नाते इस पर भरोसा नहीं है। मुझे लगता है कि जब इन्सानों के एक समूह के लक्षण पूरी मानव जाति पर लागू नहीं किए जा सकते, तो किसी एकदम अलग प्रजाति का अध्ययन करके हम कैसे ऐसे सामान्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं? मैं तो इस विषय को थोड़ा ठोंक-बजाकर ही समझती हूं और तभी कर पाती हूं जब मैं तर्कसंगत सोच को ताक पर धर दूं।"

इस प्रकार की खुली आलोचना से मुझे अच्छा लगा परन्तु उसकी पहले वाले बात में मुझे अभी भी कुछ भ्रम था। मुझे और सुनने की इच्छा हुई। मैंने उसे बोलने दिया। मैंने कहीं पढ़ा था कि हर कोशिका में एक डी.एन.ए. होता है जो उस कोशिका के नियंत्रण की इकाई है। मैंने यह भी सुना था कि बन्दर और इन्सान के डी. एन. ए. में बहुत थोड़ा अन्तर है। क्या कहने का मतलब यह है कि इसी के कारण इन्सानों में वे सारे लक्षण दिखाई पड़ते हैं?

"इसका उत्तर हां भी है और नहीं भी। एक बात तो सही है कि हर कोशिका में डी.एन.ए. है। परन्तु उससे भी दिलचस्प बात यह है कि सारे अलग-अलग जीवों के डी.एन.ए. कुल मिलाकर उन्हीं चार क्षारों और 20 अम्लों से मिलकर बनते हैं। तो जीवन के मूलरूप में हम सब जीव एक ही बुनियाद पर टिके हैं। परन्तु इसके अलावा दूसरे और भी कई कारक पहचाने गए हैं जिनकी वजह से विकास हुआ। एक तो है प्रजनन क्षमता और दूसरी है प्राकृतिक चुनाव, जिसके कई समर्थक भी हैं और आलोचक भी। और इस प्राकृतिक चुनाव के द्वारा जो उपयुक्त जीव होते हैं, सर्वश्रेष्ठ होते हैं, वे जीते हैं, बाकी खत्म हो जाते हैं।"

मैं एक बार फिर अपनी ही उलझन में खो गई। साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन में मैंने पढ़ा था कि श्रेष्ठ साहित्य को परखने की कई कसौटियां होती हैं। यह भी कहीं विश्वास था कि साहित्य ही अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन है। पर इस प्रोजेक्ट में काम करते हुए लगने लगा कि यह विचार कितना संकीर्ण और खोखला है। मानव-इतिहास में साहित्य इतना लेट पनपा। तब तक क्या अभिव्यक्ति के तरीके नहीं थे? तो श्रेष्ठ गुण की क्या कसौटी है?

जो कुछ मेरी सहेली बता रही भी, वह लगभग इसी तरह की बात थी। सर्वश्रेष्ठ जीव होने की क्या कसौटी है? और यह उपयुक्तता की बात कौन तय करे? प्रकृति, जिसे इन्सानों ने समझकर अपने मुताबिक ढालने की कोशिश कर ली है? कुल मिलाकर एक मानव केन्द्रित संकीर्णता नज़र आई मुझे। आज इन्सानों ने, या इन्सानों के एक तबके ने, प्रकृति पर, उसकी प्रक्रिया पर काफी हद तक काबू पा लिया है। इन्सानी क्रियाकलापों से 'प्राकृतिक' चीज़ें तय होती हैं। तब चयन का अधिकार किसके हाथ में हैं और उसका क्या उपयोग होगा?

पाषाण युग
ईसा पूर्व 3500 वर्ष तक

अपने पुरखों के बारे में जानने का एक तरीका यह है कि हम मौजूदा आदिवासी समाज को देखें, जो पाषाण युग की तकनीकों का इस्तेमाल करते हैं। हमारे दो रिपोर्टर बस्तर के अन्दरूनी हिस्सों की यात्रा के दौरान देखते हैं कि आदिवासी औरतें कैसे जंगली आहार (वनोपज) इकट्ठा करती हैं।

हम पत्थर के औज़ारों पर भी नज़र डालते हैं। ये औज़ार जैव-विकास यात्रा में लाखों साल हमारे साथी रहे हैं। एक विशेषज्ञ पत्थर के औज़ार बनाकर दिखाते हैं कि किस तरह की कारीगरी उनमें छिपी है। भीमबैठका के शैल चित्र कला की तलब का इज़हार करते हैं और शायद शिकार पर जाने से पूर्व का अनुष्ठान भी हैं। एक चित्र फंतासी में तबदील हो जाता है जिसमें एक जानवर का शिकार करके उसे आग पर भूना जाता है। हम देखते हैं कि आग पैदा करना कितने मायनों में क्रांतिकारी खोज रही होगी।

कश्मीर के एक गांव में वाज़वान दावत की तैयारी और गुज्जर चरवाहों के खानाबदोश कबीलों से हमें मदद मिलती है यह समझने में कि जब इन्सान ने पशुओं को पालतू बनाया और वनस्पतियों को उगाना सीखा, तो उसके जीवन में कितना बड़ा बदलाव आया। बम्बई के नवरात्रि उत्सव को देखकर इस तथ्य का खुलासा होता है कि हमारे कई त्योहारों की जड़ें खेती में है, जिसकी खोज मात्र 7000 साल पहले हुई थी।

विज्ञान : सवाल पर सवाल

डॉ. शिन्दे को जब पत्थर तराशकर औज़ार बनाते हुए देखा तब सहसा ही कुछ विचार मन में आए। डॉ. शिन्दे को तो मालूम है कि किस कोण से, किस प्रकार के पत्थर पर कितनी ज़ोर से वार करने से मनचाहा आकार मिल जाएगा। सदियों पहले के औज़ारों को देखकर भी यह ज़रूर महसूस होता है कि तब भी लोग इसी तरह पूर्वनिश्चित रूप, आकार को ध्यान में रखकर ही शुरूआत करते थे। लेकिन कहीं कुछ फर्क भी था।

डॉ. शिन्दे के पास इतनी सदियों के ज्ञान का भंडार मौजूद है। इस भंडार में विभिन्न पत्थरों के विशेष गुणों के बारे में, उनके आकार के बारे में, उनके गुणधर्मों के बारे में जानकारी संचित थी। इस सारी जानकारी के आधार पर यह भी पता करने की कोशिश की गई है कि यह सब क्यों होता है। क्यों एक पत्थर एक तरीके से टूटता है? क्यों एक खास कटान के लिए एक खास किस्म की संरचना ही ज़रूरी होती है; इत्यादि। शायद कुछ वर्षों बाद इस ज्ञान में वृद्धि होने से डॉ. शिन्दे के कोई वारिस इस काम को और भी सहज रूप से कर लेंगे।

सवाल यह उठता है कि इसमें से विज्ञान क्या है? एक अमूर्त रूप में पदार्थ को समझे बगैर उसे एक खास तरीके से तराशना, क्या यह विज्ञान है? या फिर क्यों यह प्रक्रिया कारगर होती है,क्यों एक वार कारगर होता है और दूसरा नहीं, इसका उत्तर ढूंढ लेना विज्ञान है? या फिर अपने हाथों से एक पत्थर पर काम किए बगैर ही, पूर्वज्ञान के आधार पर, पत्थर की बनावट को देखकर, परखकर कारण सहित यह बता पाना कि इससे कैसा औज़ार बन पाएगा, यह विज्ञान है? हमें लगता है कि विज्ञान यह सभी है।

यदि हम कहें कि अपने आसपास के पर्यावरण को समझना ही विज्ञान का मुख्य ध्येय है, तो अनुचित नहीं होगा। बहरहाल, इस समझ के कई स्तर हैं। समझ के भी और उस समझ से जुड़े प्रश्नों के भी। कभी-कभी एक स्तर के प्रश्न और समझ, दूसरे स्तर के विचार के लिए आवश्यक होते हैं। कभी-कभी वे एक-दूसरे से स्वतंत्र रहकर ज्ञान के कोष को अलग-अलग दिशाओं में विकसित करने में सहायक
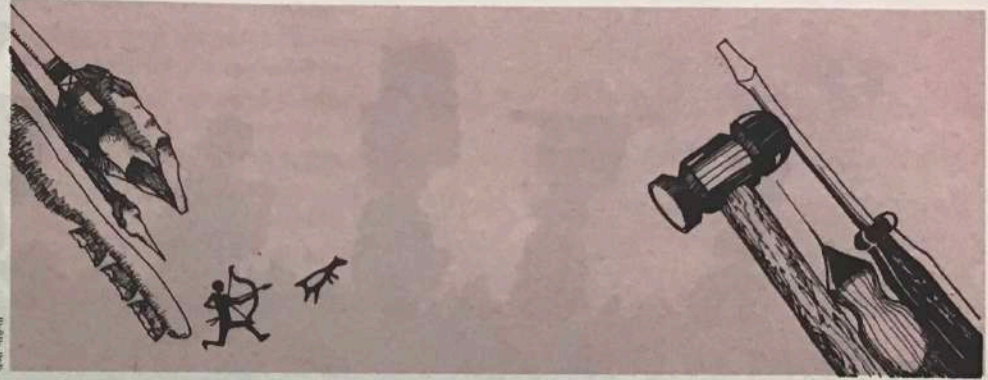
होते हैं। उपरोक्त उदाहरण को ही लें। बार-बार पत्थरों पर प्रयोग करके जानकारी इकट्ठी करना, यह एक स्तर है। इस जानकारी के आधार पर हम अगले स्तर पर पहुंचते हैं जहां इस सबका विश्लेषण करके एक नियम सा बनता है या एक प्रकार से इस जानकारी का उपयोग सामान्यीकरण में होता है। मसलन सारे पत्थरों के व्यवहार को देखकर तराशने के लिए पत्थर में विशेष गुणधर्मों का होना आवश्यक है, यह जानकारी निकालना एक अलग स्तर की बात है। यही काम करते हुए संभव है कि कुछ ऐसी जानकारी मिल जाए जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि कहीं की चट्टानें एक ही प्रकार की क्यों बनीं या अन्य कोई भौगोलिक लक्षण क्यों पैदा हुआ, वगैरह।

यहां तक तो ठीक है। दिक्कत तब होती है जब हम इन स्तरों को ऊंच-नीच का दर्ज़ा देने की कोशिश करते हैं तब जब हम यह वर्गीकरण करने की कोशिश करते हैं कि फलां किस्म के सवाल ज्यादा वैज्ञानिक हैं और फलां किस्म के कम। एक सवाल खड़ा होने पर आगे के सवालों का सिलसिला शुरू होना और हर प्रयत्न से उन सब के उत्तर ढूंढने की प्रक्रिया शुरू होना, यही विज्ञान है। फिर चाहे ये सवाल कुछ लोगों के लिए आसान और स्पष्ट ही क्यों न हो।

अपने आप के साथ यह प्रक्रिया शुरू कर पाना यह विज्ञान की तहज़ीब का हिस्सा है। और वैज्ञानिक बनने की दिशा में एक अनिवार्य कदम।

हमारे हर काम में, ज़िंदगी के हर पहलू में, हमारे द्वारा सीखे गए हर हुनर में, सभी में वे अनगिनत सवाल निहित हैं जिनके उत्तर खोजने की कोशिश औपचारिक विज्ञान के वैज्ञानिक करते रहते हैं। चाहे वह पानी के टब में तैरना हो, या पेड़ से गिरने वाला सेब हो, या केतली के ढक्कन को उठाकर बाहर निकलने वाली भाप ही हो, हम सबका इन चीज़ों से पाला पड़ा है। इन सबमें से उभरते सिद्धान्तों को हम सभी ने अनजाने में उपयोग भी किया है पर उन्हें एक विशेष ढांचे में डालकर अमूर्त और अवधारणा के स्तर तक ले जाना, एक विशेष दृष्टिकोण और एक स्तर तक की जानकारी उपलब्ध होने पर ही संभव हुआ। इसी तरह की और कई घटनाओं को देखकर कई सवाल हमारे मन में भी यदा-कदा उठे ही होंगे। उन्हें न दबाकर, उन पर और विचार करना, उन्हें और विकसित होने देना यह सब सीख पाना, यही विज्ञान को आत्मसात करना है।

शहनाज़

आदिवासी : अध्ययन का साधन?
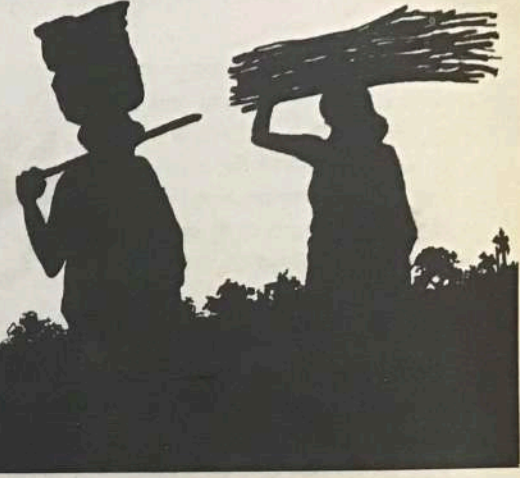
मैं घूम रही थी बस्तर की औरतों के साथ, याद आ रहे थे मुझे 'आदिवासी नहीं, वनवासी' के पोस्टर। कुछ लोग मानना नहीं चाहते कि ये पहले इंसानों से जुड़ी हुई संस्कृतियां हैं, इसलिए उन्हें आदिवासी न कहकर वनवासी कहना पसन्द करते हैं।

मैं तो उन्हें आदिवासी ही मानती हूं। मैंने कुछ पढ़ने की कोशिश भी की थी मानवशास्त्र की किताबों में। लेकिन मुझे उनके विचार कुछ अधूरे से लगे थे। सामाजिक अध्ययन में विकास का नज़रिया भी थोड़ा अटपटा सा लगता है मुझे। उनका मत यह है कि आदिवासी संस्कृति का महत्व यही है कि वे पिछड़ी हुई हैं। आदिवासी संस्कृतियों के अध्ययन का फायदा सिर्फ यह माना गया है कि उससे आज के समाज को समझने में मदद मिलती है। लेकिन मैं इस तरह के विचारों से अपने आपको जोड़ नहीं पाती हूं। आदिवासियों के आज के जीवन को इस नज़रिये से देखना मुझे नहीं सुहाता।

ये आदिवासी औरतें शहर से, दूसरी संस्कृतियों से लेनदेन करती हैं, और शहरी संस्कृति के शोषण की शिकार हैं, और उनके रहन-सहन पर भी इस शहरी संस्कृति का असर पड़ता है। लेकिन मेरा लक्ष्य इस असर का, इस बदलाव का अध्ययन करना नहीं है।

मुझे उनकी संस्कृति, उनकी संस्कृति की विशेषताओं का अध्ययन करना है। प्रागैतिहासिक काल के बारे में जानकारी पाने का यह एक और तरीका है। यह तरीका इस विश्वास पर टिका है कि इस तरह से वर्तमान आदिवासी संस्कृतियों के अध्ययन से हमें प्रागैतिहासिक काल की संस्कृतियों के बारे में जानकारी और समझ पाने में महत्वपूर्ण मदद मिल सकती है। इस तरह के अध्ययन को ethnoarchaeology कहते हैं।

मुझे लगता है कि संस्कृति एक बहुत उलझी हुई चीज़ है। रहन-सहन, कला, विज्ञान, मानवीय संबंध, शिक्षा, कानून, धर्म, आदि सभी को संस्कृति माना जाता है। भारत में ये आदिवासी संस्कृतियां पूरे देश में फैली हुई हैं और इस फैलाव में कोई तरतीब नहीं है। जैसे कि प्रान्तों का संगठन भाषा के आधार पर हुआ और एक संस्कृति कई प्रान्तों में बंट गई है। फिर भौगोलिक परिस्थितियों के मुताबिक रहन-सहन भी अलग-अलग है। जैसे कि गारो, आसाम पहाड़ियों की आदिवासी संस्कृतियां मातृसत्तात्मक (मातृवंशी) हैं परन्तु अब उस परम्परा के केवल खण्डहर ही बचे हैं। दूसरी तरफ महाराष्ट्र की लगभग सारी संस्कृतियां पितृसत्तात्मक हैं। भाषाएं अलग-अलग हैं। फिर उनका जीवन वर्तमान भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर है। जैसे कि जंगल कट जाने की वजह से वनस्पति और जीव-जन्तुओं में परिवर्तन आ चुके हैं। अब यह तो नामुमकिन है कि उनका जीवन प्राचीन परम्परा जैसा ही बना रहे।

बम्बई जैसे महानगर के नज़दीक के आदिवासी समूह को खाना-पीना खेती से मिलता है। पूरे साल भर की खेती की पैदावार से मात्र चार महीने का भरण-पोषण होता है। बाकी के आठ महिने तो वे शहरी संस्कृति से ही मिलकर जीते हैं। तो उनकी 'संस्कृति' का अध्ययन चार महीने में ही कर लेना होगा। ऐसा करना एक तरह से बेमानी होगा क्योंकि बाकी आठ महीनों के जीवन का असर तो इन चार महीनों पर भी पड़ेगा ही। ये चार महीने उनके जीवन का ही अंग है, कोई स्वतन्त्र हिस्सा तो है नहीं।

इस प्रकार के अध्ययन के असंभव होने के और भी कई कारण हैं। मसलन जब हम 'विकास' की बातें करते हैं तो कोशिश यही होती है कि इन आदिवासी जनसमूहों को शहरी 'विकसित' संस्कृति का हिस्सा बनाया जाए, चाहे इसमें उनकी जीवन पद्धति नष्ट होती रहे। हमारा रवैया यह है कि वे पिछड़े हैं, उनको सुधारना है, शिक्षा देकर सुसंस्कृत बनाना है।

मैं इस विचार से भी परेशान हूं कि एक तरफ तो आदिवासियों को एक नुमाईशी मॉडल बनाया जाता है और दूसरी तरफ उनके जीवन को पिछड़ा माना जाता है। ये वही संस्कृतियां हैं जिनके बीच मैं सुरक्षित महसूस करती हूं। उनके बच्चे, ठीक शहरी बच्चों जैसे। उनकी आंखों में एक कौतूहल है। वे आंखें नहीं चुराते, उनकी आंखों में एक निर्मल ललक है। इस माहौल में मुझे थोड़ा परायापन तो लगता है पर दिल्ली की सड़कों की असुरक्षा महसूस नहीं होती।

तो, अपनी संस्कृति को ऊंचा मानना मेरे लिए संभव नहीं है। इनका जीवन कठिन पर सुरक्षित है, शहरी शोषण के बावजूद। इनके मानवीय संबंध भी आज के पारिवारिक संबंधों की तुलना में कई गुना ज़्यादा स्वस्थ हैं। जैसे बम्बई के नज़दीक के आदिवासियों में मुझे एक बात छू गई। बच्चा एक इन्सान माना जाता है और मां का बच्चा होता है। मां का शादीशुदा होना ज़रूरी नहीं है। बच्चे के प्रति एक लगाव, एक ममत्व प्रतीत होता है। आज के समाज में 'लावारिस' बच्चे का हाल कुछ अलग ही होता है। इसी प्रकार से बूढ़ों की देखभाल का नज़रिया भी अलग सा है।

मैंने एक आदिवासी दोस्त से पूछा था कि आदिवासी धर्म क्या है? वह थोड़ा क्रोधित होकर कहने लगा कि क्यों मज़ाक कर रही हो? आदिवासी धर्म लिखित रूप में कुछ नहीं, इसलिए पूछ रही हो? आज तो धर्म को लेकर आदिवासी नज़रिया काफी पेचीदा मसला हो गया है। हिन्दू लोग कहते हैं कि तुम हिन्दू हो। उन्होंने हमारे देवी-देवताओं तक को अपना लिया है। अब हमारा क्या हाल होगा? आदिवासी संस्कृति की कई विशेषताएं हैं इस मामले में। जैसे, गांव के किसी भी धार्मिक काम में सभी की भागीदारी। व्यक्ति और धर्म में कोई भेद नहीं है। दरअसल ये दो अलग-अलग चीज़ ही नहीं हैं। जिसी भी सभ्यता से व्यवहार करें उसे अपने धर्म में शामिल कर लेते हैं। मसलन आजकल संतोषी मां जैसे नए देवी-देवताओं का पूजन भी मंज़ूर किया जाता है।

उस दोस्त की और भी लंबी कहानी है और परेशानियां भी। कला को ही लें। आदिवासी साहित्य या कला का लिखित रूप में प्रसार बहुत ही कम हुआ है। किन्तु 'कला' वही है जो लिखित है, इस समीकरण के चलते उनकी उपलब्धियों को नगण्य माना जाता है। दूसरी तरफ उनके नृत्य की बड़ी तारीफ की जा रही है। दिक्कत यह है कि इस तारीफ की बदौलत आदिवासियों की विशेषताएं एक व्यापारिक रूप ले रही हैं — उनकी विशेषताओं का व्यापार किया जा रहा है।

मसलन आज going ethnic (लोककला का फैशन) के नाम से भरपूर प्रचार-प्रसार, आडम्बर चल रहा है। मैं जब भी किसी मानव-संग्रहालय में जाती हूं तो मुझे एक खयाल परेशान करता है। बस्तर की औरतों का वह कठिनाई भरा जीवन और उसकी विशेषताएं, क्या उन बन्द शो केस में लोगों तक पहुंच सकेंगे? शायद कभी नहीं।

उस संस्कृति को, या किसी भी संस्कृति को, इस तरह से संदर्भ से अलग रखकर देखना गलत लगता है। उसके आधार पर अध्ययन करना तो असंभव सा ही है। मेरे ये विचार शायद मेरे साथियों को पसंद नहीं आएंगे। आखिर वे तो इस आधुनिक ज़माने के हैं, जहां इतिहास को माइक्रोफ़िल्म के ज़रिए संजोकर सुरक्षित रखा जाता है!

अ मृ ता

चट्टानों पर रंगों से संवाद

कैमरा लेकर तस्वीरें खींचने जाना कुछ अजीब सा लगा। ऐसा महसूस हुआ मानो उन चित्रों को मैं उनके संदर्भ से निकाल कर कैमरा के फ्रेम में बांध रही हूं। अपने उपकरण की सीमाओं से बंधी, मैं अपने ही नज़रिये से उन चित्रों में अर्थ डाल रही थी। किसी भी माध्यम के साथ जुड़ा आखिर एक सामाजिक संदर्भ होता है।

वैसे सामाजिक संदर्भ की बात निकली है तो एक और बात कहने को जी करता है। शैल चित्रों की खोज, दरअसल एक बच्ची ने की थी। वह अपने पिता के साथ किसी गुफा में गई थी। पिता पुरातत्वशास्त्री थे और उस गुफा में पत्थर के औज़ार ढूंढने गए थे। उनके दिमाग में तो चट्टानों की तरफ झांकने की बात भी नहीं थी। यह तो वह बच्ची बुरी तरह ऊबकर इधर-उधर निरूद्देश्य भटकी, ताक-झांक की, तो इन चित्रों पर उसकी नज़र पड़ी। पिता के लिए तो अहम चीज़ें कुछ और ही थीं। हम क्या सोचकर निकलते हैं, इस बात का बड़ा असर होता है कि हमें क्या मिलेगा और मिलेगा तो हम देखेंगे भी या नहीं। आज जिसे हम 'पेन्टिंग' मानकर अपने ही दृष्टिकोण से देख रहे हैं, वह शायद उस ज़माने के लोगों के लिए एक बिलकुल अलग मायने रखती हो। वह शायद जीवन को और उससे जुड़ी क्रियाओं को समझने का एक तरीका रहा हो या शायद जीवन का सामना कर पाने का और जीवन को सुगम बनाने का उनका अपना तरीका रहा हो। या हो सकता है कि संवाद का एक ज़रिया रहा हो। संवाद न केवल एक-दूसरे से बल्कि अपने आसपास की प्रकृति से खुद को जोड़ने का भी एक प्रयास, उसे समझने की एक कोशिश। या हो सकता है कि इन चित्रों के माध्यम से वे अपने डर, अपनी मुश्किलें व्यक्त कर रहे हों। या शायद जो कुछ भी वे पूज्य समझते हों उसका चित्रण किया हो। बाद के गुफा मन्दिरों से इसकी एक श्रंखला सी नज़र आती है।

इन चित्रों को देखकर एक बात जो साफ थी, वह यह कि वे लोग एक स्तर के अमूर्त सोच को अपना चुके थे। साथ ही इनमें उस ज़माने के प्रायोगिक कौशल का एक आभास भी हमें मिलता है। अनेक किस्म की वनस्पतियों के रस से बनाए गए रंग— क्या उन्हें भान रहा होगा कि उनके ये चित्र इतने सालों बाद हम इस तरह ढूंढ कर देखेंगे, परखेंगे— अपने विचारों और नज़रिये से उनकी छानबीन करेंगे? अखिर यह सब तो काफी हद तक हमारे सोच पर निर्भर है ना कि हम इन चित्रों को कैसे समझते हैं। अलबत्ता एक उपलब्धि तो साफ है कि वे इस दुनिया की गहराइयों को सपाट सतह पर चित्रित करना जानते थे। दूसरे शब्दों में, अपने आसपास की तीन-आयामी वस्तुओं को दो-आयामी सपाट सतहों पर उतारने में निपुण हो चुके थे। हम सभी ने कभी न कभी इस 'कला' पर हाथ आजमाया है और जानते हैं कि यह कितना मुश्किल काम है जब कि आज हमारी मदद के लिए बेशुमार चित्र, छवियां और बिम्ब मौजूद हैं। इस तरह की प्रक्रिया को कर पाना हमारे तकनीकी ज्ञान और विज्ञान की तरक्की की दिशा में एक निश्चित कदम था।

इसके साथ एक और बात है चिन्हों से जुड़ी हुई। वस्तुओं को चिन्हों द्वारा दर्शाना, घटनाक्रम को इस तरह चित्रित करना, शायद यही सब तो नींव बने होंगे भाषा के! स्वरों के मेल मिलाप से बना इंसानों के बीच आदान-प्रदान का यह सशक्त माध्यम! इन शैल चित्रों का मिलना आज के विज्ञान की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण है। आज से कई हज़ार साल पहले की ज़िन्दगी को समझने में, उनकी विश्व-दृष्टि का अनुमान लगाने में, उनकी जीवन शैली पर गौर करने में, ये सारे चित्र बहुत मददगार साबित हुए हैं। आज हम बहुत सोच-समझकर, जान-बूझकर अपने बारे में महत्वपूर्ण समझी जाने वाली जानकारी को कालपात्र में बन्द करके ज़मीन में गाड़ देते हैं। मकसद यह होता है कि आने वाली पीढ़ियों को यह जानकारी मिल सके। हज़ारों साल पहले जब ये चित्र बनाए गए तब बाद की सदियों के लिए जानकारी छोड़ जाने का मकसद शायद बिलकुल ही न रहा हो। पर आज हर नया शैल चित्र मिलने पर हम उसके ज़रिये बहुत सारी बातें समझने की कोशिश करते हैं। इस कोशिश में विज्ञान की एक पूरी शाखा विकसित हो रही है।

इन चित्रों में कीमती जानकारी का बेजोड़ भण्डार भरा पड़ा है। जानवरों के चित्रों से हमें उस समय के पशु जगत का अन्दाज़ मिलता है। जैसे कि चिड़ियों के चित्र देखकर पता लगता है कि कौन सी चिड़िया के सम्पर्क में वे लोग ज्यादा आए और उनसे कैसा संबंध था। जिस तरह के चिन्हों और प्रतीकों का इस्तेमाल इन चित्रों में हुआ है, उससे भी हम उनके सोचने के ढंग का अनुमान लगा सकते हैं।

वर्तमान के झरोखे से अतीत की कृतियां। इस नज़रिए से
हम जो देख पाते हैं, क्या वह बहुत कम है
या बहुत ज्यादा या बहुत अलग?
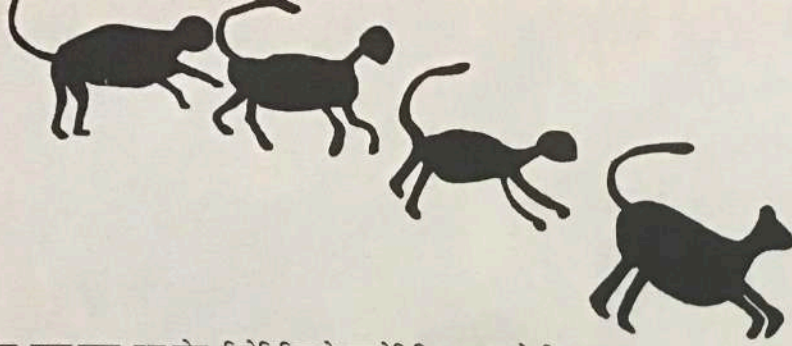
लंगूर, शहाद कराड, मध्य प्रदेश, नियोलिथिक से चाल्कोलिथिक युग तक के चित्र
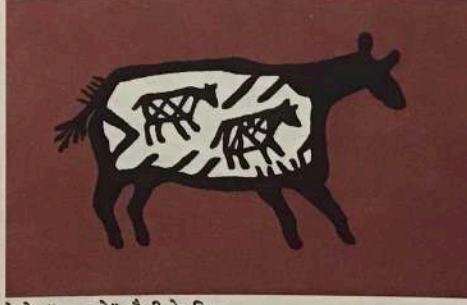
हाथी टोल, रायसेन, मध्य प्रदेश में मेज़ोलिथिक युग या उससे भी पहले के "एक्स-रे" शैली के चित्र

एर्वा मोहन्ती, वी. एस. वाकणकर के रेखांकन पर आधारित

इसके साथ ही हम यह भी समझने की कोशिश करते हैं कि उस समय के सामाजिक ढांचे तथा सामाजिक रिश्ते कैसे रहे होंगे। अगर चित्रों में शिकार का वर्णन ज्यादा है, तो शिकार करना शायद उनके जीवन का प्रमुख हिस्सा रहा होगा।

ऐसा कहते वक्त हम यह मानकर चल रहे हैं कि वे अपने जीवन को पूरी तरह उन गुफाओं पर चित्रित करने की कोशिश में लगे थे। परन्तु यह तो हमारा सोचना है। क्या यह सम्भव नहीं कि इन चित्रों के माध्यम से वे अपने जीवन के किसी एक हिस्से में ज्यादा निपुणता हासिल करने की कोशिश कर रहे हों? अन्य क्षेत्रों में इसके लिए उन्हें शायद चित्रों की ज़रूरत ही न महसूस हुई हो। कहने का आशय यह है कि इस तरह की व्याख्याएं करते हुए थोड़ी सावधानी ज़रूरी है।

इसीलिए यह सब विश्लेषण करते वक्त एक चेतावनी जो हमें अपने आपको देनी होगी और जो बात लगातार ध्यान में रखनी होगी, वह है कि इस तरह की कवायद की अपनी एक सीमा है। हमारी आज की जीवन शैली, हमारा आज का चीज़ों को देखने— समझने का तरीका, आज चल रही दुनिया का ढर्रा, यह सब हमारे सोच पर असर करता है। इसी कारण से लगातार इस बात का अहसास होना ज़रूरी है कि हमारे ये सारे बयान एक मायने में अटकलें ही हैं। और इससे भी ज्यादा, यह सब वर्तमान के झरोखे से देखा गया एक सीमित नज़ारा ही है।

अपने कैमरा में इन चित्रों को दर्ज करते हुए मुझे एक दोहरा रोमांच महसूस हुआ। तीस हज़ार साल पुराने चित्रों की छबि इस आधुनिक उपकरण पर उतारते हुए एक सवाल तो गूंजता ही रहा कि तब चित्र बनाने वाली उस इंसान से आज चित्र खींचने वाली इस इंसान को जोड़ने वाला तंतु कितना मज़बूत है। कितना मजबूत रहा होगा वह तंतु जो उस समय के मानव-समूहों के बीच अव्यक्त ही रहा शायद। सारी दुनिया के अलग-अलग पर्यावरण में रहने वाले मानव समूहों के शैल चित्रों की शैली में एक समानता है। यह समानता कहीं मुझे एक समग्र विश्व-कल्पना से जोड़ सा देती है।

एक नए जीवन की बुनियाद

बुर्ज़होम में नियोलिथिक सभ्यता के जो अवशेष मिले हैं, वे दुनिया की अन्य नियोलिथिक सभ्यताओं के समकालीन नहीं हैं । समय के इस अन्तर को समझने के लिए पुरातत्वविदों ने भौगोलिक विविधताओं को ज़िम्मेदार माना है। बहरहाल, इस तथ्य के आधार पर मुझे कुछ अलग तरह के खयाल आते हैं। मुझे लगता है कि इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि हम किसी एक ज़माने को समय में बांध कर उसे नियोलिथिक ज़माना नहीं कह सकते। यह कोई ज़रूरी नहीं है कि एक जैसे सारे बदलाव और विकास समकालीन हों।

बुर्ज़होम एवं भारत के अन्य ऐसे स्थानों को नियोलिथिक सभ्यता की श्रेणी में रखने का कारण यह नहीं है कि वहां कुछ अनाज के दाने हमें मिले हैं। किसी सभ्यता के अवशेष मिल जाने पर अटकल लगाने का एक ठोस आधार बन जाता है। जिस तरह की मानव- निर्मित (कृत्रिम) चीज़ें हमें मिलती हैं, उन चीज़ों के जिस तरह के अंतर्संबन्ध हम देख पाते हैं, उससे हमें प्रागैतिहास को समझने की ठोस बुनियाद मिलती है।जैसे कि बुर्ज़होम को एक भिन्न किस्म की संस्कृति का दर्ज़ा देने वाली बातों में बस्तियां, आग का इस्तेमाल, भंडारण के लिये बर्तनों का इस्तेमाल, जुताई व खेतीबाड़ी के अन्य कामों में प्रयुक्त हो सकने वाले औज़ार, आदि हैं।

डलिया बना पाना और उसमें मौजूद विविधता, अपने आप काफी कुछ कह डालती है। जब तक कोई सभ्यता भोजन के संग्रह/ शिकार की अवस्था में होगी, तब तक भण्डारण के लिये बर्तनों की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। खेती की बदौलत एक ऐसी स्थिति आती है, जिसमें तत्काल की ज़रूरत से ज्यादा उत्पादन होता है।इसके कारण अब इस भोजन को सहेजकर रखने की ज़रूरत होती है। अतः कई तकनीकों का विकास होता है। बर्तन इत्यादि इसका एक हिस्सा हैं। खेती का दूसरा असर यह भी होता है कि ज्यादा स्थायी जीवन-शैली बनने लगती है, जिसमें मकान इत्यादि का निर्माण करना शामिल है। ऐसी बसाहटें (बस्तियां) पूरे उपमहाद्वीप में कई जगह पर मिली हैं।
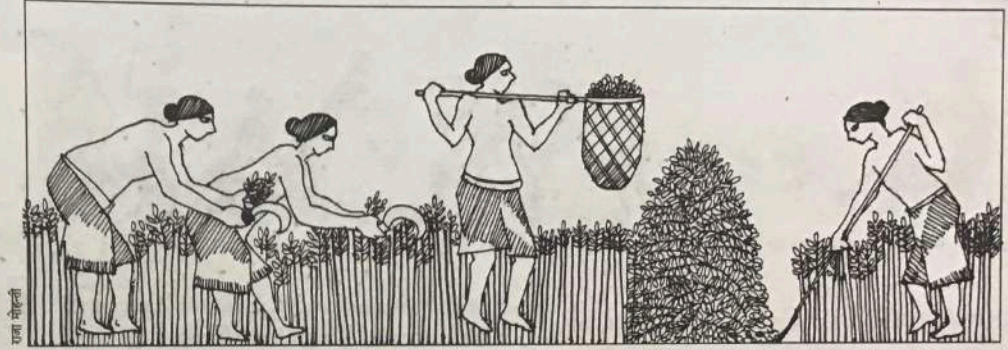
उपमहाद्वीप के पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी भागों में फैली ये बस्तियां अधिकतर खुली ज़मीन पर नदियों के किनारे मिलती हैं। धातु की कोई जानकारी नहीं थी इसलिए पत्थर के औज़ारों का इस्तेमाल होता था। इन औज़ारों की खदानें भी इन नियोलिथिक बस्तियों के नज़दीक आज भी मिलती हैं।

पशुओं और (खेती के ज़रिये) भूमि को पालतू बनाया जाना, हमारे इतिहास का एक महत्वपूर्ण मोड़ है। यह इस बात का पहला संकेत था कि हम कुदरत की प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप करने में सक्षम हैं। यह प्रकृति के प्रति हमारे रवैये में बदलाव का भी द्योतक है।

खेतीका मतलब था, कई सारे योजनाबद्ध क्रियाकलाप। ये क्रियाकलाप काफी हद तक प्रकृति के व्यवहार पर निर्भर थे। खेतीबाड़ी करने के लिए ज़रूरी था कि मौसम के नियमित चक्रों को समझकर उनका उपयोग किया जाए। इससे यह समझने की ज़रूरत उभरी कि प्राकृतिक चक्र कैसे चलते हैं। इसका मतलब यह भी था कि बाढ़ और अकाल जैसे खतरों का ज़ोखिम उठाया जाए और उनका सामना करने की भी थोड़ी-बहुत तैयारी हो।

एक ही वक्त पर ढेर सारा अनाज हाथ में आने से और भी कई बातें हुईं। भण्डारण पात्र इसका एक पहलू है। भोजन को पकाने की तकनीक और उससे जुड़े उपकरण— जैसे चूल्हा और सिल-बट्टा तक— इसका दूसरा पहलू है। इनमें से कई चीज़ें वैसी ही या थोड़े परिवर्तित रूप में आज भी हमारे साथ हैं। खेतीबाड़ी का एक असर यह भी हुआ कि नए-नए किस्म के भोजन विकसित हुए, उनको उगाने की तकनीकें विकसित हुईं। इसी का परिणाम है कि आज हमारे भोजन में इतनी विविधता है।

प्रागैतिहास के अध्ययन का महत्व एक और कारण से भी है। इस अध्ययन से पता चलता है कि न तो सभ्यताओं का विकास और परिवर्तन समकालीन था, और न ही यह ज़रूरी है कि यह विकास क्रमबद्ध ही हो। कहने का मतलब यह है कि, ऐसा कोई ज़रूरी नहीं है कि हर आबादी को विकास के सारे चरणों में से गुज़रना ही पड़े।

आज भी अतीत से हमारी एक कड़ी है, जिसे हम किसी कारण से अनदेखा कर देते हैं। हमारे वर्तमान में ऐसी कई चीज़ें हैं जिनकी कड़ियां अतीत में ढूंढी जा सकती हैं। बुर्ज़होम जैसी सभ्यताएं हमें याद दिलाती हैं कि हम न सिर्फ बहुप्रशंसित नदी-घाटी सभ्यताओं के बल्कि उससे भी पहले की सभ्यताओं के वारिस हैं और उनके साथ एक सूत्र में बंधे हैं।

शहनाज़

हाशिये में सिमटती औरतें
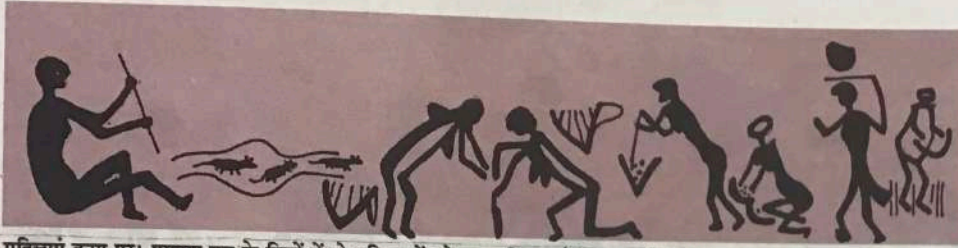
महिलाएं काम पर। पाषाण युग के चित्रों में तो महिलाओं को स्थान मिला। लेकिन बाद में ?

"एक ही औरत है हमारे इलाके में, जो बीज बोने या हल चलाने का काम करती है"- उस आदिवासी का यह वाक्य मेरे मन में गूंजता रहा। औरतें खेतीबाड़ी के बाकी सारे काम कर सकती हैं पर हल चलाने की मनाही है।

मैं इस प्रकार की धारणाओं और रीति–रिवाज़ों से परिचित हो चली हूं। चाहे संयोग से ही सही पर खेती की खोज स्त्रियों ने की ऐसा आम तौर पर मान लिया गया है। इसके बावजूद तब से लेकर आज तक में इतना बदलाव! मैं चकरा जाती हूं। इस पूरे विज्ञान में उस 'संयोग'या इत्तफ़ाक का होना बहुत फलदायी सा लगता है। इसकी जांच-पड़ताल की, इसे समझने की ज़रूरत से इन्कार नहीं किया जा सकता।

और इस 'इत्तफ़ाक' का फायदा उठाया है समूची मानव सभ्यता ने। लेकिन औरतों की उस परम्परा की वारिस हम औरतें ही आज परदे में हैं, बुरक़े में हैं और खेती का कोई ऐसा काम नहीं कर पातीं, जिसमें हुनर की ज़रूरत हो। कहां से कहां आ गए हम सभ्यता के विकास में। खेती की उस खोज से लेकर आज, जब हमारे योगदान का अधिकतर हिस्सा अदृश्य है, अनजाना है। समाज में हमारे योगदान की प्रतिष्ठा न के बराबर है।

आखिर खेती जैसे पहलू को जन्म देने वाली यही औरतें दमन की शिकार कैसे हो गईं? आज कई सारी मानवविज्ञान शोधकर्ता महिलाएं, जो बिलकुल भिन्न नज़रिये से सोचती हैं, सवाल पूछ रही हैं। उनकी कोशिश है, पुरुषप्रधान नज़रिये को भेदकर, इस परम्परा को खोजना। उनका लक्ष्य है स्त्री के उस योगदान को प्रगट करना, जो पुरुष दृष्टि से दिखाई नही पड़ता और इसीलिए आज उसका अस्तित्व नगण्य हो गया है। प्रागैतिहासिक सभ्यताओं के अन्वेषण में भी यह अस्तित्व दिखाई नहीं देता। कई सारी बातें हैं जो आहत कर जाती हैं। हकीक़त से इन बातों का जो विरोधाभास है, वह तो और भी परेशान करता है। क्या बारम्बार यही उभरेगा कि मानव जाति के आधे हिस्से को पूरी तरह से नकारा गया है? क्या हम हमारे आज के नज़रिये से ही उन सदियों में औरतों के योगदान का या उनके जीवन का मापन करते रहेंगे?

आज बच्चा पैदा करने की क्षमता को ही औरत के अस्तित्व की बुनियाद बना दिया गया है। इतना ही नहीं समाज में सबसे मुख्य सवाल यह रह गया है कि बच्चा किसका है? उसकी मां कौन है यह तो ज़ाहिर है। लेकिन किस आदमी के शुक्राणु से वह पैदा हुआ, यही सबसे अहम सवाल माना गया है। उसी सवाल के जवाब को स्थापित करने हेतु औरतों पर बंधन लगे। परिवार जैसी संस्था का अविष्कार किया गया जिसका मुख्य उद्देश्य ही पितृवंश को आगे बढ़ाना था। संपत्ति का पुरुष वारिस पैदा करना यह फिर औरतों की मुख्य भूमिका रह गई। हम आज इस सबको इतना स्वाभाविक मानने लगे हैं कि किसी और किस्म के सामाजिक ढांचे, जो खून के रिश्तों पर आधारित न हो, की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। आज के परिभाषित 'परिवार' से अलग भी ढांचे थे और हैं जिनमें लोग साथ रहते हों, छोटे-बड़ों की देखभाल और एक-दूसरे की परवरिश करते हों, यह हमारी सोच से भी एकदम परे है। निश्चय ही इनमें औरतों का दर्ज़ा फ़र्क होगा, स्त्री पुरुष संबंध भी अलग किस्म के होंगे।

आदिवासी संस्कृति में मैंने एक महत्वपूर्ण बात काफी हद तक देखी है, जो सदियों से चली आ रही है। वहां स्त्री-पुरुष संबंधों को देखने का एक व्यापक नज़रिया है। विवाह को उस स्त्री और उस पुरुष का आपसी संबंध माना जाता है। न तो उसे दो खानदानों का रिश्ता समझा जाता है और न ही किसी पुरुष, सम्पत्ति या सामाजिक ढांचे के अनुरूप ढालने की कोशिश होती है। उन दो व्यक्तियों की भावनाओं की कद्र करते हुए ही इसे समाज में स्वीकार किया जाता है। व्यक्ति और समाज के द्वन्द्व में समाज की गति की स्थिरता की तुलना में व्यक्ति का महत्व कम होना— ऐसी विविधता को नष्ट करने वाली बातें, आड़े नहीं आती वहां।

सोचती हूं, जो विज्ञान समाज की गति का विश्लेषण करता है, क्यों उस विज्ञान में औरतों की प्रत्यक्ष भागीदारी न के बराबर है! क्यों वह भी समाज की मान्यताओं भर में ही सीमित रह जाता है? ऐसे ही सवालों के कारण तो मै भी यह काम करने की कोशिश कर रही हूं। मै विज्ञान का नज़रिया स्त्रियों के प्रश्नों से जोड़ना चाहती हूं। इतना ही नहीं, मुझे विज्ञान को देखने के स्त्री के नज़रिये की तलाश है। यह सब करना चाहती हूं पर कभी-कभी लगने लगता है कि असंभव है। आ... क्या मुझे बस इसी एक सूत्र पर भरोसा करना होगा कि खेती की खोज स्त्रियों ने की थी?

कभी-कभी यह भी सुनती हूं कि अभी क्या है, तुम तो सुखी हो, चारदीवारी में रहो, क्यों इन सारे झमेलों में पड़ना चाहती हो। सारे सवालों के जवाब तो मेरे पास हैं नहीं। मेरी यह तलाश लेकिन ज़ारी रहेगी एक लम्बी दास्तां बनती हुई, सभी औरतों की दास्तां का हिस्सा बनती हुई।

हड़प्पा संस्कृति

ईसा पूर्व 3500 से ईसा पूर्व 2000 वर्ष तक

हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो की खोज ने इस धारणा को बदल डाला कि भारतीय इतिहास और संस्कृति वैदिक काल में शुरू हुई थी। उसके बाद, करीब 15 लाख वर्ग कि.मी. के विस्तृत इलाके में करीब 700 छोटे-बड़े ऐसे पुरातत्व-स्थल खोजे जा चुके हैं। भारूड़ लोक शैली का एक गीत हमें सुनाता है कि शहर के मुख्य लक्षण क्या होते हैं। लोथल नामक स्थान पर हम हड़प्पा कालीन शहर नियोजन और नाली व्यवस्था का एक जायज़ा लेते हैं। एनिमेशन के द्वारा यह समझाया जाता है कि मज़बूत 'इंग्लिश बॉन्ड' बनाने के लिए किस तरह मानकीकृत ईंटों का इस्तेमाल किया गया। हड़प्पा की फसलें और खेती की तकनीक का ब्यौरा दिया जाता है।

फ़िल्म हड़प्पा के बेजोड़ अवशेषों को टटोलती है, संजोती है : मनके, टेराकोटा, वस्त्र टेक्नॉलॉजी, तांबे के औज़ार, कांसे की नर्तकी। खेतड़ी में पता चलता है कि तांबे की पुरातन खदानों और आधुनिक कारखाने के बीच बस दो कदम का फ़ासला है।

हड़प्पा की नौवहन टेक्नॉलॉजी और समुन्दर पार व्यापार की चर्चा होती है, और उनकी अपठित लिपि पर भी एक नज़र डाली जाती है। कितना पता है, कितना आज भी एक पहेली बना हुआ है।

और अन्त में, हमारे रिपोर्टर ढोलावीरा जाते हैं। कच्छ में भारत-पाकिस्तान सीमा पर इस स्थान की अभी खुदाई नहीं हुई है। यहां धरती के गर्भ में हैं कई उत्तर, और शायद नए प्रश्न।

अ मृ ता

हड़प्पा, आज भी हमारे साथ

आखिर भागदौड़ कर उस दिन मोहन्जोदड़ो के लोगों से मिल ही लिए— राष्ट्रीय संग्रहालय में। उस नर्तकी को देखकर तो मुझे बहुत अच्छा लगा। उसकी कलाइयों पर चढ़ी चूड़ियां... अनायास मेरा हाथ भी अपनी कलाई की चूड़ियों से खेलने लगा। हमें जोड़ता सा समानता का तंतु हाथ लग गया मानो। मुझे अपनी सहेली का कुछ दिनों पहले का अनुभव भी उस क्षण याद आ गया। एक मुस्लिम औरत अपने हाथ में दस-बारह कांच की चूड़ियां लिए उसके पास आई और हाथ बढ़ाकर चूड़ी पहनने में मदद चाही,

"एकदम सूनी कलाई अच्छी नहीं लगती। टूटती है तो टूटने दो, पर एकाध तो चढ़ा दो।" मेरी सहेली ने अपने सूने हाथों से कोशिश तो की पर नाकाम रही। इस निरन्तर सांस्कृतिक प्रवाह से कट जाने को लेकर उसने मन ही मन खुद को कोसा।

हड़प्पा सभ्यता की नर्तकी की कलाइयों से लेकर आज इन महिलाओं के आपसी संपर्क तक एक संस्कृति की निरंतरता... धर्म, जाति, वगैरह की सीमाओं को लांघती हुई। बात कहीं मन को छू गई। याद आए वे चूड़ी पहनानेवाले, जो अधिकतर मुसलमान हैं और आज भी औरतों की ज़िन्दगी में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। क्या इस नर्तकी के ज़माने में भी इसी तरह शंख की , लकड़ी की चूड़ियां पहनने-पहनाने का चाव रहा होगा?

उस नर्तकी से न जाने क्यों मुझे एक आत्मीय संबंध महसूस हुआ। ऐसा लगा कि वह बात करना चाहती है अपनी ज़िन्दगी के बारे में। उसकी ज़िन्दगी, जो शुरू हुई थी हड़प्पा सभ्यता के ऐश्वर्य में और आज बंट गई है दो देशों की सीमाओं में, रम गई है दो अलग-अलग सभ्यताओं में। आज हमारी सरहदें इतनी सख्त हो गई हैं कि हमारे अतीत तक बांटे जा रहे हैं, एक-दूसरे से काटे जा रहे हैं। यह बात तल्खी से तब महसूस हुई जब हम मोहन्जोदड़ो और हड़प्पा के स्थलों पर सिर्फ इसलिए न जा सके क्योंकि वे पाकिस्तान में हैं। आज की राजनीति के पचड़ों में हमारे अतीत की खोज भी सीमाओं में जकड़ दी गई। करीब 15 लाख वर्ग कि.मी. में फैली इस

विशिष्ट आकार और नक्शा के हड़प्पायुगीन पात्र

ढोलावीरा गांव, कच्छ में पात्रों की रंगाई। हड़प्पायुगीन पात्रों से मिलती जुलती शैली

सभ्यता का एक छोटा सा हिस्सा भर हम देख पा रहे थे। पश्चिम में मकरन के सुखताजेन्डोर से पूर्व में आलमगिरपुर (वर्तमान उ॰ प्र॰) तक और उत्तर में रोपर से दक्षिण में दक्षिणी गुजरात के भगतराव तक फैली इस सभ्यता के कई सारे हिस्सों में तो हम जा भी नही सके थे।

मुझे अपने सहकर्मियों से भी बहुत दूरी महसूस हो रही थी। मेरी कल्पना उड़ान भरने को तत्पर थी और मैं उस नर्तकी से एक वार्तालाप गढ़ने की कोशिश में लगी थी। कितने सारे उतार-चढ़ाव और परिवर्तनों की मूक गवाह रही थी वह! क्या-क्या नहीं देखा उसने! मेरे मन में उठ रहे थे अनगिनत सवाल। तब और आज के शहरी वातावरण की समानताओं ने हम सबका मन मोह लिया था। वैसे तो भीमबैठका और आदमगढ़ की गुफाओं ने भी मोहित किया था परन्तु वह एक दंग रह जाने का अहसास था। इन शहरी सभ्यताओं में जो जुड़ाव का अहसास हुआ वह था हमारे वर्तमान से निकटता के कारण। हम सबको एक अपनेपन का अहसास हो रहा था।

शहर, शहर का नियोजन, सड़कें, स्वच्छता का इंतज़ाम, पीने के पानी की खास सुविधाएं, सार्वजनिक हमाम, खिलौने, चार की बुनियाद पर आधारित मापन की इकाइयां, यह सब कुछ एक निरंतरता का अहसास देता है। आज भी कई इलाकों में आंगन के एक कोने में खाना पकाया जाता है, सिन्ध में आज भी बैलगाड़ी का ढांचा और अनुपात हड़प्पा के ज़माने जैसा है, उसी तरह का सिल-बट्टा और तन्दूर, हल चलाने का विशेष तरीका, और न जाने क्या-क्या।

इसके अलावा कर्मकांड, रीति-रिवाज़ों में भी एक प्रकार का साम्य नज़र आता है— पशुओं की बली चढ़ाना, लिंग की पूजा के अलावा देवी माता, अग्नि, वृक्षों, और पशुओं की पूजा, तब के ज़माने के पेड़ जो यहीं पर पूरी तरह विकसित हुए और इस भूमि के हैं, जैसे पीपल, बरगद। इन सबकी विरासत पहचानकर लगता है कि जिसे हम 'भारतीय' कहते हैं उसका संबंध बहुत हद तक हड़प्पा सभ्यता से है।

इन सबमें एक निरन्तरता का अहसास लगता है। आज जब हम समाज में अपनी पहचान की खोज में भिड़े हैं, जो खोज कई बार इतने हिंसक रूप में सामने आती है, तब अतीत का यह तंतु क्या हमें मदद नहीं कर सकता? आज के माहौल में महसूस होने वाली लाचारी, बेबसी को क्या निरन्तरता का यह अहसास कुछ कम कर

हड़प्पा युग की खिलौना बैलगाड़ी। इसी से मिलती-जुलती बैलगाड़ियां हाल तक सिन्ध में बनती थीं
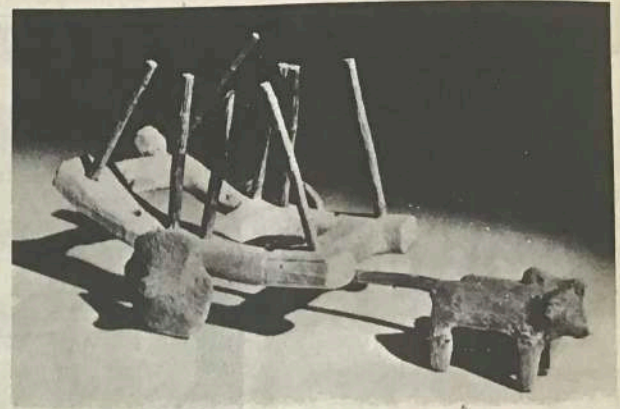
मोहनजोदड़ों की नर्तकी के कलाई से कन्धे तक कंगन। आज भी कच्छ में यही रिवाज

सकता है? यह सब अनुभव करके मुझे एक तरह से तो खुशी हो रही थी। परन्तु साथ ही कई सवाल भी खड़े हो रहे थे। यह सारी 'प्लास्टिक कला', मोती, चूड़ी, जहां एक निरन्तरता के प्रतीक थे और उस नर्तकी की मुद्रा के साथ ही मेरे सामने थे, वहीं कहीं गहरे में कुछ खोने का अहसास भी दिलाते थे। इन सारे पुरातत्व स्थलों को देखकर अंदर ही अंदर बहुत उथल-पुथल भी मच रही थी।

उन सभ्यताओं की सत्ता के केन्द्र, ये शहर तो खत्म हो गए, वीरान हो गए परन्तु वहां की संस्कृति तो इस भूखण्ड के अन्य क्षेत्रों में फैली, पनपी और बदली। उसी के कुछ अंश मेरे जैसी महानगरवासी के साथ भी मौजूद हैं। पर कहीं यह भी लग रहा था कि हमारी जानकारी कितनी अधूरी है। अभी तो इन सभ्यताओं के बारे में बहुत कुछ जानना बाकी है। इसके अलावा इस भूखन्ड की समकालीन (अन्य तत्कालीन) सभ्यताओं का हमारा ज्ञान भी कितना अधूरा है। आज हमें पता है कि हड़प्पा के साथ ही अन्य कई जगहों पर नियोलिथिक सभ्यताएं भी मौजूद थीं। और शायद हड़प्पा से मिलती-जुलती परन्तु भिन्न किस्म की सभ्यताएं भी रही होंगी। ये एक तरह से नदी घाटी सभ्यताओं के ग्रामीण हिस्से के समकक्ष लगती हैं।

इन सारी सभ्यताओं का आपस में क्या संबंध रहा होगा? किस तरह का आपसी व्यवहार रहा होगा? एक-दूसरे पर निर्भर रहे होंगे क्या वे?क्या इनके आपसी संबंधों की विरासत भी हमारे साथ है? आज भी तो बम्बई जैसी घोर औद्योगिक महानगरीय संस्कृति से थोड़ी ही दूरी पर एक अलग तरह से जीने की कोशिश में हैं जंगल में रहनेवाले आदिवासी! इन सर्वथा भिन्न और विपरीत जीवन-शैलियों का जो टकराव आज होता है, उसे बदलने में, दोनों की आज़ादी और गरिमा को बरकरार रखते हुए सहअस्तित्व को संभव बनाने में, क्या हड़प्पा काल के अध्ययन से मदद मिल सकती है? इसको एक खुलेपन से पहचानना और उसी खुलेपन से स्वीकारना ही निरन्तरता और अपनेपन के हमारे अहसास को सार्थक बना पाएगा।

र ज न

कांसा युग के शहर : एक चेतावनी

शहर। शहरी सभ्यता। शहर का नाम सुनते ही हमारी आंखों के सामने आ जाते हैं आज के महानगर— रोम, कलकत्ता, लंदन, न्यूयॉर्क, पैरिस, बंबई... इनकी आबादी इतनी है कि इनमें से एक-दो में ही पूरी हड़प्पा सभ्यता समा जाए। और इन महानगरों की रफ्तार के सामने हड़प्पा की रफ्तार तो कछुआ चाल दिखेगी। फिर भी हैं तो दोनों शहर ही!

मैं तो शहरी हूं ही, और आज के विज्ञान का माहौल भी उतना ही शहरी है। जैसे-जैसे मुझे अधिक जानकारी मिल रही है, पढ़ रहा हूं, देख रहा हूं, शहरी सभ्यता को लेकर मन में एक तनाव–सा महसूस करता हूं। क्योंकि मैं देखता हूं बेशुमार ऐसी बातें जो मुझे दिलासा देती हैं और उतनी ही बेशुमार ऐसी बातें जो बेचैन करती हैं।

शहरों की परिभाषा के कई मापदण्ड कई लोगों ने बताए हैं। इनमें से दो पहलू मुझे बहुत महत्वपूर्ण लगते हैं। एक यह है कि शहर की बस्ती गांव से कई गुना बड़ी होती है। दूसरा यह है कि शहर के अधिकतर लोग अपना अनाज खुद नहीं उगाते। ये दोनों पहलू उन बातों से गहरे में जुड़े हैं जो मुझे दिलासा देती है और बेचैन करती हैं।

शहर में पहली बार ऐसी ज़िन्दगी संभव हो जाती है, जिसमें एक बड़े मानवसमूह की रोज़मर्रा ज़िन्दगी प्रकृति पर सीधे निर्भर नहीं होती। जहां ज़िन्दगी की गति प्रकृति से ज्यादा इन्सान पर निर्भर है।

ऐसी ज़िन्दगी का अनुभव यह विश्वास भी पैदा कर सकता है कि कुदरत की ताकत के सामने झुकते जाने की ज़रूरत नहीं है। उस ताकत को जाना भी जा सकता है। यह विश्वास विज्ञान के लिये बहुत ज़रूरी है।

शहरों में बस्ती बड़ी होती है और कारीगरों की संख्या और अनुपात ज्यादा रहता है। शहरों में कारीगरों को कई तरह की सुविधाएं मिल जाती हैं। वे कुशल व दक्ष कारीगरों को काम करते देख सकते है, उनसे मिल सकते हैं, उनके हुनर व कला से सीख सकते हैं। वे अन्य संबंधित हुनर से भी सीख सकते हैं।

साथ ही यह भी सम्भव हो जाता है कि आप चिन्तन, सिद्धान्त के मसलों, अनुमानों, आदि पर ध्यान दे सकें। अलग-अलग परम्पराओं और ज्ञान के मेलजोल की संभावना भी होती है। एक किस्म का विचार-संकलन, परस्पर अंतर्किया संभव हो जाती है। और विज्ञान के लिए ऐसा होना ज़रूरी है।

इसीलिए शहरीकरण के हर ज्वार के साथ विज्ञान व टेक्नॉलॉजी की लहर भी आती है। शहरीकरण के हर दौर में कमोबेश ये संभावनाएं साकार होती हैं।

परन्तु यह कोई सीधे-सपाट तरीके से नहीं होता। जब कोई सम्भावना हकीकत में तबदील होती है, तो उसे अन्य कई संभावनाओं के साथ जुड़ना होता है। यही अन्य संभावनाएं मुझे बेचैन करती हैं।

अधिकांश शहरी लोग बेशक अपना भोजन खुद नहीं उगाते परन्तु कहीं न कहीं से प्राप्त तो करते ही हैं। प्राचीन शहरों में यह सम्भव हुआ था संरक्षण से या संरक्षण पर आश्रित बाज़ार प्रणाली से। संरक्षण, शासक या शासक वर्ग द्वारा। ये शासक अक्सर क्रूर, अत्याचारी और तुनकमिजाज़ होते थे। वे तो शायद कुदरत की ताकत के आगे न झुकते हों, पर यह दिखाई देता है कि विज्ञान और टेक्नॉलॉजी ज़रूर इन शासकों के आगे घुटने टेकते थे। विज्ञान और टेक्नॉलॉजी ने इन शासकों की मदद की, उनके साधन बने।

वर्तमान के झरोखे से देखता हूं, तो विज्ञान और सत्ता का यह गठबंधन मुझे बेचैन कर देता है। आज मैं देख सकता हूं कि छोटे-छोटे कदमों से ही यात्रा की दिशा और मंज़िल तय हो जाती है।

शहरी लोग सीधे प्रकृति पर निर्भर तो थे नहीं। इसलिए उनके लिए प्रकृति से स्वतंत्र होने की बात से आगे बढ़कर यह सोचना बहुत आसान था कि वे प्रकृति को अपनी ज़रूरतों और सनक के मुताबिक ढाल सकते हैं।और अपने ज्ञान के बल पर उसे अपने वश में कर सकते हैं। प्रकृति से स्वतंत्र होने और प्रकृति को अपने वश में करने के बीच बहुत बारीक सा अन्तर है। यही बारीकी 'प्रकृति की ताकत' और 'प्रकृति पर ताकत' के बीच का भेद है। यही बारीकी शक्ति और वर्चस्व के बीच का अन्तर है। कितनी बार इस बारीक अन्तर की दहलीज़ को लांघा गया है।

चूंकि इस ताकत का स्रोत ज्ञान था इसलिए यह मान लेना कितना आसान रहा होगा कि दिमाग हाथों का स्वामी है और होना चाहिए। एक बार इसे मान लिया, तो इसका यह निष्कर्ष भी स्वाभाविक लगता है कि जो लोग सोचते हैं, वे श्रमिकों पर शासन करेंगे और शहर, गांवों पर शासन करेंगे।

और हम यही पाते हैं। प्राचीन शहर मुख्यतया शासन-प्रशासन के केन्द्रों के रूप में उभरे।यहां तक कि हमारी जानकारी में पहला शहर— जेरिको, भी इसी तरह का था। जेरिको... नवपाषाणयुग और धातुयुग के संधिकाल में बसता हुआ, बार-बार दीवारों से घेरा जाता, अपने आपको गांवों से काटता, गेहूं और जौ की खेती करने वाले गांवों से जुड़ा हुआ भी और कटा हुआ भी। यह शहर उसी इलाके का था जहां वर्तमान सभ्यता के लिए अनिवार्य खनिज तेल के लिए आज घमासान युद्ध हो रहा है। उसी इलाके में यह शहर था, बार-बार रणभूमि में उतरता और अपनी ढहती दीवारों को बारम्बार उठाता हुआ।

जेरिको के कुछ सदियों बाद, तांबा-कांसा युग के साथ, शहरीकरण की एक लहर चली। इसके साथ ही लम्बा धातु युग शुरु होता है। मिस्र और मीसोपोटेमिया से लेकर हड़प्पा तक और सुदूर पूर्व में चीन की शांग तक इसी युग की सभ्यताएं हैं।

कांसा युग के सारे शहर एक नितान्त नाज़ुक इकोसिस्टम पर टिके थे। यह नदियों की बाढ़ के पानी को सिंचाई की नहरों के माध्यम से उपयोग करने पर आधारित थी। यह नाज़ुक ज़रूर थी पर उपजाऊ भी थी। और इन सारी सभ्यताओं में एक बात साफ दिखाई देती है। विज्ञान व टेक्नॉलॉजी जिन लोगों को उपलब्ध थी और जिन लोगों को उपलब्ध नहीं थी, उन दोनों के बीच गहरी खाई नज़र आती है।

इसका एक कारण तो धातु से संबंधित रहा होगा। धातुएं अर्थात् तांबा और उससे बना कांसा, जो एक तरहसे इस युग की पहचान हैं। तांबे का निष्कर्षण आसान है। इसे जस्ते या आर्सेनिक के साथ मिलाकर कांसा बनाया जा सकता है। कांसा पत्थर की बनिस्बत कहीं बेहतर है। परन्तु तांबा इफरात में नहीं मिलता और कांसा बनाना काफी महंगा पड़ता है। शायद यही कारण रहा कि क्यों पाषाण या पत्थर युग से आगे की तरक्की सम्पन्न घरों तक ही सीमित रही। सत्ता तथा विज्ञान टेक्नॉलॉजी के फायदों का गठजोड़ काफी साफ दिखाई पड़ता है।

इस मायने में, हड़प्पा सभ्यता कोई अलग नही थी। एक अन्तर ज़रूर था परन्तु उसका महत्व आज भी विवाद का विषय है। तांबा-कांसा युग की अन्य सभ्यताओं की तुलना में हड़प्पा के स्थलों पर हथियार कम मात्रा में थे और अक्सर घटिया होते थे। यह कह पाना मुश्किल है कि किस हद तक यह पिछड़ी टेक्नॉलॉजी की वजह से है और किस हद तक शान्तिप्रिय प्रवृत्ति की वजह से।

सबसे महत्व की बात यह है कि 2000 ईसा पूर्व के बाद इन शहरों का तेजी से पतन हुआ। इनका स्थान घुमक्कड़ खानाबदोश कबीलों ने ले लिया। ये कबीले मध्य एशिया से चले थे। इनके वहां से हटने के पीछे जलवायु से जुड़े वही कारण थे, जो शहरों के पतन के लिए ज़िम्मेदार रहे । इनके पास नए विचार थे, एक नई धातु थी, किन्तु विज्ञान टेक्नॉलॉजी थोड़ी कम विकसित थी। मैं यहां थोड़ा विश्लेषण करने का दुःसाहस करता हूं। कांसा युग के शहरों में विज्ञान टेक्नॉलॉजी का सामाजिक आधार थोड़ा नाज़ुक था। यही उनके पतन का कारण बना। विज्ञान टेक्नॉलॉजी अभिजात्य वर्ग के मुट्ठी भर लोगों के हाथ में थी। जब शहरों का पतन हुआ तो अभिजात्य वर्ग के साथ-साथ विज्ञान टेक्नॉलॉजी भी खो गई।

बहरहाल उस सभ्यता के कई पहलू बरकरार रहे और आज भी है। ये वे पहलू थे जो ज्यादा फैले हुए थे, विकेंद्रित थे और एक तरह से रोज़मर्रा के जीवन का अंग थे। इससे हमारे निष्कर्ष की पुष्टि ही होती है कि जब विज्ञान और टेक्नॉलॉजी एक शक्तिशाली, केन्द्रीकृत अभिजात्य वर्ग का एकाधिकार बन जाए, तो वह बहुत नाज़ुक साबित होती है।

हड़प्पा और कांसा युग के शहरों ने हमारे लिए यह एक अहम सबक छोड़ा है। मैंने इस गूढ़ बात को महसूस किया, जब शाम के धुंधलके में रामनाथन ने अपनी बेचैनी को मुखर किया। मैंने महसूस किया कि एक निर्जन शहर कितना उजाड़ लगता है। खासकर आसमान को छूती हुई संकरी ऊंचाइयों के बाद।

आज भी यह बात मुझे बेचैन कर देती है। यह लिखते समय खाड़ी के युद्ध का साया मेरे ज़हन पर है।इस युद्ध में इराक पर जितने बम बरसाए गए, उतने शायद पूरे वियतनाम पर भी न गिराए गए होंगे। आखिर किसलिए? तेल के लिए ही ना? वही कमज़ोर, नाज़ुक बुनियाद। आज इराक नेस्तनाबूद हो रहा है या किया जा रहा है। शायद अमरीका-ब्रिटेन और वहां के अति भक्षी समाज को इससे सुकून मिले। परन्तु यदि क्षणिक लाभ को छोड़ दें, तो इस समृद्धि की बुनियाद कितनी भुरभुरी है। और यदि हम भी उनके नक्शे कदम पर चलते रहे, तो हमारी भी। यदि हम इस वक्त सही फैसले नहीं करते, तो मुझे यकीन है कि एक दिन हमारे वारिस, हमारे वंशज हमारे शहरों के कंकाल खोजने पर मजबूर होंगे।

शहनाज़

हड़प्पा की चित्रलिपि : बूझो तो जानें

हड़प्पा सभ्यता की चीज़ें देख-देखकर मैं अब परेशान होने लगी हूं। जैसे कोई साथी हो, जिसकी सारी चीज़ें मौजूद है और वह साथी अदृश्य और खामोश है। न कोई शब्द, न कोई सोच। बस बेशुमार चीज़ें। यहां तक कि उसकी लिखावट भी सामने है परंतु कुछ गूढ़, अबूझ चिन्हों में। हड़प्पा संस्कृति की चीज़ों पर इस बात का साया पड़ जाता है।

हड़प्पा सभ्यता की पहली मोहर मिलते ही उसकी लिखावट को पढ़ने-बूझने की कोशिश शुरु हो गई थी। आज एक तरह से उस लिखावट के बारे में कुछ बातें सर्वमान्य हो चुकी हैं। और शायद इन्हीं में से उसका भेद खोलने का रास्ता बन सके। एक बात स्पष्ट हो चुकी है कि यह एक चित्रलिपि है। मोहरें देखने से लगता है कि यह तो साफ ज़ाहिर है, स्वयंसिद्ध है। लेकिन बात इतनी सीधी भी नहीं है। अगर हम देवनागरी के स्वरों और व्यंजनों को एक-एक चित्र से दर्शाएं तो क्या वह चित्रलिपि हो जाएगी? कोई लिपि चित्रलिपि तब कही जा सकती है जब यह साबित हो जाए कि उसमें शब्दों को और उनके अर्थों को चित्र द्वारा दर्शाया जाता है। इस बात का पता हमें मूल चित्रों की पुनरावृत्ति से चलता है। अक्षर लिपि में चिन्हों की आवृत्ति और वितरण अलग ढंग का होता है और चित्रलिपि में अलग ढंग का। शोधकर्ताओं में इस बात को लेकर मतभेद है कि मूल चित्र कौन से है। करीब डेढ़ सौ से साढ़े चार सौ मूल चित्र माने जाते हैं। मिस्र आदि की लिपियों से इस लिपि की तुलना करने के बाद अब सभी यह मानते हैं कि यह चित्रलिपि है। यह भी सभी मानते हैं कि यह लिपि दाईं से बाईं (उर्दू की तरह या पुरानी खरोष्ठी की तरह) लिखी जाती है।

इसके आगे बस मतभेदों का जंजाल शुरू हो जाता है। लिपि का भेद खोलने के लिए हमें पहले यह मालूम करना होगा कि यह भाषा किस किस्म की है। आखिर लिपि तो भाषा को मात्र चिन्हबद्ध करती है। भाषाई तौर पर संभावना यह है कि यह भाषा संस्कृत या हिटाइट जैसी किसी इण्डो-यूरोपीय भाषा या किसी एशिया-माइनर भाषा (जैसे सुमेरी या इलायमीटिक) या कि द्रविड़ या मुण्डा भाषा के नज़दीक

हड़प्पा सभ्यता की लिखावट दाएं से बाएं लिखी जाती है, यह अनुमान कई शोधकर्ताओं ने लगाया है। इनमें से एक हैं पुरातत्वशास्त्री बी.बी.लाल। उनके अनुमान के आधार का कुछ अंश हम यहां संक्षेप में दे रहे हैं। इससे पता चलता है कि ऐसे प्रश्नों को सुलझाने में किस तरह बारीक अवलोकन और तर्क की ज़रूरत होती है।

उन्होंने यह अनुमान लगाया था दो चित्रों से – एक था कालीबंगन में मिले बर्तन के टुकड़े पर खुदे चिन्ह और दूसरा हड़प्पा की एक मोहर। कालीबंगन के बर्तन के टुकड़े पर जो लिखावट थी उसके चित्राक्षर कुछ हद तक एक दूसरे पर तराशे गए थे। बस, इसी ने लिखावट की दिशा का राज़ ज़ाहिर कर दिया। जब एक लकीर पर दूसरी लकीर तराशी जाती है, तो पहली टूटी दिखाई देगी और दूसरी सीधी। इस नज़रिये से यदि एक-दूसरे पर तराशे अंश देखें तो रेखा चित्रों में आप पाएंगे कि 1A के बाद 1B और 2A के बाद 2B, 2C और उसके बाद 3A तराशा गया है। और आखिर में लिखे 3A का भाग 3C देखिए—किसी शब्द का आखरी अक्षर लिखने में जो मस्ती कईयों की लिखावट में होती है, वही चीज़ भाग 3C में दिख रही है। समझे लिखावट की दिशा?

अब हड़प्पा की मोहर देखिए। साथ में हमने वैसे ही चौकोर में आंकड़े भर दिए हैं—एक में दाएं से बाएं और दूसरे में बाएं से दाएं। यहां भी लिखावट की दिशा ज़ाहिर हो जाती है।

आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया

नेशनल म्यूज़ियम, नई दिल्ली
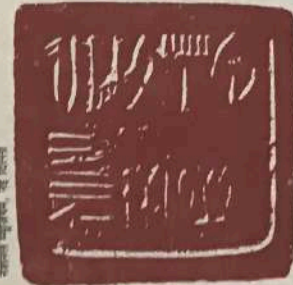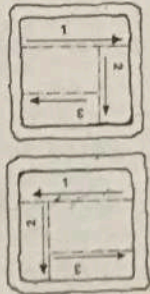
रही होगी। परंतु अधिकांश लोगों का मत यह है कि इस चित्रलिपि से जुड़ी भाषा द्रविड़ है।

इसके आगे भी बड़े-बड़े मतभेद हैं। उन मोहरों का उपयोग क्या था? इस बारे में 'व्यापारियों की मुद्रा' से लेकर 'पूजा में चढ़ावा' तक के मत हैं— अर्थात् ठेठ भौतिकवादी मत से लेकर ठेठ धार्मिक तक! फिर कई लोग मानते हैं कि इन मोहरों पर एक पूरी अंक प्रणाली चित्रित है और इसका मकसद एक रुढ़ि को प्रचलित करना है। एक मत यह भी है कि इन पर द्रविड़ और मुण्डा लोगों के इलाकों की सांस्कृतिक प्रथाओं का चित्रण है। परंतु जब मैं इन्हें देखती हूं तो मुझे इनमें ऐसी कई चीज़ें दिखती हैं जो हमारे इर्द गिर्द आज भी हैं। ये वास्तव में इसी उपमहाद्वीप की चीज़ें हैं। पीपल का पेड़, बरगद, सांड, भैंस, तथाकथित पशुपति की योगमुद्रा (मुझे तो यह बुद्ध की याद दिलाती है), राइनो... ये सब इस प्रायद्वीप में पाए जाते हैं और खालिस भारतीय हैं।

इस संबंध में रोज़ेटा शिला का उल्लेख बहुत मौजूं है। मिस्र की लिपियों को पढ़ना भी उसी तरह की पहेली रही है जैसी हड़प्पा की। परंतु मिस्र की लिपियों को पढ़ने का गुर बनी थी यही रोज़ेटा शिला। रोज़ेटा नामक स्थान पर मिली इस शिला पर एक ही पैगाम तीन अलग-अलग भाषाओं में खुदा है— प्राचीन मिस्र की हायरोग्लिफिक्स, डेमोटिक और यूनानी। यूनानी भाषा के लेख को पढ़कर उसकी तुलना अन्य दो भाषाओं से करके, इन प्राचीन भाषाओं को पढ़ने में सफलता मिली। आज हड़प्पा सभ्यता का ऐसा कोई शिलालेख नहीं मिला है। परंतु मैं ढोलावीरा गई थी, जहां हड़प्पा सभ्यता का एक विस्तृत स्थल है। इसकी खुदाई अभी चालू है और पूरी होते-होते 10-12 साल का समय लगेगा। ऐसी आशा कर सकते हैं कि यहां लिखावट के और बहुत सारे उदाहरण मिलेंगे, जिनमें एक ही जगह ज्यादा शब्द होंगे। तब इस लिपि का राज़ शायद खुलेगा।

हड़प्पा की लिपि को समझने के लिए ऐरावथम महादेवन ने 70 के दशक में बड़ा गहन काम किया। उन्होंने हड़प्पा में मिली 3,455 मुहरों, पात्रों पर बने चिन्हों और अन्य चीज़ों पर बनी 3,573 पंक्तियों का अध्ययन किया। लिपि के 417 चिन्हों को परिभाषित किया। एक कम्प्यूटर प्रोग्राम विकसित किया गया, जिसमें चिन्हों की स्थिति और उपयोग सुनिश्चित कर लिया गया। चिन्हों के सामंजस्य (कंकार्डेंस) को दर्शाने की महादेवन की यह कोशिश हड़प्पा की लिपि समझने की दिशा में बड़ा काम है

1095 00	
3202 00	
1106 00	
5108 00	
2696 01	
02	
9205 00	
4843 00	
5100 00	
7204 00	
2311 00	
6120 00	
2074 00	
1100 00	
2693 00	
4230 00	
2492 00	
3069 00	
4272 00	
1149 00	
1048 00	
4010 00	
1333 00	
2611 01	
02	
1396 01	
02	

ऐरावथम महादेवन, 1977

उसी सामंजस्य का एक नमूना। इस किताब में चिन्हों की पूरी सूची है–वे कहां-कहां आते हैं, और किस चिन्ह के साथ

	0	0	3	0	3
	0	0	0	1	1
	0	1	2	2	5
	0	11	45	3	59
	3	1	420	971	1395
	0	20	152	5	177
	3	4	26	2	35
	0	25	24	2	51

यह चिन्ह सबसे ज्यादा आया, 1,395 बार

	291		1
	1		9
	1		1
	1		1
	1		1
	1		1
	2		1
	11		10
	4		1
	32		1
	1		2

चिन्हों का यह जोड़ा सबसे ज्यादा, 291 बार

आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया

सड़क और मकान, कालीबंगन।

कालीबंगन जैसे शहर के पास बहने वाली नदी ही गायब हो गई। पृथ्वी की टेक्टॉनिक हलचल के कारण कई भौगोलिक परिवर्तन होते हैं, जो नदी में पानी की मात्रा को भी प्रभावित करते हैं और आबोहवा को भी।

कई अध्ययनों के ज़रिये आज यह उजागर हो रहा है कि जिन जलवायु संबंधित कारणों की वजह से इण्डो-आर्य भाषी दूर-दूर तक भटक रहे थे, शायद उन्हीं कारणों की वजह से ये नदी घाटी सभ्यताएं भी उजड़ रही थीं। पृथ्वी के उत्तरी हिस्सों का तापमान कम हो जाने और ग्लेशियल अवधि की वजह से काफी बर्फ जम गई। बर्फ जमने के कारण नदियों में पानी की मात्रा कम हो गई। नदियां सूख गई और अन्य इलाकों की जलवायु भी शुष्क हो गई। इस सबका मिला जुला असर यह हुआ कि जमीन अनुपजाऊ हो गई। मौजूदा राजस्थान ऐसी ही कई सूखी नदियों की भूमि है। दरअसल, सिन्धु के पूर्व और यमुना के पश्चिम के दरम्यान किसी जमाने में कई नदियां रही होंगी—घघ्घर (पुरानी सरस्वती), मरकण्डा, सरसुती, चौतांग (पुरानी दृषाद्वति) और हकरा।

आज जब हम उपग्रहों के ज़रिये पूरी धरती का अवलोकन करते हैं, तब नदियों के मार्ग के कई चिन्ह दिखाई पड़ते हैं। इन मार्गों की पहचान होती है उस हिस्से में पड़े हल्के से गड्ढे और नमी की अधिकता के द्वारा। ये मार्ग एक दूसरे को काटते हुए एक पेचीदा जाल सा बनाते हैं। धीरे–धीरे इस गुत्थी को सुलझाया जा रहा है। यह पूरा चित्र इसी कारण से उलझा हुआ है कि सारी नदियां एक साथ नहीं सूख गईं। उनके सबके प्रवाह एक समान नहीं रहे। उनके रास्ते बदलते रहे, कभी वे एक-दूसरे से जुड़ गईं तो कभी जुदा हो गईं, कभी ऊपर से गायब होकर भूमिगत हो गईं, तो कभी अचानक वापिस बाहर निकल आईं। कुल मिलाकर इन नदियों की ज़िन्दगी काफी घटनापूर्ण रही है।

उनकी ज़िन्दगी में किस समय, किस तरह के हादसे हुए, किस तरह के बदलाव हुए, यह जानने के लिए कई तरीके अपनाए जाते हैं। इनमें से एक महत्वपूर्ण तरीका पुरातत्विक खुदाई का रहा है। नदी का मार्ग पहचानकर उसके किनारे और पाट में खुदाई करके अवलोकन किए गए। मसलन यह देखा गया कि सरस्वती पर हड़प्पा-पूर्व और हड़प्पा कालीन बस्तियां (जैसे कालीबंगन) कई सारी हैं किन्तु इसके बाद वाली नहीं है। दूसरी तरफ चौतांग के तट पर बाद वाली बस्तियों के ही अवशेष मिलते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि सरस्वती चौतांग से पुरानी नदी है और पहले सूख गई थी। सरस्वती के तट पर उसके पाट में चित्रित भूरे बर्तनों के टुकड़े मिलते हैं, जो आज से 2800-2500 साल पहले प्रचलित थे। शायद पानी का स्रोत उस दौरान घटता जा रहा था और आगे चलकर पूरी तरह सूख गया।

इस तरह पुरातत्व और उपग्रह के ज़रिये जो चित्र उभर रहा है वह कुछ इस तरह का है : उस समय जो आबादियां एक जगह टिककर रहती थीं, वे ज़मीन की उर्वरता और सिंचाई के पानी पर निर्भर थीं। भौगोलिक परिस्थितियां बदलने के साथ-साथ इन दोनों में ही परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों के चलते यह नामुमकिन हो गया कि ये आबादियां उसी समृद्धि से बसी रहतीं। वे कुछ हद तक डगमगा गईं। इसके साथ, दूसरी तरफ, इन्हीं परिवर्तनों के कारण दुनिया के अन्य हिस्सों में रहनेवाले, भिन्न जीवनशैली वाले इण्डो-आर्यभाषी भी अपना स्थान छोड़ इस ओर आने को मजबूर हुए। यहां की सभ्यता कमज़ोर और मृतप्राय पहले से थी। ऐसी स्थिति में इण्डो-आर्य भाषियों के आने का बहुत भारी असर हुआ।

यह एक विश्वव्यापी बदलाव का दौर था। हर जगह जलवायु बदल रही थी और दुनिया के हर हिस्से के इतिहास पर इसका असर पड़ा। आज मौसमविज्ञान की विकसित तकनीकें, जिनसे विश्वभर की जलवायु का अध्ययन किया जाता है, क्या ये भविष्य में होने वाले ऐसे जलवायु परिवर्तनों को एक अलग दिशा दे पाएंगी?
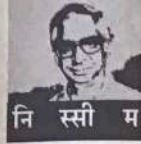
नि स्सी म

क्या हो रहा था उन शहरों में ?

म्यूज़ियम में हड़प्पा सभ्यता के अवशेष देखने के बाद हम सबको यह सवाल सताता रहा कि ये शहर उजड़ क्यों गए? इनके लोग कहां गए? मुझे यह ज़िम्मेदारी दी गई कि मैं इस संबंध में हो रहे शोधकार्य का अध्ययन करूं और पता लगाऊं कि इस दिशा में क्या-क्या अनुमान हैं। मुझे इसका एक ब्यौरा भी तैयार करने को कहा गया।

आज की स्थिति देखने पर जो बात मुझे छू गई वह थी कि इस तरह के शोध के लिए एक बहुविषयी रवैया ज़रूरी होता है। आज जो चित्र हमारे सामने आया है वह इतिहासकारों, पुरातत्वशास्त्रियों, वैज्ञानिकों (भौतिक व रसायन शास्त्री), भूवैज्ञानिकों, भूगोलशास्त्रियों, आदि के मिले-जुले प्रयासों का नतीजा है। इन सभी ने अपने-अपने विषयों में काम करते हुए भी एक सामूहिक दिशा और परिप्रेक्ष्य अपनाया। तब कहीं जाकर अतीत की गुत्थियां सुलझाने का जुगाड़ जमा। नीचे जो लिख रहा हूं वे सारे अनुमान ही हैं क्योंकि पक्के तौर पर कुछ कह पाना शायद कभी संभव न हो। किन्तु ये अनुमान निराधार नहीं हैं। इनकी बुनियाद में हैं ठोस अवलोकन और प्रयोग। मसलन रेडियो-कार्बन डेटिंग (या कालनिर्धारण) जैसी विधियां जिनसे यह पता लगाया जाता है कि कोई वस्तु कितनी पुरानी है। या अन्य भौगोलिक अवलोकन जिनसे बदलते भौगोलिक यथार्थ का अता-पता लगाया जाता है।

हड़प्पा सभ्यता के कुछ स्थान। यह मानचित्र सांकेतिक है, सटीक नहीं

सबसे पहला अनुमान तो यह था कि ख़ानाबदोश इण्डो-आर्य भाषी मध्य एशिया से यहां आए और उन्होंने इस घाटी के निवासियों को यहां से मार भगाया। इन हमलावर इण्डो-आर्य भाषियों के साथ हुए युद्ध में बड़ी तादाद में लोग मारे गए और शहर उजड़ गए। ऐसा ही कुछ मोटा-मोटा अनुमान था। परन्तु धीरे-धीरे पता चला कि इन आर्य भाषियों का कोई एक बड़ा हमला नहीं हुआ था। वे तो एक अरसे तक लगातार आते रहे और बार-बार मुठभेड़ें होती रहीं। इसके अलावा यह भी पता चला कि ये ख़ानाबदोश जिस तरह से यहां आए, उसी तरह से अन्य नदी घाटी सभ्यताओं की ओर भी गए। ऐसा अंदाज़ है कि उस दौरान धरती की जलवायु में कुछ इस तरह के बदलाव हो रहे थे कि इन ख़ानाबदोशों को चारागाह की तलाश में दूर-दूर तक जाना पड़ा।
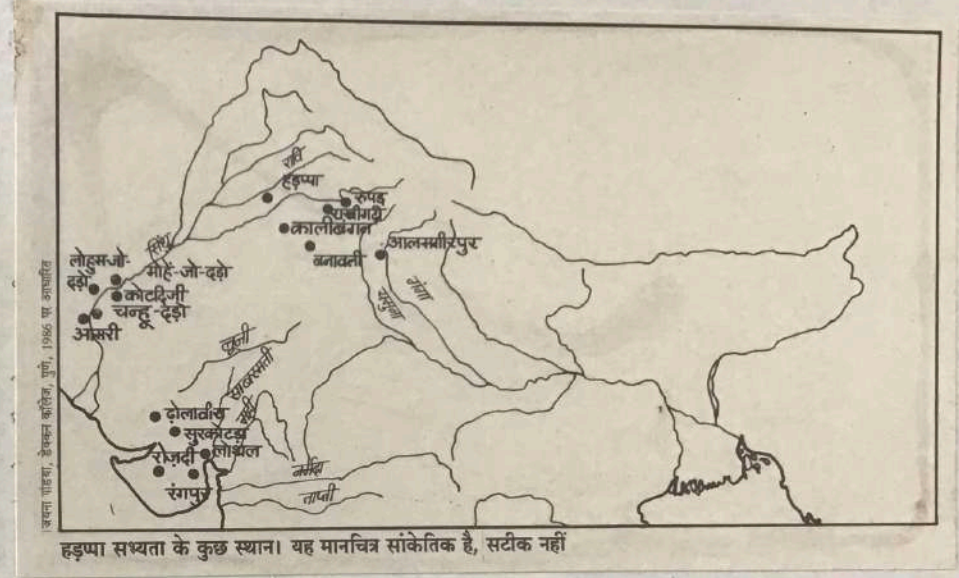
इनके हमलों के सामने हड़प्पा सभ्यता के शहर क्यों धराशायी हो गए? इसका उत्तर भी जलवायु के परिवर्तनों में ही मिलेगा ऐसा माना जाता है। नदियों पर आधारित इन सभ्यताओं की ताकत पानी के स्रोतों पर, और खास कर नदियों पर निर्भर थी। इन स्रोतों में बदलाव का असर उनकी ताकत पर होना तय था। और अगर किसी सभ्यता की आबादी कमज़ोर हो जाए, तो बाहरी हमलों के सामने उसकी पराजय निश्चित है।

एक जाने-माने पुरातत्वशास्त्री और हमारे करीबी दोस्त व सलाहकार डी.पी. अग्रवाल ने नदियों का वर्णन कुछ इस प्रकार किया है। "नदियां लम्बे समय तक भरोसेमन्द नहीं होतीं। राजनीतिज्ञों के समान वे अपना रास्ता और (अन्य नदियोंसे) दोस्तियां बदलती रहती हैं, वे दूसरी नदी से जुड़ जाती हैं, भूमिगत हो जाती हैं और कभी-कभी तो अन्य नदियों के सर कलम तक कर देती हैं।" नदियों पर आश्रित हड़प्पा घाटी के शहर भी शायद नदियों के अजीब बर्ताव के कारण ही उजड़ गए। ऐसे सबूत ज़रूर मिले हैं जिनसे पता चलता है कि हड़प्पा के शहर शायद सिंधु नदी की बाढ़ में ध्वस्त हुए परन्तु

लौह युग
ईसा पूर्व 2000 से ईसा पूर्व 500 तक

४

धर्मवीर भारती के नाटक 'अंधायुग' के एक दृश्य में अश्वत्थामा अपना विख्यात ब्रह्मास्त्र फेंकता नज़र आता है। एक नाभिकीय (न्यूक्लियर) विध्वंस का दृश्य उभरता है, और उभरता है यह प्रश्न : क्या इण्डो-आर्य भाषियों का विज्ञान यही था? और इसका जवाब ठोस सबूतों में मिलता है। उनके पास लोहा था, बेहतर घोड़े थे, हत्थे वाली कुल्हाड़ी थी, स्पोक वाले पहिए थे। ये कुछेक महत्वपूर्ण चीज़ें थीं। दंतकथा से कविको प्रेरणा मिलती है, संस्कृति की पहचान बनती है। इसे इतिहास मान लेना दोनों को झुठलाना होगा।

इसके बाद हम लौह टेक्नॉलॉजी के सामाजिक प्रभावों पर गौर करते हैं। जंगल की कटाई, और लोहे के हल की बदौलत सुधरी खेती ने मिलकर नए शहरों की नींव डाली थी। यह हड़प्पा सभ्यता के पतन के करीब एक हज़ार साल बाद गंगा घाटी में हुआ। आदिवासी व्यवस्था के बिखरने के कारण ऋग्वेद में वर्णित 'ऋत' की विज्ञान-पूर्व अवधारणा गुम हो गई।

मेगालिथिक सभ्यता, जो दक्षिण में ज्यादा पुख्ता थी, से हमें इस दौर का ज्यादा समग्र चित्र मिलता है। खुदाई में मिली एक भट्टी से पता चलता है कि मेगालिथिक ज़माने की लोहा गलाने की प्रक्रिया लगभग वैसी ही थी जैसी हम आज के बस्तर इलाके में पाते हैं।

हम दो पुरातत्विक शहरों कौशाम्बी और राजगीर की सैर करते हैं। उभरते ब्राह्मणीय रूढ़िवाद की चर्चा की जाती है। साथ में हम यह भी देखते हैं कि हवन कुण्ड के निर्माण से किस ढंग की ज्यामिती का विकास हुआ। बढ़ते सामाजिक तनाव और बौद्ध व जैन दर्शनों के जन्म के साथ यह कड़ी समाप्त होती है।
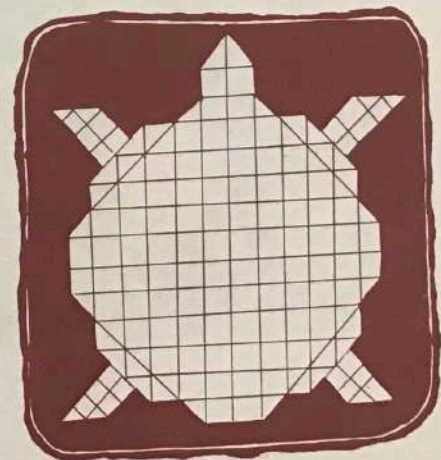
और वे ख़ानाबदोश यहां के हो गए

"भारतवासी" कौन हैं यह सवाल मुझे हमेशा से सताता रहा है। इस आधी सदी में ही एक से तीन बनने वाले इस देश के माने क्या हैं? नक्शे में आड़ी तिरछी घुमावदार रेखाओं से ही क्या एक देश सीमाबद्ध होता है? क्या किसी देश के वासी हमेशा नक्शे की परिधिओं को स्वीकारते हैं? हड़प्पा सभ्यता का फैलाव तो आज के भारत की सीमाओं से बिल्कुल भी नहीं बंधा था। आज के माहौल में जब लगातार देश के विभाजन और बाहरी देशों के हस्तक्षेप की बात आती है, जब एक देश का दूसरे देश पर कब्ज़ा करना विश्व का मामला बन जाता है, जब हर देश के अंदर राष्ट्रीयता या सम्प्रदाय के सवाल मुंह बाये खड़े हैं और जब हर समूह यह सिद्ध करने पर तुला है कि वही धरती के इस टुकड़े का खास हकदार है तब तो यह सवाल और उसके जवाब की तलाश यह हमारे वर्तमान के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण हो जाती है।

हड़प्पा सभ्यता के ढलते दिनों में इसके संपर्क में आए कुछ लोग, जो आगे चलकर यहीं के हो कर रह गए। मध्य एशिया में उस दौरान इस तरह की नदी-घाटी सभ्यताएं नही थी। वहां के लोग तब ख़ानाबदोश थे। एक तरह से पशु पालक, जो कभी एक जगह पर नहीं टिकते थे और न ही एक जगह पर जड़ें जमा पाते थे।

अपने पाले गए जानवरों के साथ वे तो घूम रहे थे चारागाह और भोजन की तलाश में। मध्य एशिया से ये लोग अलग-अलग दिशाओं में निकले और इनका पाला पड़ा अलग-अलग सभ्यताओं से। इस संपर्क ने काफी सारे प्रदेशों के इतिहास का रुख ही बदल दिया।

अपने आप से एकदम भिन्न नदी-घाटी सभ्यताओं ने उन्हें ज़रूर आकर्षित किया होगा। ज़रूरत से ज्यादा अन्न की उपज और संग्रह, इससे अन्य तरह की जीवनशैली का विकास, अन्य ज़रूरतों का पैदा होना, उन्हें पूरा करने के लिए किए गए प्रयास... चारागाह की खोज में भटकते इन लोगों को उन नदी-घाटी सभ्यताओं ने किन नज़रों से देखा? क्या उन्हें केवल जीवन की सौम्य धारा पर लगातार हमले करने वाले कुछ हमलावर झुण्ड के रूप में ही देखा गया? दुनियाभर
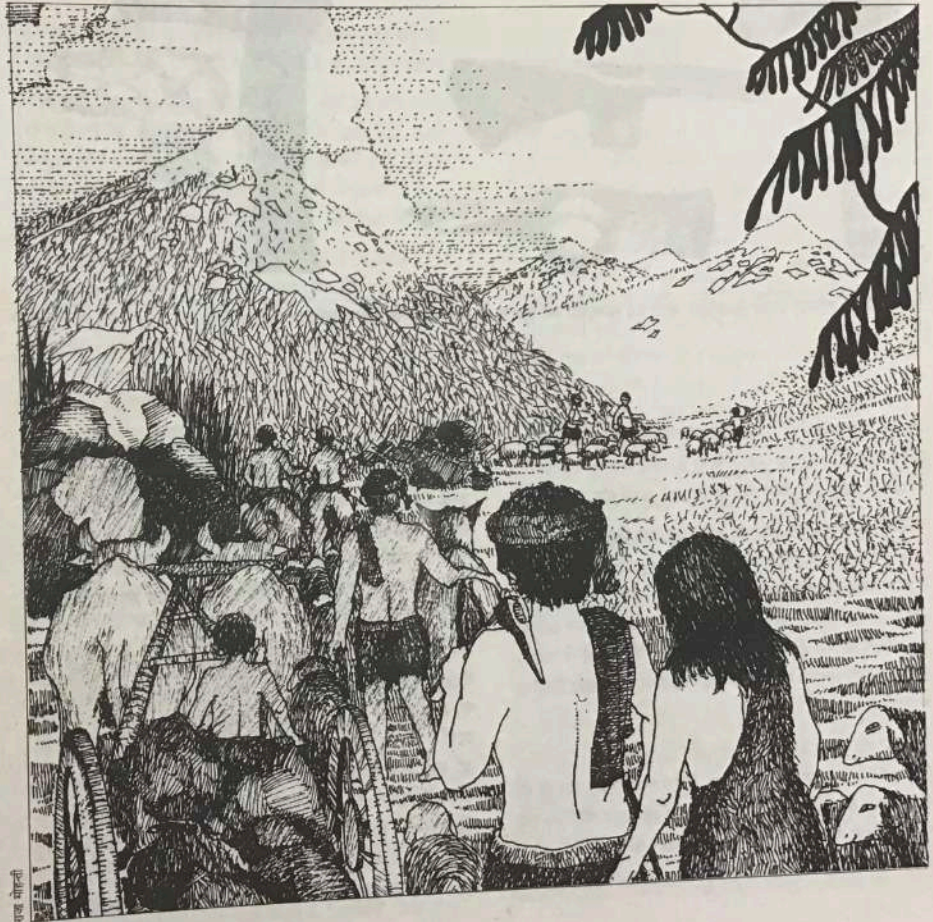
मेगालिथिक संस्कृतियां— एक समांतर धारा
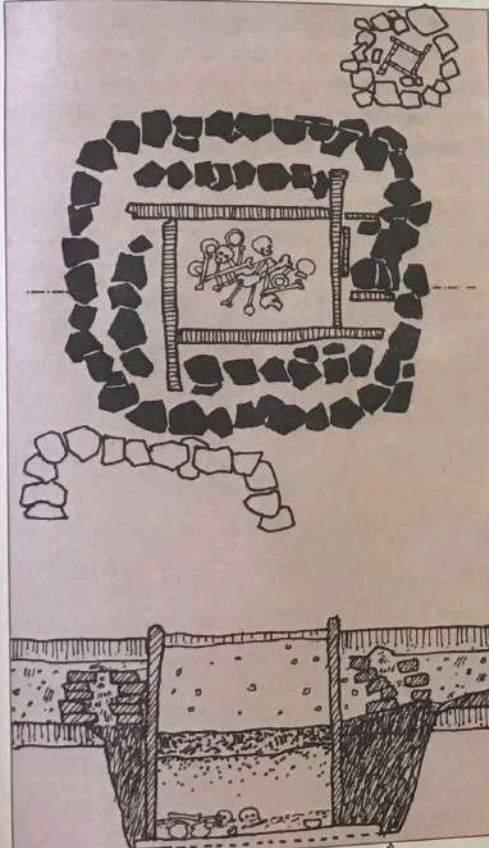
'स्टोनसिस्ट' प्रकार की मेगालिथिक कब्र। प्लान और क्रॉस-सेक्शन

राजा मोहन्ती, ब्रिजिट और रेमण्ड ऑल्चिन, 1968 पर आधारित

मैं ने इस फ़िल्म के दौरान रुककर सोचना कब शुरू किया, मुझे पता ही न चला। यकीन हुआ जब मैंने मेगालिथिक सभ्यताओं के अवशेष देखे। पुनर्जन्म की कल्पना से मैं प्रभावित रही। और इस प्रकार की कल्पना करने की उनकी सामर्थ्य से अचंभित भी हुई।

मृत्यु के बाद क्या? इसका आध्यात्मिक, धर्म से जुड़ा विवेचन तो सुना है। आज तो इन्सान इस सवाल में सिर खपा रहे हैं कि गर्भावस्था में जीवन की शुरूआत कब होती है। कहां से कहां पहुंच गए हैं हम लोग! और इन सारे सवालों के जवाब खोजने की नींव शायद इन मेगालिथिक संस्कृतियों में पड़ी थी।

मेरे सोच-विचार ने इन संस्कृतियों की कई व्यवहारिक बातों का खुलासा किया। इन संस्कृतियों का और भी व्यवहारिक दृष्टिकोण लोहा बनाने की प्रक्रिया में झलकता है। लोहे को गलाकर अशुद्धियां दूर करना संभव नहीं था क्योंकि इसके लिए बहुत ऊंचे तापमान की ज़रूरत थी। तो, उन्होंने अशुद्धियों को गलाकर अलग करने की क्रिया अपनाई। कितना स्वाभाविक लगता है आज यह अवलोकन लेकिन उनको शायद यह अवलोकन करने में भी समय लगा होगा।

मुझे हमेशा एक विचार ने परेशान किया था। क्या हड़प्पा संस्कृति और इण्डो-आर्य भाषियों के बीच की अवधि में इस भूखण्ड पर कोई सभ्यता थी ही नहीं? ऐसा माना जाता है कि इस अवधि में मेगालिथिक संस्कृतियां फली फूलीं।

राजा मोहन्ती
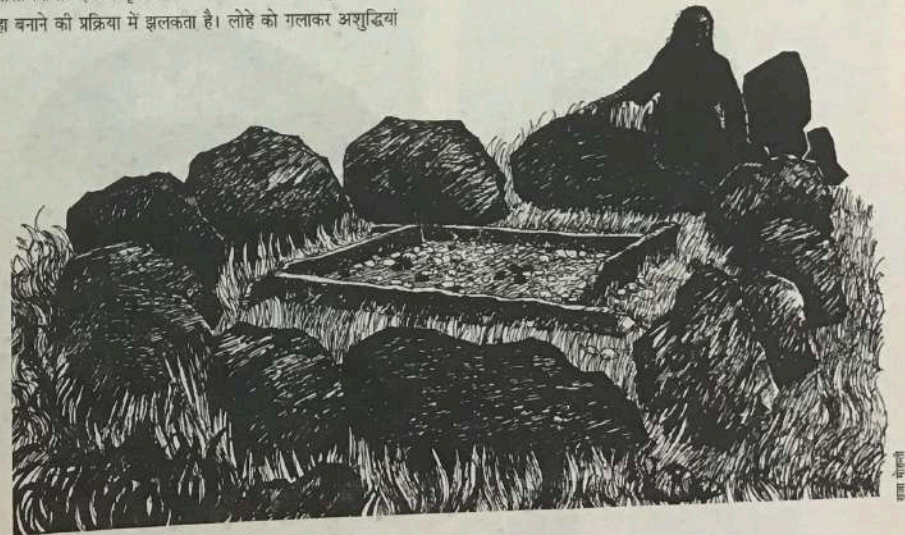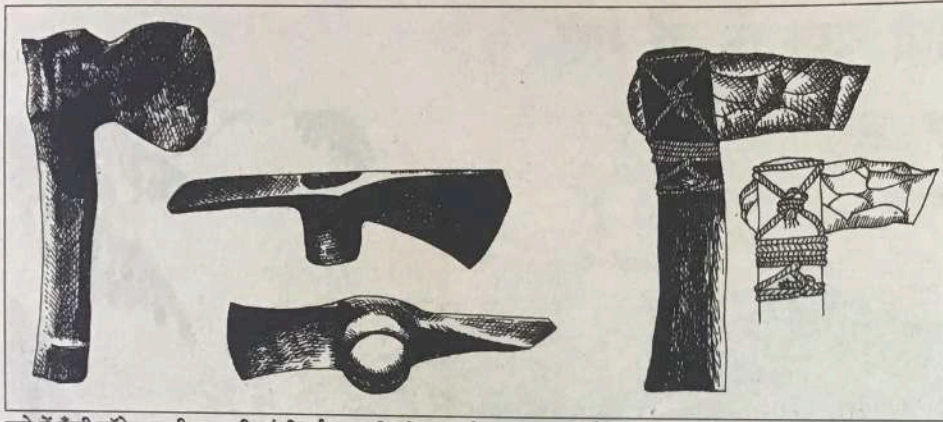
हत्थे में फँसी सॉकिट वाली कुल्हाड़ी। बंधी हुई कुल्हाड़ी की तुलना में सुविधाजनक और कार्यक्षम
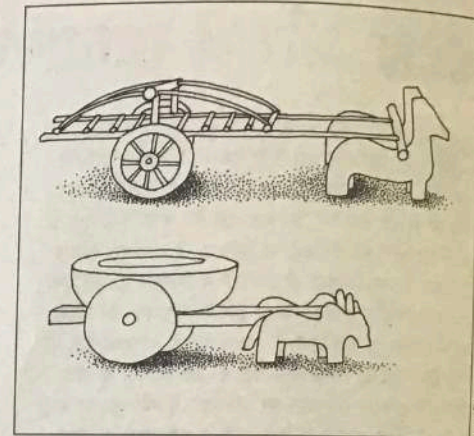
हड़प्पा युग के ठोस पहिए। इन्डो-आर्य भाषियों ने 'स्पोक्स' वाले हल्के पहिये बनाएं जो कम ताकत खर्च कर तेज़ी से घूमते और उबड़-खाबड़ रास्तों पर भी तेजी से चलते थे।

की नदी घाटी सभ्यताओं ने मध्यवर्ती एशिया के खानाबदोश झुण्डों के इस तरह के हमलों का सामना किया है। कोई एक झुण्ड बड़ा हमला नहीं करता था। छोटे-छोटे हमले लम्बे समय तक चलते रहे।

पर क्या इस प्रक्रिया को आज भी हम केवल एक प्रदेश के लोगों के ऊपर दूसरे प्रदेश से आए लोगों द्वारा किए गए हमले के रूप में ही देखेंगे? क्या यह मानना सही है कि इन इण्डो-यूरोपी भाषियों ने हड़प्पा सभ्यता नष्ट कर दी? या यह कि हमारा एक उज्जवल अतीत इन जातियों की भेंट चढ़ गया? क्या भारतवासी मात्र वे ही हो सकते हैं जिनके पूर्वज हड़प्पा सभ्यता के समय आज के नक्शे द्वारा निर्धारित भूखण्ड पर रहते थे?

मूल मुद्दा यह लगता है कि ज़मीन का कोई भी हिस्सा न हमेशा-हमेशा के लिए एक ही समुदाय विशेष का रहा है, और ना ही रहेगा। हमारे इतिहास में एक तारीख के पहले आए हुए लोगों को इस धरती का हकदार मानना और दूसरों को निकलने को कहना यह बिल्कुल ही जायज़ नहीं लगता। क्या हम इस प्रक्रिया को दो भिन्न संस्कृतिओं के मेल-जोल के रूप में नहीं देख सकते? यह तो सभ्यताओं के परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करने की प्रक्रिया है। उनके सह-अस्तित्व के लिए यह अत्यंत ज़रूरी है कि उनमें लेन-देन हो। अब इसका नतीजा क्या निकलेगा, यह तो इस बात पर निर्भर करेगा कि उस समय समाज को एक स्थायी दिशा में आगे बढ़ने के लिये क्या ज़रूरी था और उस समय समाज में शक्ति संतुलन कैसा था।

मध्य एशिया से आने वाले इण्डो-आर्य भाषियों के पास कुछ ऐसी चीज़ें थीं जिनके कारण एक तरह से हड़प्पा सभ्यता के मूल सिद्धांतों पर एक नई तरह की सभ्यता पनपी। जब भी यह कहा जाता है कि आर्यों ने हड़प्पा सभ्यता को खत्म कर दिया तब पता नहीं क्यों यह नहीं कहा जाता कि उन्होंने खुद भी अपनी खानाबदोश जीवनशैली को तिलांजली दे दी। इस मायने में तो उनके लिए भी यह एक बड़ा परिवर्तन रहा। शायद यह कहना ज्यादा बेहतर है कि इन दोनों के मेल मिलाप से एक नई जीवन शैली पनप सकी जिसने सभी चीज़ों का इस्तेमाल किया। एक तरफ स्थायी नगरीय नदी-घाटी सभ्यता के सिद्धांत तो दूसरी तरफ इण्डो-आर्य भाषियों की पालतू घोड़े, पहिया और लोहे के बढ़िया औज़ार तथा हथियार पर आधारित मजबूत सुरक्षा प्रणाली। यह संमिश्रण था सिंचित खेती प्रणाली का और लोहे के उन औज़ारों का जिनके द्वारा खुदाई तो अच्छी होती ही थी पर जंगलों के पेड़ काटकर खेती के लिए और ज़मीन भी उपलब्ध हो सकती थी। यह मेल था तांबे और पीतल की रईसी सभ्यताओं का और लोहे जैसे 'आम इंसान' की धातु के रोज़मर्रा के जीवन में इस्तेमाल का। यह जुड़ाव था उन छोटी-बड़ी सभी चीज़ों का जिनसे संस्कृतियां बनती हैं और परिभाषित भी होती हैं।

इस तरह के कितने ही प्रभावों का मिला-जुला रूप है हमारी आज की 'भारतीय' संस्कृति और हमारे वर्तमान 'भारतवासी'। इन प्रभावों को मद्देनज़र रखें तो लगता है कि हमारे आज के फसाद जो यह तय करने पर आमादा हैं कि सच्चे भारतवासी कौन हैं और भारतीय संस्कृति क्या है, वे बहुत ही खोखली नींव पर खड़े हुए हैं।

नि स्सी म

'आर्य': एक ग़लतफ़हमी

हमने फ़िल्मों में जानबूझकर एक शब्द या जुमले का उपयोग किया है। वह है 'इंडो-आर्य भाषी'। हड़प्पा सभ्यता के अंतिम वर्षों से लेकर ईसापूर्व लगभग 100 तक जो लोग यहां आते गए उन्हें सामान्यत: सिर्फ 'आर्य' कहा जाता है। हमने इन लोगों के लिए एक अलग सा शब्द का प्रयोग किया है। इसके पीछे हमारी कुछ समझ है। परन्तु हैरानी की बात यह है कि बहुत से लोग सुनते तो 'इंडो-आर्य भाषी' हैं, लेकिन समझ लेते हैं वही 'आर्य'। इन दो शब्दों में जो फर्क है, उससे या तो वे बेखबर हैं या इसे ज्यादा महत्व नहीं देते। ग़लतफ़हमी जब प्रचलित हो जाती है तो कितनी शक्ति पा जाती है। सही शब्द के प्रयोग से वह ग़लतफ़हमी खत्म नहीं होती, बल्कि उस शब्द को ही बेमानी कर देती है।

इस शब्द (इंडो-आर्य भाषी) के पीछे जो सोच है वह महत्वपूर्ण इसलिए है क्योंकि इंडो-आर्य भाषियों को लेकर हमारे यहां बेशुमार ग़लतफ़हमियां व्यापक स्तर पर घर कर चुकी हैं। इनमें से पहली ग़लतफ़हमी तो यह है कि कई सदियों के दौरान जो इण्डो-आर्यभाषी यहां आते रहे, वे सारे एक ही नस्ल के लोग थे। उन्हें 'आर्य' कहने में, नस्ल की ही धारणा झलकती है। किसी भाषा और इससे जुड़ी सभ्यता का फैलना और किसी नस्ल का फैलना, ये दो अलग-अलग बातें हैं। और इन्हें अलग-अलग रखना ज़रूरी है।

यहां ब्रिटिश हुकूमत के दौरान और बाद में भी अंग्रेज़ी भाषा और उससे जुड़ी सभ्यता फैली। इसके आधार पर यह कहा जाए कि गोरी चमड़ीवाली, सुनहरे बालों वाली, नीली आंखों वाली अंग्रेज़ नस्ल यहां फैल गई, तो यह बिलकुल बेतुकी बात होगी। इस बात का बेतुकापन तो हमें साफ समझ में आ जाता है क्योंकि हकीकत हमारे सामने है। पर जब हम 'आर्य' लोगों के फैलने का ज़िक्र इस तरह करते हैं जैसे किसी नस्ल के फैलने की बात कर रहे हों, तो यह भी उतनी ही बेतुकी बात होती है।

आर्य नस्ल (या जाति) की कल्पना का भी एक इतिहास है। अंग्रेज़ लोगों ने जब हम पर हुकूमत जमाई, तो उस दौरान हम अपना आत्मसम्मान खो बैठे थे। अपने खोए हुए आत्मसम्मान को पाने की चेष्टा में एक दौर आर्य नस्ल की कल्पना का भी था। लेकिन कल्पना सिर्फ आर्य नस्ल तक सीमित नहीं रही। इससे जुड़ी एक और कल्पना भी गढ़ी गई कि आर्य लोग उस समय दुनिया के सबसे श्रेष्ठ, सबसे अगुआ लोग थे। हम उस श्रेष्ठ, अगुआ नस्ल के वारिस हैं, तो हम भी श्रेष्ठ हैं, वगैरह। तो, आत्मसम्मान की उंगली पकड़कर आत्मश्लाघा और मुगालता कितनी आसानी से प्रवेश कर लेते हैं।

इस बात का असर उन लोगों पर भी दिखाई देता है जो जाति व्यवस्था के तहत् अपना आत्मसम्मान खोजने निकले। इसके अन्तर्गत प्रयास यह होता है कि अपना इतिहास, अपना आत्मसम्मान इस तथाकथित (कपोल-कल्पित) 'आर्य' परम्परा से जोड़ दो। अपने रीति-रिवाजों को और भी आर्य-नुमा बना दो। समाज शास्त्रियों ने इस प्रक्रिया को एक नाम भी दिया है— संस्कृतकरण। यह वास्तव में आर्यकरण अथवा ब्राह्मणकरण का ही शालीन नाम है। इस संकीर्ण दायरे को तोड़कर अपना अलग रास्ता खोजनेवालों में मुझे आंबेडकर, फुले,नायकर जैसों की ही परम्परा दिखाई देती है।

इंडो-आर्य भाषियों का यहां आना और बसना एक हज़ार साल से भी लम्बी प्रक्रिया का एक हिस्सा है। वास्तव में यह इंडो-यूरोपीय भाषा समूह के फैलने की हलचल थी। आबोहवा के जिस बदलाव ने तांबे-कांसे युग की सारी शहरी सभ्यताओं के शहरी, केन्द्रीकृत पहलू के सामने खतरा पैदा कर दिया था उसी बदलाव का दूसरा परिणाम यह हलचल थी—सिक्के का दूसरा पहलू। एक तरफ यूरोप के कोने-कोने और दूसरी तरफ भारतीय उपमहाद्वीप तक एशिया को छूती हुई यह हलचल किसी एक नस्ल की नहीं हो सकती। लोगों का प्रवास और भाषा का प्रवास, दोनों इसमें बराबर के हिस्सेदार हैं।

इसी में से जिस 'प्रवास' ने भारत उपमहाद्वीप की ओर रुख किया और दो हिस्सों में बंट गया, उस भाषा के समूहों को आज हम इंडो-इरानियन और इंडो-आर्यन भाषा समूह कहते हैं। श्रेष्ठता और अगुआपन की धारणाएं कितनी संस्कृतिजन्य होती हैं, इसका बहुत ही दिलचस्प उदाहरण हमें इन दो भाषा समूहों में मिलता है। इंडो-आर्यन

इंडो-आर्य भाषा समूह की धारणा भाषा पर आधारित है। भाषा के विश्लेषण के आधार पर हम इन समूहों की सभ्यता के अन्य पहलुओं का भी पता लगाते हैं और उस समय की सभ्यता में शामिल करते हैं। परन्तु जब तक ऐसे पहलुओं का कोई स्वतन्त्र सबूत नहीं मिलता तब तक यह मात्र एक अनुमान या संभावना ही कही जा सकती है। अर्थात् भाषा विश्लेषण के आधार पर सभ्यता की जांच पड़ताल करने की एक सीमा है। यदि एक चुटकुला याद रखेंगे, तो यह सीमा स्पष्ट नजर आती रहेगी। इंडो-यूरोपीय समूह में गाय के लिए तो तत्सम शब्द है पर दूध के लिए नहीं। तो क्या इंडो-यूरोपीय सभ्यता की गायें दुधारू नहीं होती थी?! नीचे कुछ उदाहरण दिए हैं, जो इसी सीमा के अन्तर्गत, एक सामान्य भाषाई व सांस्कृतिक परम्परा के द्योतक हैं:

नीचे दी हुई शब्दावली में अनुमानित मूल इंडो-यूरोपीय शब्द दिए गए हैं और साथ में हिंदी अर्थ और अन्य भाषाओं के संबधित शब्द दिए गए हैं। भाषाओं को सं-संस्कृत, लॅ- लैटिन, अ/इ-अवेस्तन या इरानी और इं-इंग्लिश से दर्शाया गया है। उच्चारण लगभग ठीक रखा गया है।

क्रेड : श्रद्धा (श्रद्धा-सं, क्रेडो-लॅ, झज़्दा-अ/इ,credence-इं)

पॅटर : पिता (पितृ-सं, पेटर-लॅ, father-इं)

मातेर : माता (मातृ-सं, मेटर-लॅ, मातर-अ/इ, mother-इं)

स्वेसोर : बहन (स्वसर-सं, सोरो-लॅ , श्रन्हर-अ/इ, sister-इं)

डोमो : घर (दम-सं, डोमोस-लॅ, दम्-अ/इ, domicile-इं)

वेहे : शपथ (ओह-सं, वोविओ-लॅ, आओग-अ/vow-इं)

— : नियम (ऋत-सं, अर्स/अर्टस-लॅ, अर्ट-अ/इ, order-इं)

दो : देना (दानम्-सं, डोनम्-लॅ, donate-इं)

इंडो-आर्य भाषासमूह के साथ-साथ इस उपमहाद्वीप में और भी अलग-अलग भाषा समूह थे और हैं। जब तक संस्कृत भाषा लोक भाषा के रूप में रही, और संस्कृत के नाम से रूढ़ नहीं हो गई, तब तक मेल-मिलाप का असर भाषा पर पड़ता रहा। उपमहाद्वीप के स्थानीय फल, फूल, प्राणी दर्शाने वाले और खेतीसे जुडे हुए भी कई शब्द संस्कृत में है। यहां तक कि धर्म से जुड़ी हुई चीजों के लिए भी द्रविड़, मुंडा और तत्सम ऑस्ट्रा-एशियाई भाषाओं में से शब्द संस्कृत में प्रवेश करते रहे। कुछ दिलचस्प उदाहरणों के लिए नीचे की सूची देखिए।

ऑस्ट्रो-आशियाई भाषासमूह से आए हुए

तांबूल : पान (याबलू-*मोन*, लामलू-*हलंग*)
मरिच : काली मिर्च (मेरिदसा-*सवर*)
लांगल : हल (अंकल-*ख्मेर*, लागल-*चाम*)

द्रविड़ियन भाषासमूह से आए हुए

कुंड* : कुंड (कुंटू-*तमिळ* और *मल्याळम*)
कुंतल : बाल (कूंतल-*तमिळ*, कूंदल-*कन्नड*)
खल* : खलिहान (कळम-*तमिळ* और मल्याळम)
चतुर : चतुर (चतुर-*तमिळ*, चतुरू-*तेलगू*)
दंड* : डंडा (तंटु-तमिळ, डंटु-कन्नड)
पण : बाजी (पुणई-*तमिळ*)
पंडित : पंडित (पंड़-*तेलगू*)
बल* : बल (बल-*तमिळ*)
बिल : बिल (विळवु-*तमिळ*)
महिला : स्त्री (मकळ-*तमिळ*)
वल्ली : बेल (वल्ली-*तमिळ*)

*** निशान वाले शब्द ऋग्वेद में भी पाए जाते हैं।**

भाषा समूह में 'सुर' का मतलब है देवता (यानि श्रेष्ठता व अगुआपन से जुड़ी धारणा) और 'असुर' इसका ठीक उल्टा (यानि नीचता और पिछड़ेपन की धारणा)। इंडो-इरानियन भाषाओं में अक्सर इंडो-आर्यन के 'स' का उच्चारण 'ह' हो जाता है। इंडो-इरानियन भाषाओं में 'अहुर' का मतलब देवता है और 'हुर' मतलब राक्षस।

इंडो-आर्य भाषियों समेत सारे लोगों की यह हलचल आखिर थी तो खानाबदोशों की भागमभाग। बदहाल होती जा रही जलवायु के कारण होता हुआ देशाटन। जैसे आज राजस्थान काठियावाड़ से बंजारों की टोलियां महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश के जंगलों में प्रवास करती हैं।

और तब की शहरी सभ्यताओं की तुलना में उनके पास विज्ञान टेक्नॉलॉजी का कोई बहुत विकसित जखीरा भी नहीं था। थी तो वही मामूली बातें किन्तु उस दौर में वही महत्व की हो गईं। तेज़ रथ, बेहतर कांसा, और आगे चलकर लोहा और लोहे के हथियार, हत्थे वाली कुल्हाड़ी— और हां, एक व्यवस्थित और सधी हुई मौखिक परम्परा और साथ में उतनी ही प्रबल सर्वस्पर्शी कल्पनाशक्ति। मसलन, लड़ाई में काम आने वाले कुछ गुर और ज्ञान को संजोकर किसी को सौंपने की बातें— और उससे जुड़ी भाषा। ये बातें उनसे भी आगे तक फैलीं क्योंकि उनसे मुकाबला करने वाले कबीले भी इनका उपयोग करके अपनी शक्ति बढ़ा सकते थे।

और अन्त में एक और बात पर ध्यान देना चाहिए कि यह फैलाव दोतरफा था। गैर इंडो-आर्य भाषी शब्द और रीति-रिवाज भी इंडो-आर्य भाषियों में फैलते दिखाई देते हैं। बुद्धकाल तक इतने सारे शब्द और रिवाज़ बदल चुके थे कि तब की इंडो-आर्य भाषा वाली चीज़ों को 'आर्य' मानना सिर्फ उस भाषा का प्रभाव दर्शाता है। ऋग्वेदकालीन इंडो-आर्य भाषी यदि ये सब देखें, तो आश्चर्य में पड़ जाएंगे।

सीख बस छोटी सी है। अगर इस काल से हमें कुछ विरासत में लेना है, तो वह है यह मेल-मिलाप। आदिवासियों की भूमि में घुसकर बसने की कोशिश में जो नरसंहार हुआ, उस पर गर्व करने की 'आर्य' विरासत भी चाहें तो अपना सकते हैं। सवाल है कि हम कौन सी परम्परा चुनेंगे।

हमारा माहौल आज इस मायने में 'आर्य' बनता जा रहा है। टी. वी. सीरीयल से पाठ्य पुस्तकों तक और कैलेन्डरों से उपन्यासों तक। यह सब देखकर त्रास होता है। अंग्रेज़ों के सम्मुख आत्मसम्मान की तलाश में इस 'आर्य' कल्पना का जन्म हुआ, जो आज 'हिन्दू' के नाम से बढ़ती जा रही है। अंग्रेज़ तो कब के चले गए। क्या अब भी हम अपनी विरासत के प्रति आत्मश्लाघा और मुगालते को छोड़कर एक सच्चे आत्मसम्मान का माहौल नहीं बना सकते?
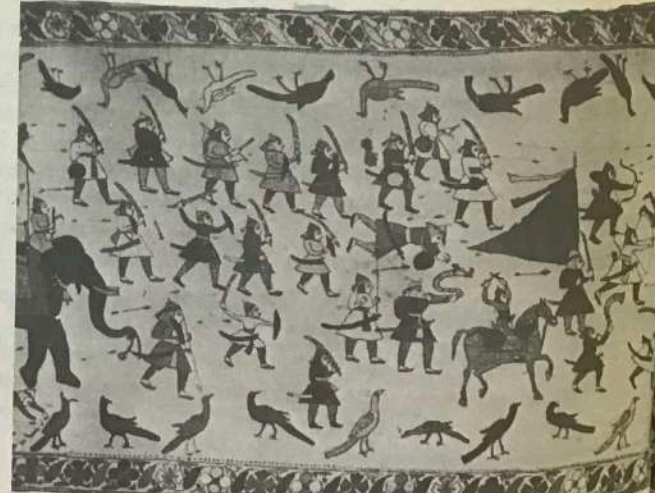
इतिहास बनाम महाकाव्य

मेरी कम्प्यूटर ट्रेनिंग की वजह से मैं ठोस बातों को ही समझ सकती हूं। अमृता जब कवि-कल्पना की बात करती है, तो उसे समझना मेरे लिए असंभव सा होता है। वह ठहरी साहित्य की अध्येता। तो, कविकल्पना क्या है, यह समझाने की कोशिश तो लगातार चलती है उसकी। वह बोलती है, मैं सुनती हूं। उसकी बातों को, अपने दिमाग की बनावट के मुताबिक ग्रहण भी करती हूं।

कुरुक्षेत्र। चम्बा की कशीदाकारी, 18 वीं सदी। महाभारत के पात्र, लेकिन पोशाक और अस्त्र-शस्त्र समकालीन मुग़ल शैली के। हर युग अपने ढंग से दंत कथाओं की व्याख्या करता है, और उनमें समकालीन अर्थ ढूंढता है।

विक्टोरिया ऐंड आल्बर्ट म्यूज़ियम, लन्दन

महाकाव्य किसे कहते हैं यह अमृता ने समझाया था। इसी दौरान उसने बताया था अपना नज़रिया, रामायण की बात, रामायण के नायक-नायिकाओं का चौदह अलग-अलग महाकाव्यों में किया गया चित्रण। कवि की कल्पना की छलांगों और कुलांचों की गति तो मेरे बूते से बाहर है।

निस्सीम का कहना मैं आसानी से समझ सकती हूं क्योंकि वे बुज़ुर्ग भी हैं और इतिहासज्ञ भी। वे बार-बार कहते हैं कि महाकाव्य इतिहास नहीं हो सकते। महाकाव्य बेशक एक चित्र खींचते हैं, जो संस्कृति का, रहन-सहन, आचार-विचार, नीतिमूल्यों का चित्र है। वह इतिहास नहीं हो सकता। इतिहास तो तथ्यों और घटनाओं का विवरण है। घटनाओं का सही वर्णन करना इतिहास का काम है और इसका मकसद है कि हम अपने वर्तमान को समझ सकें और भविष्य के लिए मार्गदर्शन ले सकें।

मैं निस्सीम की बातों से सहमत तो होना चाहती हूं पर जब आज की परिस्थितियों को देखती हूं, महसूस करती हूं, तो मुझे उनके विवेचन से तसल्ली नहीं मिलती। एक घटना युद्ध की, खाड़ी युद्ध की। उससे संबद्ध-असंबद्ध सारे देश। युद्ध की घटनाओं के बारे में हरेक देश का नज़रिया अलग-अलग है। यही घटनाएं कल इतिहास बनेंगी। हरेक देश का अपना अलग नज़रिया, अपना अलग आकलन। तो प्रत्येक देश के इतिहासकार का नज़रिया इस बात पर निर्भर है कि वह इतिहासकार किस देश में है। शायद कई तथ्य दर्ज़ भी नहीं किए जाएंगे। यानि आधार तो यथार्थ का होगा पर नज़रिया अपना-अपना। कविकल्पना का आधार भी काफी हद तक कवि का यथार्थ ही होता है।

और ज्यादा दूर क्यों जाएं, अपने देश का ही एक ताज़ा उदाहरण है यह मन्दिर-मस्जिद विवाद। कुछ इतिहासकारों ने कभी ऐसी संभावना ज़ाहिर कर दी कि "हो सकता है कि...", "ऐसा होना संभव लगता है कि...", या "शायद ऐसा हुआ होगा...", वगैरह। ये सब तथ्यों और घटनाओं का विवरण ही था। परन्तु जानेअनजाने में अपने पूर्वाग्रह, अपनी आज की समझ हावी हो गई।

रामायण में चित्रित राम की प्रतिमा का आज के समाज में न तो आधार है न मूल्य। लेकिन राम को आदर्श मानना, आज के ज़माने के लोगों के लिए एक आसान रास्ता है। इतिहास इस तरह के आदर्श तो नहीं देता। आदर्श का सिलसिला तो महाकाव्य ही चला सकते हैं, रच सकते हैं। पर यहां एक दिक्कत है। महाकाव्य आदर्श ज़रूर पेश करता है परन्तु उस आदर्श को प्रस्तुत करने के लिए घटनाओं का जो ताना-बाना बुना जाता है, वह यथार्थ हो, ऐसा ज़रूरी नहीं है। तो इतिहास और महाकाव्य के मकसद में फर्क है। एक का मकसद अनुकरणीय उदाहरण (आदर्श) प्रस्तुत करना है तो दूसरे का तथ्यों की छानबीन करना। जब इन मकसदों का अदल-बदल हो जाए तो समस्या हो जाती है। मन्दिर-मस्जिद विवाद में इतिहास की जगह महाकाव्य को दे दी गई है और उसके बहाने जो कुछ इस देश में हो रहा है, वह निश्चय ही काफी हिंसक इतिहास बनेगा।

मैं सोच-सोच कर परेशान हूं, दुविधा में हूं क्योंकि निस्सीम और अमृता की सूझबूझ तो है नहीं मेरे पास। शायद आजकल इतिहास अलग रवैया अपनाता होगा पर तथ्यात्मक घटनाओं के विवरण में विभिन्नता तो रहेगी। फिर भी उसे इतिहास कहा जाएगा। अपनी तलाश के लिए मेरे पास लिखित स्रोत एक ही है— महाकाव्यों का आधार। पर अब एक बात स्पष्ट है। मैं जानती हूं कि महाकाव्य और इतिहास एक ही चीज नहीं है। राहें अलग-अलग पर मंज़िल एक हो, ऐसा नहीं है। दूसरे शब्दों में इन दो चीज़ों का स्वरूप ऐसा नहीं है कि हम कह दें कि अलग-अलग नाम होने पर भी इनका मकसद एक ही है।

इतिहास, सही स्वरूप में घटनाओं की तथ्यात्मक जानकारी है, जबकि महाकाव्य उस समाज के यथार्थ की नींव पर खड़ा कवि का कल्पनाविष्कार।

सांध्यकाल के शहर

लौह युग के शहरों से मुझे एक अपनापन सा लगता है। वास्तव में देखा जाए, तो अपनेपन का यह रिश्ता यूनान और गंगा घाटी के शहरों से ही है, जिन्हें मैं ज्यादा जानता हूं। अपनेपन का यह रिश्ता मेरे साथियों के बीच एक मज़ाक का विषय भी बन गया है। मैं भी उनके साथ हंस लेता हूं परन्तु रह-रहकर मुझे लगता है कि लौह युग के शहरों का यह दौर अपने आप में अनूठा है।

इन्हीं शहरों के दौर में भारत और यूनान दोनों जगह की विज्ञान परम्पराओं की रूपरेखा निर्धारित हुई। साथ ही दोनों जगह लोकतंत्र का विचार भी इसी समय स्पष्ट तौर पर उभरा। विचार कई दिशाओं में प्रस्फुटित हुए। कुदरत के सत्य को अणुओं व स्थिर चित्र के रूप में देखनेवाले भी और अखण्ड व निरन्तर बदलाव के रूप में देखने वाले भी। मुझे अचरज होता है कि उस दौर में अपने आसपास के सामाजिक व कुदरती मसलों के बारे में गहराई और गम्भीरता से सोचने वाली इतनी सारी विचार धाराएं अचानक एक साथ कैसे बह निकलीं।

इसका कुछ श्रेय तो बेशक लोहे को जाता है— जी हाँ, मैं निहायत गम्भीरता से कह रहा हूं। वायुमण्डल और कुछ हद तक सूर्य के प्रकाश को छोड़कर कुदरत के बाकी संसाधन पूरी धरती पर समान रूप से वितरित नहीं हैं। खनिज का वितरण तो और भी असमान है। संसाधनों का वितरण असमान न होता तो क्या पश्चिम एशिया रणक्षेत्र बनता? खैर, फिलहाल हम लोहे की बात कर रहे थे। लोहे की तुलना हम उससे पहले आए तांबे और कांसे से करते हैं। तांबे का अयस्क पिघलाने में आसान है और इसीलिए पहले तांबे की खोज हुई। किन्तु धरती पर इसकी मात्रा भी कम है और वितरण भी असमान है। इसकी तुलना में लोहे का अयस्क पिघलाने में मुश्किल तो है लेकिन यह ज्यादा मात्रा में और ज्यादा जगहों पर पाया जाता है। इसलिए लोहा बनाकर इस्तेमाल करना सचमुच एक ऐसा वैज्ञानिक कदम था, जो लोगों की रोज़मर्रा की जिन्दगी में पहुंचने की क्षमता रखता था। थोड़ी अतिशयोक्ति का ज़ोखिम उठाकर मैं यह कहूंगा कि

वचना पांडया, डी. एन. झा, 1980 पर आधारित
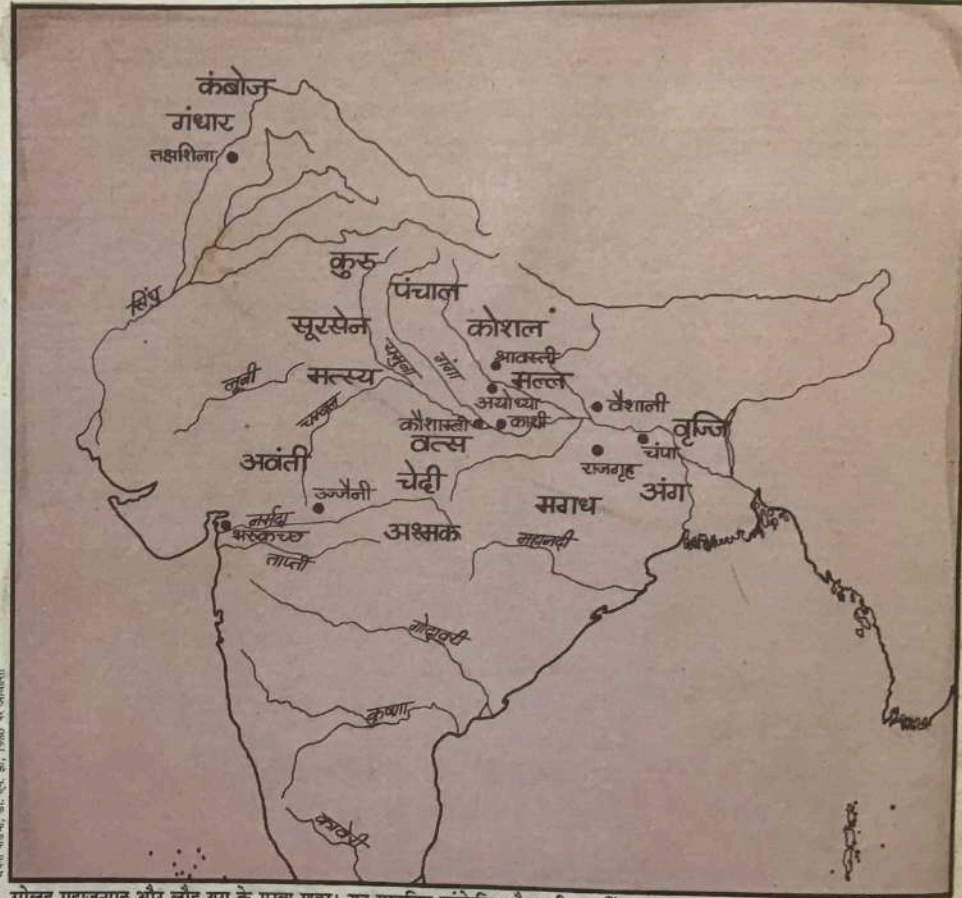
सोलह महाजनपद और लौह युग के मुख्य शहर। यह मानचित्र सांकेतिक है, सटीक नहीं

जहां तांबे-कांसे का कदम योद्धाओं के हथियारों तक आकर रुक गया, वहीं लोहे का कदम किसान के हल और लोहार-चमार के औज़ारों तक पहुंचा।

ठीक ऐसा ही अन्तर हमें लौह युग के शहरों और तांबे-कांसे के युग के शहरों के बीच भी दिखता है। तांबे-कांसे के युग के शहरों का इकॉलॉजिकल आधार बहुत संकरा था। उनकी समृद्धि इसी संकरे आधार पर टिकी थी। इस संकुचित इकॉलॉजिकल घरौंदे के बाहर समृद्धि की कल्पना सपने में भी नहीं की जा सकती थी। फिर जब यह इकॉलॉजिकल आधार ही ढह गया, तो वे शहर भी लुप्त हो गए।

इसके विपरीत, गंगा घाटी में लौहयुग के दौरान जो कुछ बन रहा था, उसका इकॉलॉजिकल आधार काफी विस्तृत था। यहां बनने वाले शहर कोई इक्का-दुक्का अपवाद स्वरूप नहीं थे। ये तो बढ़ती पैदावार, व्यापार और सामाजिक संगठन के तार्किक परिणाम थे। तांब-कांसे के युग के शहरों के समान इनका लुप्त होना मुश्किल था।

लेकिन इतिहास के कदम इतने सीधे तो पड़ते नहीं। विज्ञान के फायदे, बढ़ी हुई पैदावार का उपभोग, खुद-ब-खुद तो सब लोगों को नहीं मिलने लगते। उस समय भी नहीं मिल रहे थे। इकॉलॉजी के विस्तृत आधार और लोहे का उपयोग आम लोगों के जीवन में होने के कारण खुशहाली सब तक पहुंचने की सम्भावना बनी। पर यह सिर्फ सम्भावना थी। इसे हकीकत में बदलना बिलकुल अलग बात है।

क्या कुछ हो रहा था, इसका कुछ ज़िक्र तो हमने फ़िल्मों में किया है। काफी हद तक सामूहिकता से जुड़े सामाजिक उसूल और रिवाज़ टूट रहे थे। बढ़ती हुई पैदावार को निजि कब्ज़े में लाने की कोशिशें शुरू हो चुकी थीं। ताकतवर लोग छीना-झपटी में व्यस्त थे। गाँव, कुनबों, जनजातियों के मुखिया राजा-महाराजा बनने की फिराक में थे। अधिकारियों को चुनने की गणपद्धति को पुश्तैनी परम्परा में बदलने की कोशिशें होने लगी थीं। कर्मकाण्ड बढ़ रहे थे और यज्ञ, पशुबली की भरमार हो रही थी। पुजारियों और मुखियों के घर भर रहे थे। किन्तु न तो इनके लिए कोई सामाजिक स्थान निश्चित हुआ था और न कोई सामाजिक मान्यता मिली थी। एक पुरानी व्यवस्था टूट रही थी और नई निर्मित नहीं हुई थी। मानो सब कुछ टूट रहा हो और नया कुछ उभरता न दिखे।

महाभारत की कथा इसी संधिकाल का प्रतिबिम्ब है और बौद्ध तथा जैन दर्शन भी। कुछ सदियों की उथल-पुथल के बाद, पुजारियों और राजाओं को मान्यता देने वाली जाति-आधारित सामंती व्यवस्था बनी। कुछ हद तक बौद्ध तथा जैन धर्मों ने भी इससे समझौता कर लिया। लेकिन जब गंगा घाटी में शहर बन रहे थे, तब यह सब कुछ नहीं हुआ था। सामंतों और कर्मकाण्डों के खिलाफ एक विद्रोह की जोरदार भावना मौजूद थी। इसी विद्रोह का एक सीमित रूप हमें सदियों बाद के भक्ति आंदोलन में भी दिखाई पड़ता है।

"थी हर ओर अजीब अशांति"— हमने गाने में इसका वर्णन किया है। इस अशांति में जीकर, ज़िन्दगी का मकसद ढूंढनेवालों के साथ मैं एक तरह का अपनापन महसूस करता हूं। बुद्ध और महावीर दोनों ने जीवन का अर्थ दुःख बताया है। लेकिन उस समय के बहुतेरे लोगों के नाम हम नहीं जानते। जैसे अजित केशकांबली, मक्खली घोषाल वगैरह। उनके विचारों में भी एक सर्वव्यापी निराशा का अहसास है।

बुद्ध और महावीर के साथ ही मुझे ये दर्शन भी बहुत महत्व के लगते हैं। इनकी निराशा का मूल इस अहसास में है कि सामने जो कुछ घट रहा है वह अन्याय है। उससे समझौता नहीं कर पाते। छीना-झपटी, ताकतवरों की मनमानी को दार्शनिक मान्यता, औचित्य नहीं दे सकते परन्तु उसे रोक भी नहीं पा रहे हैं। एक बार फिर अतिशयोक्ति का खतरा उठाकर कहूंगा कि बगैर ऐसी निराशा के बुद्ध और महावीर जैसों के दर्शन का निर्माण असंभव है।

मेरे लगाव का एक और कारण है। क्या हम भी ऐसे ही काल में नहीं जी रहे हैं? छीना-झपटी का माहौल आज भी हमारे सामने है। विज्ञान समेत, खुशहाली के साधनों में बढ़ोतरी हो रही है। उन साधनों पर ताकतवर और लालची लोगों का कब्ज़ा भी हमारे सामने है। इस सदी में युद्ध में मारे गए लोगों की संख्या शायद लौह युग की कुल आबादी से ज्यादा होगी। जितना पैसा इन युद्धों में स्वाहा हुआ है, उससे शायद दुनिया के सारे 'पिछड़े' इलाकों का 'विकास' हो जाता।

इतनी नई-नई क्षमताएं पैदा हो गई हैं कि उनको हम ठीक से समझ भी नहीं पाए हैं। इनके दबाव तले, जीवन के तथाकथित आधुनिक ढंग, उसके उसूल टूट रहे हैं। जो कुछ नया नज़र आता है, वह भी इतना विभाजित, इतना क्षीण। हम भी तो एक संधिकाल से गुज़र रहे हैं।

माना कि हमारे समाधान अलग होंगे। सिर्फ किसी धर्म की राह शायद कारगर नहीं होगी। ज़िन्दगी के सारे तौर-तरीके बदलने होंगे। यह बदलाव किसी पारलौकिक शक्ति के द्वारा नहीं, अपने बलबूते पर करना होगा। मगर हकीकत यह है कि हम वैसे ही अशांत संधिकाल से गुज़र रहे हैं। और अशांति का यह रिश्ता मुझे उनसे जोड़ने के लिए पर्याप्त है।

"दान, यज्ञ या प्रसाद चढ़ाने से कोई पुण्य नहीं होता, राजन्। बुरे या भले कर्मों का न कोई फल होता है, न हल। न लोक होता है, न परलोक। न माता, न पिता, न उनके बगैर किसी जीव का बनना। इस लोक में कोई ऋषि या ब्राह्मण नहीं है, जिसने परमपद पा लिया हो, जो अडिग हो, जिसने खुद लोक-परलोक को समझ लिया है और इस ज्ञान को दूसरों तक पहुंचाए।"

"सत्य, बस इतना है कि मनुष्य चार तत्वों से बना है। जब वह मरता है तो उसकी मिट्टी, मिट्टी में लौटकर मिट्टी बन जाती है, पानी पानी में, अग्नि अग्नि में, वायु हवा में और चेतना शून्य में विलीन हो जाती है। चार कहार उस पांचवे को अर्थी पर डालकर, उसके मृत शरीर को ढो ले जाते हैं। श्मशान तक उसकी प्रशंसा करते हैं, पर वहां उसकी हड्डियां सफेद पड़ जाती हैं और पुण्य राख हो जाते हैं। ये दान की बातें निरी मूर्खता की बातें हैं। जब लोग कहते हैं कि इससे पुण्य जुड़ता है, तो यह एक खोखला झूठ हैं, फ़िज़ूल की बात है। मूर्ख हो या ज्ञानी, जब शरीर नहीं रहता, तब सब..."

– अजित केशकंबली
टी॰ डब्लयू॰ रिस डेविड्स् 1899 पर आधारित

रं ज न

रस्सी से ज्यामिति

कूर्मचिति
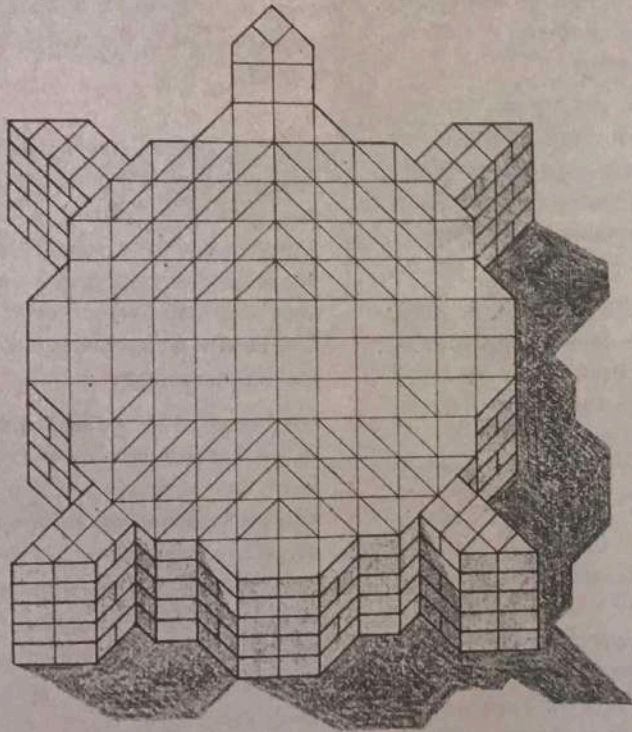
[illegible], एस. एन. सेन और ए.के. बाग, 1983 पर आधारित

शुल्ब सूत्रों में यज्ञ के लिए अलग-अलग अग्नि चिति बनाने के नियम हैं। चितियों के आकार अलग-अलग होने के कारण उन्हें अनेक तरह की ज्यामितिक समस्याएं हल करनी पड़ती थीं। कछुए के आकार की अग्निचिति, ब्रम्हलोक की इच्छा पूर्ति के लिए

मैं शुरू से ही गणित में रुचि रखता था। गणितज्ञों की जीवनियां पढ़ता रहता था। मैंने पाया कि गणितज्ञ थोड़े सिरफिरे ज़रूर होते हैं, पर काफी दिलचस्प भी होते हैं।

उस वक्त जो किताबें आसानी से मिलती थीं, उन्हें पढ़कर लगता था कि प्राचीन गणित की शुरूआत भी यूनान में ही हुई। सिर्फ गणित की ही नहीं विज्ञान की भी। पिछले कुछ वर्षों से ही कुछ ऐसी किताबें मिलने लगी हैं, जो यूनान से बाहर भी झांकती हैं। इस सीरीयल के लिए जब मैंने काम शुरू किया, तो हल्का सा अंदेशा होने लगा था कि यूनान के बाहर भी गणित काफी विकसित था। इतना ही नहीं, बल्कि शायद उत्तरी अफ्रीका और पश्चिम एशिया की गणित की समझ, यूनान के गणित की बुनियाद थी। फिर जब मैंने शुल्बसूत्रों के गणित की जानकारी देखना शुरू किया, तो रह-रहकर प्राचीन यूनानी गणित और गणितज्ञों से तुलना चलती रही। किसी को छोटा-बड़ा ठहराने के लिए नहीं, बल्कि यह समझने के लिए कि एक ही तथ्य को कितने तरीकों से समझा जा सकता है।

इसका एक उदाहरण तो आप देख ही चुके हैं पायथागोरस के प्रमेय का। तथ्य वही है परन्तु शुल्बसूत्रों में त्रिभुज का ज़िक्र नहीं होता, आयत का होता है। आयत और वर्ग का उपयोग एक पुल सा बन जाता है, आने वाले समय में मंदिरों की वास्तुकला और इस गणित के बीच।

तथ्यों की समानता है, तो फर्क भी है। जैसे कि यूनान में पायथागोरस के सिद्धान्त ने, उसके अनुयायियों के सामने एक ऐसी समस्या खड़ी कर दी थी कि उनका कुनबा ही चौपट हो गया। वैसी कोई समस्या हमारे यहां पैदा नहीं हुई। मगर यह तो बहुत आगे की बात है। पायथागोरस की यह कहानी तो शुरूआत से बतानी होगी।

पायथागोरस एक महान गणितज्ञ होने के साथ-साथ रहस्यवादी भी थे (और यायावर भी)। वे पूर्णांकों (प्राकृत संख्याओं) को लगभग पूजते थे। उनके लिए ये संख्याएं परिपूर्णता (उत्कृष्टता) का प्रतीक थीं। चूंकि गणित इस परिपूर्णता का भंडार था और गणित का सारा काम संख्याओं से चलता था, इसलिए वे यह भी मानते थे कि सारी

चलिए, मान लेते हैं कि $\sqrt{2}$ को दो पूर्णांकों के अनुपात के रूप में दर्शाया जा सकता है।

मान लीजिए कि ये पूर्णांक a तथा b हैं।

यदि a और b के कोई समान गुणनखण्ड हो। तो उन्हें हटाकर दो नई संख्याएं बना लेते हैं, c तथा d।

इनका कोई आम भाजक नहीं है।

तो, $\sqrt{2} = c/d$

या $c = d\sqrt{2}$

दोनों तरफ का वर्ग करने पर, $c^2 = 2d^2$

चूंकि c^2 पूर्णांक का वर्ग है और 2 उसका गुणनखण्ड है, इसलिए यह c का भी गुणनखण्ड होगा।

मान लें कि $c = 2e$

तो, $4e^2 = 2d^2$

और $d^2 = 2e^2$

अब उसी तरह चूंकि d^2 भी पूर्णांक का वर्ग है और 2 उसका गुणनखण्ड है, इसलिए यह d का भी गुणनखण्ड होगा।

तो c और d दोनों का सामान्य गुणनखण्ड 2 निकलता है।

लेकिन हमने तो माना था कि c तथा d में कोई सामान्य गुणनकण्ड नहीं है।

तो, हमारी प्रारंभिक मान्यता, कि 2 को दो पूर्णांक संख्याओं के अनुपात से दर्शाया जा सकता है, ग़लत है।
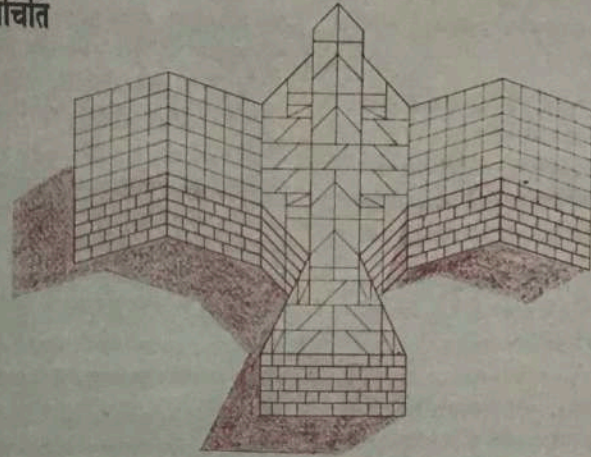
वक्रपक्ष श्येनचिति या बाज के आकार की अग्निचिति उन लोगों के लिए थी जो स्वर्ग जाने के लिए यज्ञ कराते थे।

श्मशानचिति - उनके लिए जो पितृलोक के आकांक्षी थे।

भाटिया, एम. एस. सेन और ए.के. बाग, १९८३ पर आधारित
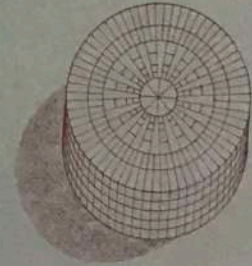
रथचक्रचिति - रथ के पहिए के आकार की अग्निचिति बनाई गई थी उन लोगों के लिए जो किसी प्रदेश को अपने कब्ज़े में लाना चाहते थे।

संख्याओं को पूर्णांकों के रूप में दर्शा सकते हैं। उनकी पूर्णांक भक्ति इस हद तक थी कि उन्हें यकीन था कि पूरी प्रकृति को ही पूर्णांकों के रूप में दर्शाया जा सकता है।

बहरहाल, संख्याओं की ही बात को देखें। कोई भी संख्या या तो पूर्णांक होगी या नहीं होगी। जो पूर्णांक न हो, उसे भी हम दो पूर्णांकों के अनुपात के रूप में दर्शा सकते हैं (जैसे 1.4 को 7⁄5 से और 0.1072 को 67⁄625 से)। तो गणित का आधार बन जाता है पूर्णांक और इसी की बदौलत परिपूर्ण भी। लगती है ना, सीधी सी बात?

किन्तु बात इतनी सीधी नहीं थी (और न आज है)। और इसे साबित करने का काम खुद पायथागोरस के प्रमेय ने ही किया। अगर हम एक समकोण त्रिभुज लें, जिसके आधार और लम्ब एक-एक इकाई हों, तो उसका कर्ण $\sqrt{(1^2+1^2)} = \sqrt{2}$ यानि 2 का वर्गमूल होगा। यह एक ऐसी संख्या है, जिसे दो पूर्णांकों के अनुपात के रूप में नहीं दिखाया जा सकता। (जिन्हें इसमें दिलचस्पी हो, वे साथवाला बाक्स पढ़ लें, बाकी मुझ पर विश्वास कर लें।) ऐसी एक नहीं अनेक संख्याएं हैं— दरअसल ऐसी संख्याओं की गिनती प्राकृत संख्याओं से ज्यादा है। मतलब पूर्णांकों का सहारा चौपट, परिपूर्णता चौपट।

पायथागोरस के अनुयायी एक खुफिया सभा के रूप में चोरी-छिपे मिला करते थे। कहा जाता है कि उन्होंने इस खोज को भी गुप्त रखने का प्रयास किया था! आखिर उनकी खुफिया सभा बिखर गई। उनके पतन के पीछे यही एकमात्र कारण तो नहीं रहा होगा परन्तु पायथागोरस के इस प्रमेय ने उनके संख्या सिद्धान्त को ठेस तो ज़रूर पहुंचाई।

इन संख्याओं को आज भी irrational (या गैर तार्किक) संख्या के नाम से जाना जाता है जबकि इनमें कुछ भी गैर तार्किक नहीं है। यदि गैर तार्किक कुछ है, तो वह संख्या की हमारी पुरानी समझ में है। इतिहास ऐसे नाम जोड़ देता है और वे हमारे आम बोलचाल में इस कदर घुलमिल जाते हैं कि उन्हें बदलना नामुमकिन हो जाता है।

हां तो यूनान से ज़रा अपने महाद्वीप लौटते हैं। यहां भी irrational संख्याओं का उपयोग हुआ परन्तु ऐसी कोई उलझन पैदा नहीं हुई। आखिर क्यों?

मेरी समझ में इसका एक कारण हमें शुल्बसूत्रों में मिलता है। संख्याओं को समझने की उनकी दृष्टि कई मायनों में एकदम व्यवहारिक थी। जैसा कि हम फ़िल्म में भी कह चुके हैं कि शुल्बसूत्र में कहीं भी संस्कार, अनुष्ठान, कर्मकाण्ड का ज़िक्र नहीं है। वास्तव में शुल्बसूत्र का मक्सद था कर्मकाण्ड द्वारा प्रस्तुत ज्यामिती समस्याओं का व्यवहारिक समाधान खोजना। जैसे $\sqrt{2}$ का नाम शुल्बसूत्र के अनुसार, 'द्विकरणी' होगा। इसका मोटा-मोटा अनुवाद 'दो बनाने वाली (लम्बाई)' होता है। मतलब उस लम्बाई की भुजाओं से यदि हम एक वर्ग बनाएं तो उस वर्ग का क्षेत्रफल 2 वर्ग इकाई होगा। अर्थात् इस दृष्टिकोण में संख्या को एक क्रिया के संदर्भ में देखा जाता है। यह शुल्ब की रस्सी की क्रिया से जुड़ी है। इस दृष्टि से पूर्णांक, भिन्न, irrational संख्याएं, आदि सब समान हैं। सभी को एक क्षेत्र में तबदील किया जा सकता है। संख्याओं के वर्गीकरण से ज्यादा महत्व उनकी क्रियाओं को दिया गया था। इसके कारण कुछ बंधन तो पड़े ही थे। मसलन यहां यूक्लिड जैसी सुगठित ज्यामिती नहीं बन पाई। पर इसके फ़ायदे भी थे। यहां की गणित में बीजगणित की algorithm की परम्परा बड़ी सशक्त रही।

और चलते-चलते एक नज़र इस दिलचस्प मसले पर डालते चलें: यूनान, जिसे प्राचीन विज्ञान का, प्रायोगिक विज्ञान का जन्मस्थान माना जाता है, वहीं के पायथागोरस का संख्या को देखने का दृष्टिकोण नितान्त रहस्यवादी है। और भारतीय उपमहाद्वीप, जहां की बाकी परम्परा आध्यात्मिक और रहस्यवादी बताई जाती है वहां शुल्बसूत्रों में संख्या को देखने का नज़रिया एकदम व्यवहारिक है।

वैसे तो मेगालिथ समूचे भारत में मिलते हैं परन्तु मैं इन दक्षिण में बसी मेगालिथिक सभ्यताओं की बात कर रही हूं। इन संस्कृतियों के बारे में कई अटकलें हैं, जैसे कि ये संस्कृतियां भी इस भूखण्ड की नहीं हैं, ये लोग भी इण्डो-आर्य भाषियों की तरह बाहर से आए थे। मसलन पश्चिम समुद्र तट से आए कुछ लोग। उनका मेडिटेरिनियन मूल था और वे शायद 500 ई. पू. में यहां आकर पाषाण युग की सभ्यताओं के इर्द-गिर्द बसते गए। द्रविड़ भाषाओं के इलाके में ये मेगालिथिक संस्कृतियां फैली हुई थीं। तो, ये लोग थे द्रविड़ भाषी। लेकिन पुरातत्विक सबूतों ने इस अनुमान को गलत ठहराया है कि ये दक्षिण भारत में बसे द्रविड़ों के साथ हिल-मिल गए थे। पक्की तौर पर तो नहीं कह सकते परन्तु उनकी ये मेगालिथिक विशेषताएं जरूर कॉकेशियन मेगालिथिक ढांचों से मिलती-जुलती हैं।

आज की कुछ परम्पराएं मुर्दे दफन करने के उनके संस्कार से जुड़ी लगती हैं। जैसे कि आज भी कुछ खास व्यक्तियों को मरणोपरान्त दफन किया जाता है। कुछ धर्मों में सभी व्यक्तियों को दफन ही किया जाता है। पाषाणयुग की संस्कृतियों की परम्परा आज भी हमें कई जगहों पर मिलती हैं। जैसे इनामगांव की खुदाई में मिली गुड़िया को ही देखें। यह जूते के डिब्बे के समान डिब्बे में मिली थी। यह पुणे के शहरी इलाके में वर्तमान सदी में प्रचलित प्रथा से मेल खाती है। इन इलाकों में हाल तक हर गर्भपात होने पर उसी तरह की एक गुड़िया को नदी में बहाने का रिवाज़ था। आज भी हिन्दू रिवाज़ों के मुताबिक शिशुओं का दाह संस्कार न करके दफन करते हैं।

इन सब बातों पर विचार करने पर मिली ये मेरी नई खोजें। ये मुझे बेचैन सा कर देती हैं। आखिर इन सारी अटकलों और पुरातत्विक सबूतों को लेकर चरण-दर-चरण जोड़कर देखना कोई आसान काम तो है नहीं। मै शायद इतना ही कह सकूंगी कि इण्डो-आर्य भाषी यहां आए और साथ में अपनी विशेषताएं भी लाए। जब वे यहां आए तब यहां भी कुछ सभ्यताएं बसी हुई थीं, अपनी विशेषताओं के साथ। इन मेगालिथिक सभ्यताओं का और महत्व क्या है, यह तो पता नहीं परन्तु इतिहास की इस खोज के दौरान हमें यह एक कुतूहल की तरह लगा। इनके बारे में हमें ज्यादा पता नहीं है। हमारे इतिहास में ये क्या भूमिका अदा करती हैं, यह भी ठीक से नहीं पता। परन्तु यही रहस्य तो मानो हमें धकेलता है, कि और तलाश करें।

राजा मोहन्ती, आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया के फोटो पर आधारित

कई प्रकार के मेगालिथिक कब्र भारत में पाए गए। उनमें सबसे आम 'मेनहिर' काश्मीर से दक्षिण तक पाए जाते हैं, जब कि 'टोपीकल्लु' सिर्फ़ केरल में

सूत्रबद्धता का युग
ईसा पूर्व 500 से ईसवी सन् 300 तक

सारनाथ की सैर और एक जातक कथा के गीत-नाटिका के रूप में प्रस्तुतीकरण द्वारा हमें बौद्ध दर्शन, उसकी शोषण विरोधी शिक्षा और व्यापार को प्रोत्साहन देने का अहसास होता है। नए शहरों की मेलजोल की संस्कृति में संस्कृत के प्रारंभिक स्वरूप 'भाषा' की कई बोलियां सुनाई पड़ने लगी हैं। व्याकरणविद् पाणिनी ने भाषा के मूल नियमों को परिभाषित करने का प्रयास किया। उनकी रचनाएं तर्क, विश्लेषण और वर्गीकरण का परिणाम हैं। आजकल कम्प्यूटर वैज्ञानिक इसमें बहुत दिलचस्पी ले रहे हैं। उन्होंने सूत्र शैली का प्रभावी उपयोग किया था, जिससे अनगिनत नियमों को संक्षिप्त व याद रखने में आसान सूत्रों में बांधा जा सका।

प्राचीन बंदरगाह पांडिचेरी हमें याद दिलाता है रोम के साथ के व्यापार की। इस दौर में दक्षिण में शहरों और बंदरगाहों के बनने की वजह थी वहां की बढ़िया सिंचाई प्रणाली। हम इस प्रणाली के विकासक्रम पर एक नज़र डालते हैं : एक सीधा-सादा एट्रम या water lever, मन्दिर के तालाब और फिर कावेरी नदी का विशाल अणैकट।

इस काल में सामाजिक व धार्मिक विचार, सौंदर्यशास्त्र और दर्शन को सूत्रबद्ध करने का काम हुआ। तन्जावुर का सरस्वती महल पुस्तकालय इनकी पाण्डुलिपियों का भण्डार है। इनमें मनुस्मृति भी है, जो सख्त होती जा रही समाज व्यवस्था का प्रतीक है जिसमें औरतों तथा निचली जातियों को बुनियादी अधिकारों से वंचित किया जा रहा था। धार्मिक ग्रंथों के इस दौर में दो अपवाद नज़र आते हैं। इनमें एक है कौटिल्य का अर्थशास्त्र और दूसरे हैं चरक और सुश्रुत द्वारा संकलित आयुर्वेदिक संहिताएं। आयुर्वेद के बारे में हम छठी कड़ी में चर्चा करेंगे।
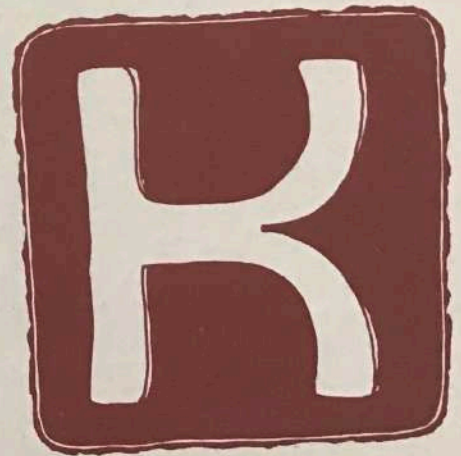
विचार सूत्रबद्ध हुए

ईसा पूर्व छठी सदी से लेकर चौथी ईसवीं सदी तक की अवधि उपमहाद्वीप में एक बहुत महत्वपूर्ण अवधि है। यह अवधि शुरू होती है गंगा घाटी के प्रथम शहरों के ज़माने से और खत्म होती है गुप्तकाल के शहरों पर।

गंगा घाटी के शहरों के साथ यहां अनेकों विचार-धाराएं प्रस्फुटित होने लगी थीं। वैदिक परम्परा भी तब तक 'षड्दर्शनों' (छः प्रमुख धाराओं) में बट चुकी थी। बौद्ध और जैन धर्म से जुड़े बौद्धमत और जैनमत भी उभर रहे थे और उनमें भी सैद्धांतिक रूप से अलग-अलग विचार धाराएं बन रही थीं। साथ ही कई कलाएं—कलाएं व हस्तकलाएं—विकसित हो रही थीं। उनको लेकर कुछ विचार बन रहे थे।

लगभग हज़ार साल के इस दौर में ये सारे ही सिद्धांत बने। इन सिद्धांतों को संहिताबध्द करने की भी एक शैली थी, खासकर वैदिक परम्परा में — सूत्र पद्धति। सूत्र यानि संक्षिप्त रूप में विचारों के केप्सूल। ये कई बार छंदबद्ध भी हुआ करते थे। आप देखेंगे कि कई दर्शनों की बुनियादी रचनाओं की इतिश्री भी सूत्र में ही होती है।

सूत्र शैली में 'लाघव' यानि सघनता को बहुत ही महत्व दिया जाता था। पाणिनी और आर्यभट की रचनाओं में यह स्पष्ट नज़र आता है।लाघव की यह ज़रूरत अपने विचारों को सिद्धान्त के रूप में बांधने की प्रेरणा बनी। ऐसी प्रेरणा का विज्ञान से संबंध तो स्पष्ट ही है।

इस शैली के और भी कई परिणाम हुए। एक तो यह था कि किसी सूत्रबद्ध रचना को पढ़कर उस सिद्धांत की पूरी जानकारी प्राप्त करना या उस सिद्धांत को समझना ही मुश्किल था। या तो कोई ऐसी रचना उपलब्ध हो, जो सूत्र को विस्तृत रूप से समझाए। या फिर समझानेवाला कोई व्यक्ति यानि गुरू हो।.इस तरह मौखिक परम्परा से जुड़कर गुरू का महत्व और भी पुख्ता हो गया।

कागज़ या तालपत्र, आदि पर लिखे भाष्य और गुरू के दिमाग में कैद भाष्य में एक बुनियादी फर्क है। गुरू के दिमाग में अंकित भाष्य गुरू की इच्छा से ही किसी को मिल सकता है। और जो कुछ मिलेगा, वह भी गुरू की इच्छानुरूप ही होगा। सूत्र शैली के कारण इस फर्क का महत्व और भी बढ़ गया। यदि कोई चीज़ लिखित रूप से उपलब्ध हो, तो कोई भी व्यक्ति उसका मनचाहा उपयोग कर सकता है। एक तरह से इसमें ज्ञान को व्यक्ति-विशेष के शिकंजे से मुक्त करके लोकव्यापी बनाने का बीज मौजूद है।

यहां हमें वैदिक और बौद्ध परम्परा का अन्तर दिखाई देता है। कम से कम शुरूआत में आम तौर पर बौद्ध परम्परा में संघ और विश्वविद्यालय का ज्यादा महत्व है, जबकि वैदिक परम्परा में गुरू या व्यक्ति का। यह ज्ञान के संकलन में एक बड़ी बाधा थी। हर व्यक्ति का अपना-अपना ज्ञान और मेल-जोल की कोई गुंजाइश नहीं। आगे चलकर यह बात और भी महत्वपूर्ण बन गई क्योंकि धीरे-धीरे बौद्ध परम्परा में भी संस्कृत तथा सूत्र शैली का प्रभाव बढ़ता गया और विश्वविद्यालय का महत्व कम होता गया। एक तो बौद्ध विश्वविद्यालयों को मिलने वाला समर्थन कम होता गया और दूसरी तरफ वहां भी अध्यापन-अध्ययन की ब्राह्मणवादी शैली अपनाई जाने लगी जिसमें प्रवचन की बड़ी भूमिका थी। फिर पहले जहां बौद्ध विश्वविद्यालयों में बोली भाषाओं का इस्तेमाल होता था, वहीं धीरे-धीरे संस्कृत पैर फैलाने लगी। इस सबके कारण विश्वविद्यालय अलग-थलग पड़ गए।

जाति व्यवस्था के मज़बूत होते जाने के कारण, मेरे ख्याल से, इसका (सूत्र शैली का) एक दूरगामी प्रतिकूल असर भी हुआ। सैद्धांतिक विज्ञान और इसके तत्कालीन माध्यम संस्कृत पर तो ब्राह्मणों का एकाधिकार था ही। तो, गुरू भी ब्राह्मण ही बने। सूत्रबद्ध ज्ञान का भण्डार बगैर गुरू की मदद के समझा नहीं जा सकता था। अतः सूत्रबद्ध शैली ने ब्राह्मणों के एकाधिकार को और पुख्ता कर दिया। यह विरोधाभास हमें जगह-जगह देखने को मिलता है। एक तरफ से विज्ञान को बढ़ावा देने वाली बातें ही दूसरी तरफ से उसके प्रसार को सीमित भी कर देती है, एकाधिकार को मज़बूत कर देती है।

शिवसूत्र

अइउण् ऋलृक् एओङ् ऐऔच्

हयवरट् लण् ञमङणनम् झभञ्

घढधष् जबगडदश् खफछठथचटतव्

कपय् शषसर् हल्

पाणिनी का शिवसूत्र जिस मे वर्णमाला को एक अनुठे क्रम में बांधा गया है। अक्षर-समूह के आखिरी में हलन्त् लगा अक्षर है, जो कि मात्र एक चिन्ह का काम करता है।

शिवसूत्र पर आधारित सांकेतिक-शब्दों (code words) के कुछ उदाहरण, और उनसे निकले अक्षर समूह। पाणिनी के व्याकरण के नियमों में इनका अक्सर उपयोग किया जाता है। ध्यान दें, हलन्त लगे अक्षर समूह में शामिल नहीं हैं।

इकोयणचि— सूत्र के रूप में संधि का एक नियम।

शिवसूत्र पर आधारित तीन सांकेतिक-शब्दों का उपयोग।

इकोयणचि का रूपांतर— विस्तृत रूप में। काटे हुए अक्षरों पर नियम लागु नहीं है।

अति + अन्त = अत् (इ + अ) न्त
= अत् (य + अ) न्त
= अत् (य) न्त
= अत्यन्त

इकोयणचि पर आधारित एक संधि।

अकः सवर्णे दीर्घः = **अक्** बनता है— **दीर्घ** जब मिलता है **सवर्ण** (समान अक्षर, ह्रस्व या दीर्घ) से

अकः सवर्णे दीर्घः— एक अपवाद सूत्र जो इकोयणचि नियम को सीमित करता है।

अ + अ *अथवा* (आ) = आ

इ + इ *अथवा* (ई) = ई

उ + उ *अथवा* (ऊ) = ऊ

ऋ + ऋ *अथवा* (ॠ) = ॠ

लृ + लृ *अथवा* (ॡ) = ॡ

अकः सवर्णे दीर्घः के विस्तृत रूपांतर। इसी नियम के कारण, इन अक्षरों पर इकोयणचि का नियम लागू नहीं है।

अति + इन्द्रिय = अत् (इ + इ) न्द्रिय
= अत् (ई) न्द्रिय
= अतीन्द्रिय

अकः सवर्णे दीर्घः पर आधारित एक संधि।

अ मृ ता

बातों बातों में ...
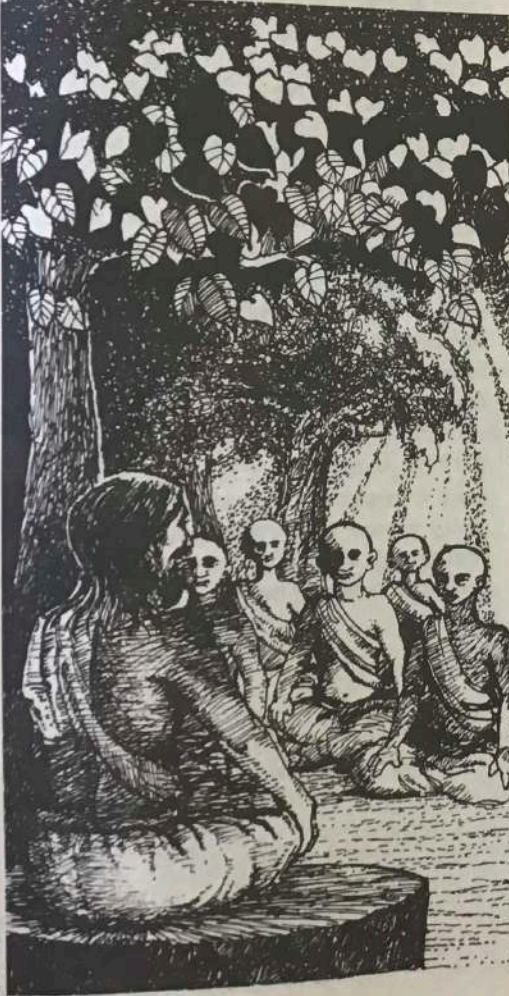
संस्कृत साहित्य से मैं पहले से ही परिचित थी, वेदों से भी, लेकिन सिर्फ साहित्य के तौर पर। इस सीरीयल के काम के दौरान, जैसे-जैसे मैं विभिन्न अध्ययनकर्ताओं की रचनाएं पढती गई, उनसे और अपने साथियों से चर्चा करती गई, वैसे-वैसे मानो संबंधों की एक नई दुनिया मेरे सामने खुलती गई। अब वह साहित्य सामने आता है उस काल की घटनाओं से जुड़कर, उस ज़माने के ज्ञान-विज्ञान के भण्डार से जुड़कर। उनमें अब इतने तरह के संबंध दिखाई देते हैं कि मुझे लगने लगा है कि किसी भी समाज के साहित्य की समझ इन संबंधों को समझे बिना अधूरी रह जाती है।

अब जब मैं वेदों से लेकर बाद तक के संस्कृत साहित्य को देखती हूं तो लगता है कि एक बात है जो बहुत सारे पहलुओं को जोड़ती है। वह बात है, एक खास मौखिक परम्परा जिसे इण्डो-आर्यभाषी इस महाद्वीप में लेकर आए थे। इस मौखिक परम्परा की प्रकृति, उससे उभरने वाली ज़रूरतें, उसका प्रभाव—विकास और गठन की प्रक्रिया में बहुत सारी चीज़ों को छूते नज़र आते हैं। यहां के सशक्त व्याकरण से लेकर गणित की कुछ परम्पराओं तक और मंत्रशक्ति की कल्पना से लेकर ज्ञान पर ब्राह्मणों के एकाधिकार तक कितने सारे पहलुओं को यह प्रभावित करती है।

मौखिक परम्परा वैसे तो इण्डो-आर्य भाषियों की जागीर नहीं है। कई आदिवासी जनजातियों में भी यह पाई जाती है। अफ्रीका में ऐसे तबके हैं जो अपनी जनजाति का इतिहास याद रखते हैं। लेकिन भारतीय उपमहाद्वीप में विशेष बात यह रही है कि लिपियां और लेखन अच्छी तरह स्थापित हो जाने के बाद भी सदियों तक यह मौखिक परम्परा ही ज्ञान-विज्ञान के लेन-देन या संचार का साधन रही। इसकी सबसे 'विशुद्ध' और उतनी ही अतिरेकपूर्ण मिसाल हमें उन विषयों में मिलती है जो अन्ततः ब्राह्मणों का एकाधिकार बने।

ऐसा माना जाता है कि ऋग्वेद काल के अन्त में ऋग्वेद और बाद में अन्य वेदों को हूबहू मौखिक रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित करने की बात सोची गई थी। मुझे लगता है कि यह एक ऐसा कदम था, जिसके परिणाम दूरगामी हैं। ऐसा लगने का आधार है, 'हूबहू हस्तांतरण' के विचार से शुरू होने वाली प्रक्रियाओं की शृंखला।

हूबहू हस्तांतरण का कारण यह था कि वेदों की ऋचाओं को मंत्र का दर्जा प्राप्त था। मंत्रशक्ति की कल्पना और साहित्य में कविता या पद्य का स्थान, इन दोनों का बहुत गहरा संबंध है।

यूं तो पद्य और गद्य के बीच कोई पत्थर की लकीर नहीं है किन्तु आम तौर पर दोनों में शब्दों का इस्तेमाल अलग-अलग ढंग से होता है और दोनों का उद्देश्य भी अलग-अलग है। पद्य की तथाकथित विषयवस्तु को, उसके शब्दों, उनकी ध्वनि और उनके आपसी तालमेल से अलग करके नहीं देखा जा सकता। गद्य पढ़कर हमें प्रायः उसकी विषयवस्तु याद रहती है। पद्य पढ़ने के बाद विषयवस्तु तो याद रहती है, पर उसके शब्दों, ध्वनि, लय, ताल, सबके सहित। इसीलिए शायद अच्छी कविता लिखना जितना मुश्किल है, उसे मुंहज़बानी याद रखना उतना ही आसान।

अच्छी कविता और उसके अकेले या सामूहिक गान-पाठ में एक शक्ति भी होती है। इसमें वर्णित घटनाओं का भाव बहुत असरदार और जीवन्त बन जाता है। वे घटनाएं, एक तरह से फिर से घटने लगती हैं। जैसे कि उस कविता में और उसके पाठ में एक शक्ति हो, मंत्रशक्ति की कल्पना को साकार करती हुई।

कविता जब रची जाती है, जब वह पंक्तियों के रूप में कवि के मन में उभरती है, तो मानो ये उसे कहीं से सुनाई पड़ती हैं। कवि को ये पंक्तियां कौन सुनाता है? आज के व्यक्तिवादी माहौल में कवि दावा कर सकते है कि यह उनके ही अन्तर्मन की आवाज़ है। हमें यह बात आसानी से समझ में आती है किन्तु यदि इसे थोड़ी देर के लिए भूल जाएं, तो फिर क्या कहेंगे कि ये पंक्तियां कहां से आती हैं। ज़रूर कोई अद्भुत शक्ति ही ये पंक्तियां कवि को सुनाती होगी। वेदों को 'श्रुति' मानने के पीछे कहीं ऐसी ही अद्भुत शक्ति की कल्पना जुड़ी है।

इस 'श्रुत', अद्भुत मानी जाने वाली शक्ति को समेट कर, उसे हूबहू हस्तांतरित करने के निर्णय में से कुछ ज़रूरतें भी उभरीं। सिर्फ शब्दों को हस्तांतरित नहीं करना था, साथ में उनकी ध्वनि, लय, ताल सब

कुछ सौंपा जाना था। जो सामग्री थी, वह अलग-अलग जनजातियों से आई थी और बहुत विस्तृत थी। तो, एक पद्धति बनाना बहुत ज़रूरी था।

अत: उच्चारण का अध्ययन किया जाता था कि ध्वनियां उत्पन्न कैसे होती हैं, कैसे आपस में उनका मिश्रण होता है, कोई ध्वनि-विशेष शरीर की क्रियाओं से कैसे उत्पन्न होती है; कि किसी लय को समय में कैसे विभाजित किया जाए। और आगे चलकर शब्द और वाक्य का अध्ययन करवाया जाता था, व्याकरण का अध्ययन होता था और पाणिनी के अष्टाध्यायी का अध्ययन किया जाता था।

इसका एक बहुत ही महत्वपूर्ण घटक यह सवाल है कि उच्चारण की मूल इकाई क्या है। यही अक्षर हैं। अक्षर उच्चारण की इकाई है और अक्षर या तो स्वर हो सकता है या फिर किसी स्वर (या अक्षर) के साथ जुड़ा हुआ व्यंजन। उच्चारण का यह विश्लेषण इस उपमहाद्वीप में बहुत पहले किया जा चुका था— लेखन के प्रचलन से भी पहले। इसीलिए यहां की सारी लिपियां ध्वन्यात्मक (उच्चारण आधारित) हैं और उनमें उच्चारण की यह समझ शामिल है।

इस उपमहाद्वीप की लिपियों में आम तौर पर स्वर और व्यंजन पृथक किए जाते हैं और प्रत्येक को ही उच्चारण से जोड़ा जाता है। व्यंजन को किसी स्वर से जोड़ने के लिए अलग चिन्ह होते हैं। अक्षर की इकाई को समझ लें, तो इन सारी लिपियों में उच्चारण को सीधा लिपिबद्ध किया जा सकता है। यह बात समझने के लिए अंग्रेज़ी से ही तुलना करके देखिए। सही उच्चार हो तो spelling की झंझट इस उपमहाद्वीप की किसी भाषा में नहीं है।

यहां के संस्कृत उच्चारणशास्त्र और व्याकरण को जोड़ने वाली एक और चीज़ थी। इसका महत्व किसी मायने में कम नहीं है। यह चीज़ है नियमों के ढांचे और उनकी ऊंच-नीच। ये नियम सूत्र शैली में बंधे हुए थे। परन्तु इनमें भी एक खास क्रम था। मोटे तौर पर इसे यों समझ सकते हैं: सबसे पहले कोई सामान्य नियम बनाया जाता, फिर यह बताया जाता कि अपवाद की स्थिति में क्या होगा। इसके बाद ऐसे उदाहरण भी दिए जाते थे जो इन दोनों स्थितियों में फिट नहीं होते थे।

इस बात का महत्व कुछ शोधकर्ता आजकल यहां के गणित से भी जोड़ते हैं। और मुझे लगता है कि यह काफी हद तक सही भी है। युक्लिड जैसे गणितज्ञों की इच्छा थी कि कुछ थोड़ी सी मूल मान्यताएं बना लें, जिनके आधार पर बाकी सारे समीकरण/सूत्र हल किए जा सकें। इस प्रयास में यह विश्वास होना ज़रूरी था कि इन मान्यताओं का कोई अपवाद नहीं होगा। इसके विपरीत हमारे यहां सामान्य सूत्र के साथ ही अपवाद सूत्र भी दिया जाता था। ऐसा करने के पीछे मान्यता यह है कि कोई भी सामान्य सूत्र अधूरा होता है और हर सामान्य सूत्र के अपवाद होंगे ही।

खैर, गणित में इसका जो असर हुआ सो हुआ। व्याकरण में जो अपवाद सूत्र की परम्परा थी, उसके पीछे एक आसान सी बात थी। भाषा, बोलचाल की, लोक व्यवहार की भाषा व्याकरणविदों के हाथ में तो थी नहीं। लोग बोलते-चालते उसे बदलते रहते थे। अपने ढंग से नियम तोड़ते रहते थे। जिस परिस्थिति में ये नियम तोड़े जाते, वही अपवाद की परिस्थिति बन जाती और अपवाद सूत्र का जन्म हो जाता। जैसे पातंजलि कहते हैं, "प्रयोगशरणं वैयाकरणम्"। मतलब यह हुआ कि व्याकरण प्रयोग की शरण में है, उस पर टिका हुआ है। मतलब यह हुआ कि लोग जिस ढंग से भाषा का इस्तेमाल करते हैं, व्याकरण उसी में से बनता है क्योंकि, पातंजलि के ही शब्दों में, लोग बर्तन के लिए कुम्हार के पास जाते हैं, लेकिन शब्दों के प्रयोग अर्थात् भाषा के लिए व्याकरणविद् के पास नहीं आते।

भाषा के इस पूरे मामले में हमें संस्कृत का अलग स्थान भी दिखाई देता है। पाणिनी तो 'संस्कृत' नाम से किसी भाषा को जानते तक नहीं। वे उसे कहते हैं सिर्फ—'भाषा' ! वे जिस दूसरी बोली का ज़िक्र करते हैं, वह है छांदसी अर्थात् छंदों की भाषा। उस समय यह 'भाषा' आम लोगों के जीवन और बोलचाल से जुड़ी हुई थी। ईसा की पहली सदी के बाद उसका स्थान बदला। तब वह सिर्फ ब्राह्मणों, और खासकर पंडितों की भाषा बनकर रह गई। लोगों का आश्रय छोड़कर उसने राजाओं का आश्रय ले लिया। 'भाषा' से वह संस्कृत बन गई, बोली भाषाओं को असंस्कृत ठहराकर।

संक्षेप में यों कह सकते हैं कि प्रयोग आधारित व लोक आधारित परम्परा से शुरू करके 'भाषा' का विकास सिद्धान्तों में बंधता गया। 'भाषा' जब संस्कृत बनी तो असका आधार सिमटता गया और उस पर ब्राह्मणों का एकाधिकार हो गया।

जो वर्णमाला हम सीखते हैं उसका क्रम और विभाजन उच्चारण के प्राचीन अध्ययन पर आधारित है। उसीके आधार का एक स्थूल अंश हम नीचे दे रहे हैं।

स्वर और व्यंजन का विभाजन सबसे पहले आता है। स्वर - जैसे कि अ, आ, इ- इनका हम अलगसे उच्चारण कर सकते है। लेकिन व्यंजन - जैसे क्, ख्, ग् (याद रहे, क, ख, ग नहीं बल्कि हलन्त वाले क्, ख्, ग्) - इनका हम अलग से उच्चारण नहीं कर सकते। उसे किसी स्वरसे या किसी अन्य अक्षर से जोड़कर ही हम उसका उच्चारण कर सकते है।

यानी क् - उच्चारण नही कर सकते; क् + अ = क, या क् + ई = की, या क् + र = क्र, या प + क् = पक् - उच्चारण कर सकते हैं।

स्वरों और व्यंजनों में भी एक क्रम है, जो सबसे स्पष्ट है वर्गाक्षरों में यानी क, च, ट, त, प वर्ग के 25 अक्षरों में। इसका एक ब्यौरा नीचे की तालिका में दर्शाया है। आप देखेंगे कि इनकी रचना निर्भर है : मुख के किस स्थान के स्पर्श से उच्चारण होता है इस पर; उच्चारण में घोष है (घोषवत्) या नही (अघोष) इस पर और उच्चारण में ऊष्मा है, (सोष्मन्) या नही (अनुष्मन्) इस पर, जो आप मुंह के सामने हाथ रखकर एहसास कर सकते हैं।

	घोष नही है		घोष सहित		नाक से
	उष्मा नहीं	उष्मा है	उष्मा नहीं	उष्मा है	उष्मा नहीं
जीभ के मूल से	क	ख	ग	घ	ङ
तालू के पिछले हिस्से से	च	छ	ज	झ	ञ
तालू की ऊपरी हिस्से से	ट	ठ	ड	ढ	ण
दांतों के मूल से	त	थ	द	ध	न
होंटों से	प	फ	ब	भ	म
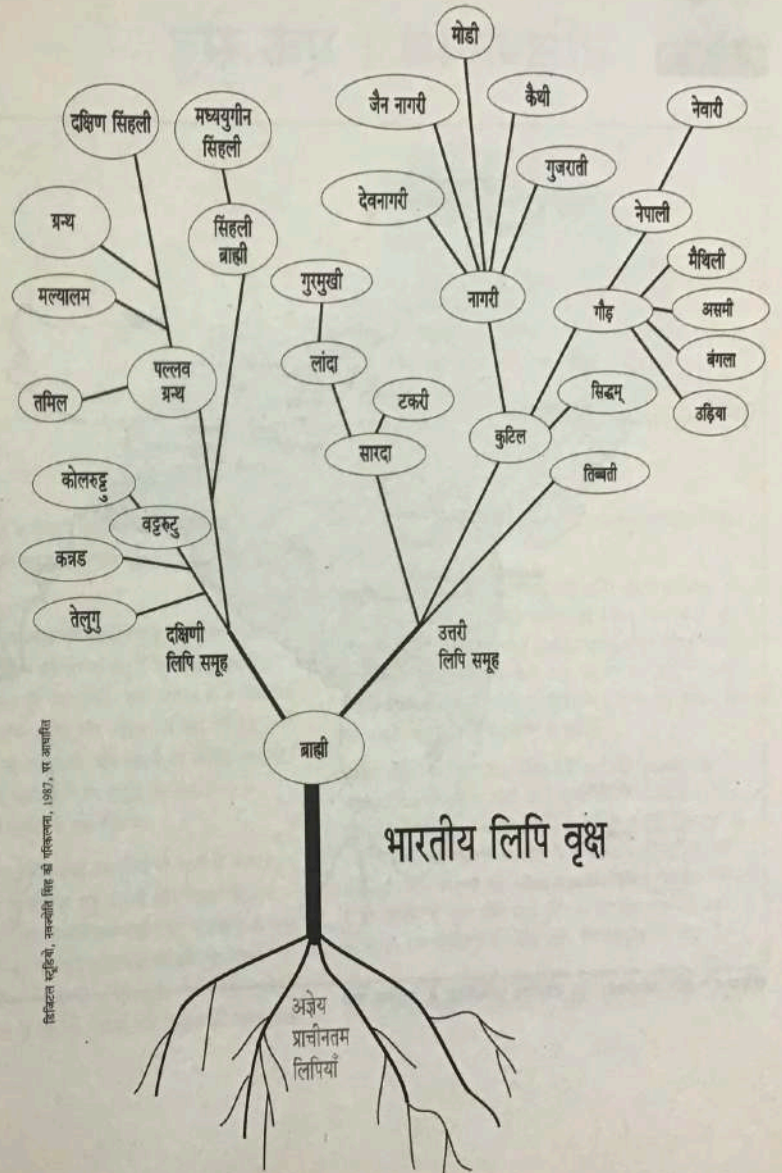
डिजिटल स्टूडियो, नवज्योति सिंह की परिकल्पना, 1987, पर आधारित

दक्षिणापथ : एक सेतु
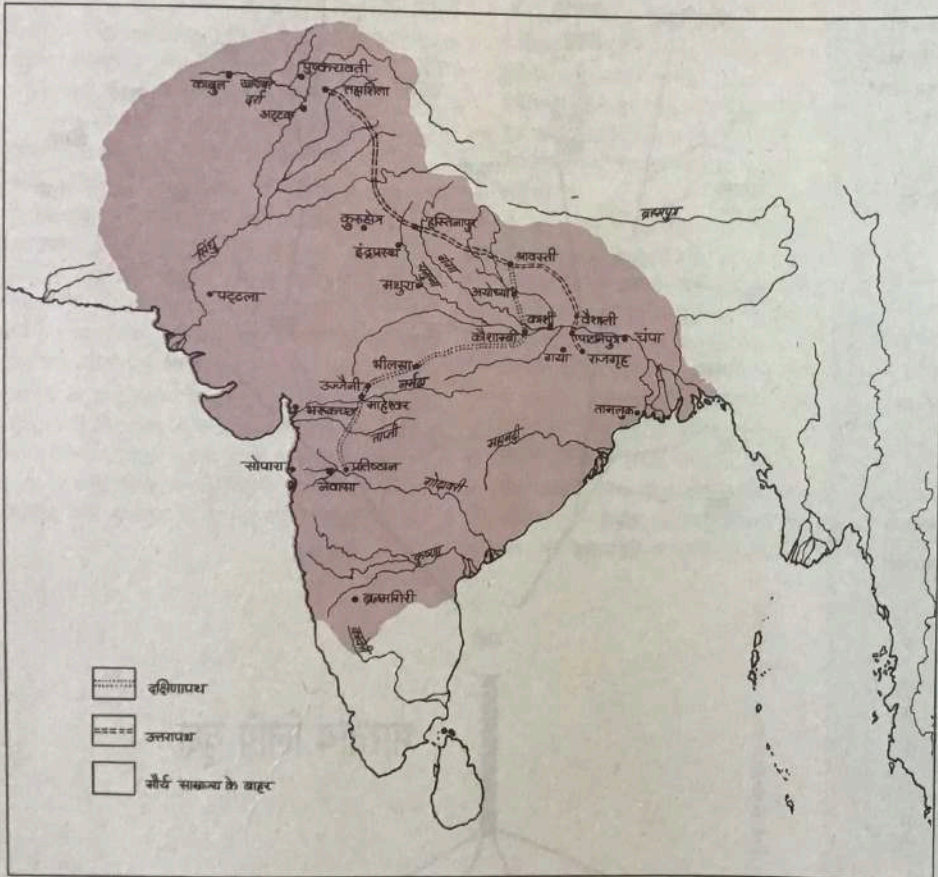
दक्षिणापथ और उत्तरापथ। यह मानचित्र सांकेतिक है, सटीक नहीं

अजय पाठक, डी. डी. कोसाम्बी, 1970 पर आधारित

राष्ट्रीय महिला सम्मेलन में बम्बई शहर की मेरी एक सहेली की मुलाकात हुई तमिलनाडु की एक आदिवासी महिला से। सम्मेलन में आने के लिए यातायात का कोई साधन पाने से पहले उसे कोई चालीस कि.मी. पैदल चलना पड़ा था। वह उस जनजाति की है जो जंगलों में पेड़ों पर घर बनाकर रहते हैं और सांप वगैरह उनके भोजन का हिस्सा हैं। आज बीसवीं सदी में भी वे इस तरह का जीवन बसर कर रहे हैं। हम दंग रह गए थे यह सुनकर। भारत कहलाने वाले इस देश में कितनी विविधता है, इसका अहसास मानो एक बार फिर हो गया। एक देश के अन्दर ही इतनी अलग-अलग संस्कृतियां! लेकिन एक देश के बहाने परस्पर जुड़ती हुई भी। वही विविधता जिसका ज़िक्र हमने फ़िल्म में बार-बार किया है, आज भी बरकरार है।

सवाल है कि राष्ट्र या देश क्या होता है? इस प्रश्न का उत्तर देने लगें, तो कई सारी दिक्कतें खड़ी हो जाती हैं। भारत के संदर्भ में इसका एक सीधा सा उत्तर हम बचपन से सुनते आ रहे हैं कि आसेतु हिमाचल या कश्मीर से कन्याकुमारी तक का इलाका भारत है। हड़प्पा सभ्यता के ज़माने में भी हिमालय तो था ही और कन्याकुमारी भी रहा ही होगा (शायद नाम कुछ अलग रहा हो)। लेकिन उनको जोड़ने वाले सूत्र, उनके दरम्यान फैले भारत नामक राष्ट्र का नामोनिशां तक नहीं था। फिर यह जोड़नेवाला सूत्र क्या है और कब अस्तित्व में आया और क्यों?

फ़िल्म बनाते वक्त हम आज के भारत के विज्ञान व टेक्नॉलॉजी की बात करना चाहते थे। अतः हमने यही भौगोलिक परिभाषा अपना ली और उसी के आधार पर भारतवासी और 'भारत की छाप' का अहसास कराया। साथ ही, देश या राष्ट्र नामक इस इकाई को बांधने वाले सूत्रों का सवाल भी टटोलते रहे। आखिर ईसा पूर्व छठी सदी के बाद हम पाते हैं एक तंतु – जुड़ा हुआ मगध साम्राज्य से, बौद्ध और जैन धर्मों से, और एक सड़क से।

यहां आए खानाबदोश इंडो-आर्य भाषियों और इस भूखण्ड पर पहले से बसी संस्कृतियों के मेल-मिलाप व लेन-देन के दौरान खेती जीवन
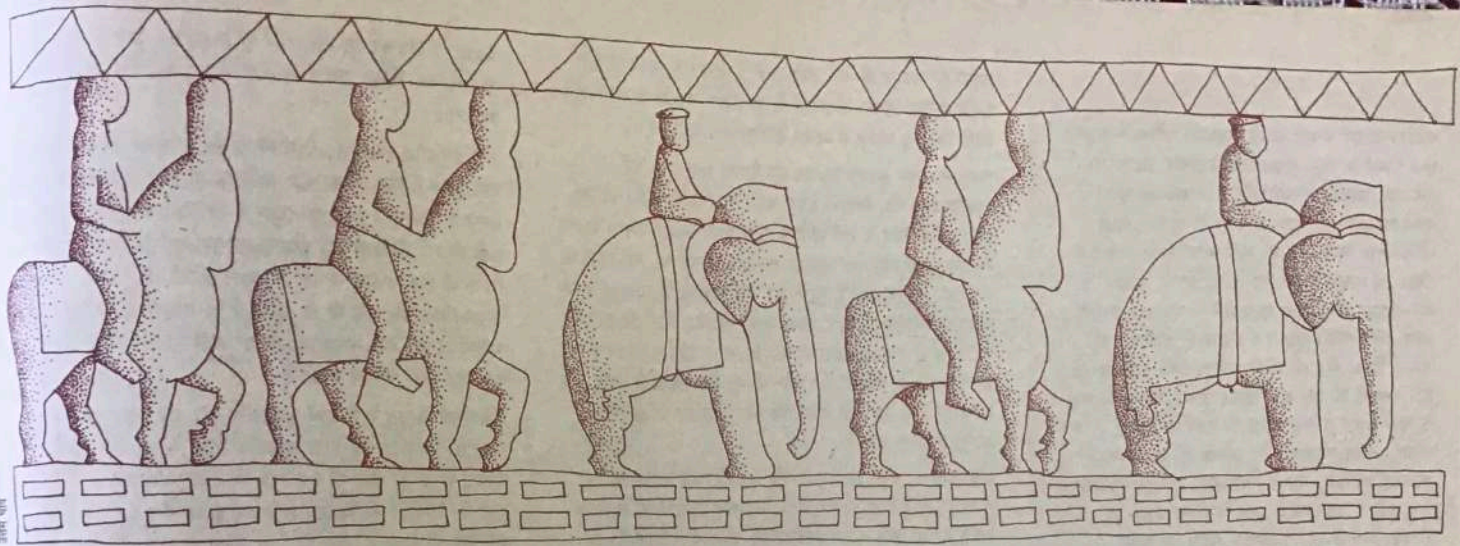
का मुख्य आधार बनकर फैलती गई। फिर ईसा पूर्व छठी सदी के बाद गंगा व उपनदियों की घाटियों में शहर पनपे। शहरों में उद्योग-धन्धे विकसित हो रहे थे, कारीगर बस रहे थे। ये कारीगर गांव के किसानों और शहर की सम्पन्न संस्कृतियों की ज़रूरतें पूरी करते। इन शहरों में व्यापार तेज़ी से बढ़ा। बढ़ते व्यापार के लिए नए-नए बाज़ार की तलाश होती है और इसी के साथ बढ़ता है नए इलाकों से मेल-जोल।

साथ ही साथ एक ढांचा बन रहा था जिसमें राजा और राज्य, शासन व शासित जैसे समीकरण विकसित हो रहे थे। किसी इलाके की ज़मीन का मालिक और पैदावार में हकदार अर्थात् राजा अधिकाधिक ताकतवर होता गया। ज्यादा से ज्यादा इलाका हथिया कर राज्य से साम्राज्य बनाना और राजा से सम्राट बनना एक मकसद हो गया। साम्राज्य किसका होगा, यह तय करने के लिए राजनीति में युद्ध का प्रवेश हुआ। मगध ने अशोक के वक्त में यह हक जीत लिया, कुछ सदियों के लिए।

समाज भी श्रेणियों में बंटता गया। इंडो-आर्यभाषियों के साथ आए वैदिक कर्मकाण्डी ब्राह्मणों को तो राजा से भी ऊंचा दर्जा देना ज़रूरी था। इसी तरह से राजा की धन-संपत्ति और इलाके को बढ़ाने के लिए पड़ोसी राजाओं से युद्ध करनेवाले क्षत्रीय भी सम्मानित हुए। रह गए कृषक और कारीगर, जो यह सारी संपत्ति पैदा करते थे। उन्हें निचले दर्जों में जगह दी गई।

इसी सम्पन्नता और भौतिकवाद की बढ़ती प्रवृत्ति, श्रेणियों में बंटते समाज और युद्ध से पीड़ित इन सभ्यताओं में, इन सबसे छुटकारा पाने की ज़रूरत भी साथ ही साथ उभरी। इसी ज़रूरत में से विकसित हुए जैन और बौद्ध दर्शन। शांति और अहिंसा पर ज़ोर देते हुए, समाज की ऊंच-नीच को ललकारते और इंसानों की भौतिक ज़रूरतों को कम करने की बातें करने वाले इन दर्शनों का उस ज़माने में उभरना स्वाभाविक ही लगता है एक तरह से।

परन्तु यह सब तो गंगा और उसकी उपनदियों की घाटी में घट रहा था। आज के महाराष्ट्र से उड़ीसा तक जंगलों और पहाड़ों की एक पूरी पट्टी फैली हुई है। यह भारतीय उपमहाद्वीप को बीचोंबीच से उत्तर और दक्षिण में बांटती है। यह पूरी पट्टी आदिवासियों का निवास स्थान रही है। तो, उस समय उत्तरी और दक्षिणी भूभाग एक-दूसरे से अलग-थलग विकसित हो रहे थे। लेकिन अब फैलाव की ज़रूरतों के कारण उत्तर के इस विकास की एक धारा का रुख दक्षिण की तरफ हुआ।

इस समय तक यातायात जहाज़ों के माध्यम से नदियों या समुद्रों के रास्ते ही होता था। अब इन दो भूभागों को अलग करने वाली पट्टी में से पहाड़ियों को काटते हुए एक सुरक्षित रास्ता बना। यही दक्षिणापथ कहलाया। जातकों में, कथाओं में इस रास्ते को पार करने के सबूत इसी समय से मिलते हैं। जैसे सुत्तनीपात में बुद्ध के एक ब्राह्मण शिष्य की कहानी में इस रास्ते का वर्णन मिलता है।

लेकिन दक्षिणापथ सिर्फ एक रास्ता नहीं था। आगे चलकर यह संवाद-संचार की स्थायी कड़ी बनने वाला था। और यह कड़ी बौद्ध तथा जैन भिक्षुओं और उनके विहारों से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। इस पूरे मार्ग और दक्षिणी प्रायद्वीप में फैले इसके उपमार्गों पर हमें बौद्ध और जैन भिक्षुओं की बस्तियां मिलती हैं। ये प्राचीनतम सभ्यताएं हैं जो मन्दिरों से कहीं पहले बसी थीं। आसेतु हिमाचल एक सूत्र बनाने का श्रेय सर्वप्रथम इन बौद्ध और जैन भिक्षुओं को जाता है।

बौद्ध और उससे भी ज्यादा जैन दर्शन ने व्यापारी और कुछ समय तक कारीगर तबकों में जड़ें जमाईं। शायद इसलिए कि अहिंसा इन

कोशल ब्राह्मण बावरी अपनी राजधानी सावथ्थी-छोड़कर कुछ शिष्यों के शाथ दक्षिणापथ से होकर गोदातट पर अस्सको (सातवाहनों) की भूमि में जाकर बस गया। पहले तो उन्होंने कंद मूल आदि पर ही जीवन गुज़ारा। लेकिन कुछ दिनों बाद वहां एक अच्छा खासा ग्राम बस गया। तब बावरी ने एक यज्ञ का आयोजन किया। दान-दक्षिणा की सामग्री खत्म होने के बाद एक ब्राह्मण आया जिसे बावरी कुछ न दे सका। तो ब्राह्मण ने उसे साप दे दिया। बुद्ध की कीर्ति सुनकर उसने अपने मन के सारे सवालों को हल करने अपने सोलह शिष्यों को बुद्ध के पास भेजा। वे दक्षिणापथ पर पैठन से नेवासा, महेश्वर, उज्जैन, गोनध्य (गोंड इलाके की कोई जगह), भीलसा, कोशंबी, साकेत (फैज़ाबाद) होते हुए सावथ्थी गए। वहां से उत्तरापथ के पूर्वी हिस्से पर चलते हुए सेतव्या, कपिलवस्तु, कुशीनारा, पावा, भोगनगर, वैशाली होते हुए राजगीर पहुंचे। वहां शहर से दूर एक चैत्य में उन्हें बुद्ध मिले और उनसे उन्होंने ज्ञान पाया।

सुत्तनीपात के एक अंश का संक्षेप
डी. डी. कोसाम्बी, 1970 पर आधारित

तबकों की ज़रूरत थी और उनके तरह के जीवन में संभव भी थी। इसके अलावा ब्राह्मण व क्षत्रीयों के सामाजिक वर्चस्व के कारण इन लोगों को हिन्दू समाज में अच्छी हैसियत नहीं मिली थी।

बहरहाल, इनके आधार पर एक सूत्र फैलता गया। मठ बने, विश्वविद्यालय बने, विद्यार्थी भ्रमण करने लगे। सिर्फ दक्षिण ही नहीं, बौद्ध धर्म तो विश्व के कई भागों में पहुंच गया। इसका कारण यह था कि उस समय इनमें एक खुलापन था, एक उत्साह था, विविधता को अपनाकर, कायम रखकर जुड़ने का। यही अशोक के साम्राज्य ने भी अपनाया। अशोक स्तंभों में आत्मश्लाघा नहीं है, अपनी विजय और दूसरों की पराजय का बखान भी नहीं है, अपने शौर्य का प्रदर्शन नहीं है। विविधता में बाधा पहुंचाए बगैर जो सूत्र बन सकता है, उसी नीति का बयान हैं ये स्तंभ, जो दक्षिणापथ और उत्तरापथ पर लगभग आसेतु हिमाचल खड़े हैं।

दक्षिणापथ इन सबसे जुड़ा हुआ एक सेतु है। ऐसी सड़कों के सेतु महत्वपूर्ण तो होते ही हैं। इंसानों के बीच संचार संवाद को वे संभव बनाते हैं, एक तरह से उसे लोकतांत्रिक, लोकव्यापी बनाते हैं। वे मदद करते हैं दूर-दराज़ तक मेल मिलाप कराने में, नई जगहों तक पहुंचने में, नई जानकारी हासिल करने में, पुरानी जानकारी को संकलित करने में।

लेकिन आखिर यह एक सूत्र ही तो है। भारतीय उपमहाद्वीप का व्यापार कितने इलाकों के साथ रहा, कितनी सभ्यताओं के साथ मेलजोल हुआ। बौद्ध धर्म तो विश्व के कोने-कोने तक फैला है। फिर भी उससे किसी राष्ट्र की नींव नहीं पड़ी। शायद और भी कई सूत्रों का बनना ज़रूरी होता है इसके लिए। और फिर इन सारे सूत्रों, सारे तंतुओं के बाद भी उस समय का शक्ति संतुलन, सत्ता के समीकरण ही निर्णायक साबित होते हैं कि देश क्या बनेगा और उसकी सरहदें क्या होंगी।

और तंतु जोड़ सकते हैं, तो बंधन भी तो बन सकते हैं। इस संदर्भ में याद आता है महाराष्ट्र का एक आंदोलन जो शहर से गांव तक सड़क बनाने के विरोध में हुआ था। ऊपर से तो 'विकास' विरोधी परन्तु कहीं गहरे में 'विकास' पर सवाल उठा रहा था यह आंदोलन। उन्हें चिन्ता थी इस विकास से नष्ट होने वाले जंगलों की, अपनी जीवन-शैली की। यह भी तो ज़रूरी है कि संस्कृतियों का मेलजोल बराबरी से हो। एक संस्कृति दूसरी पर हावी न हो। ऐसे में जोड़ने वाले तंतु बंधन भी बन सकते हैं।

दक्षिणापथ के तंतु ने भी सारे सवाल तो हल नहीं किए। आज हम भारत की विविधता को भाषा आधारित राज्यों के गठन के ज़रिये मान्यता दे रहे हैं। फिर भी एक स्तर पर उत्तरी भारत पूरे दृश्य पर हावी है। इतिहास की किताबों से लेकर अखबारों तक में भारत की बात ऐसे की जाती है, जैसे कि उत्तर भारत ही भारत हो। कभी-कभी सोचती हूं कि क्या मैं भी इससे मुक्त हो सकी हूं? हिंदी को राष्ट्रभाषा घोषित करने पर उठने वाला विरोध इन्हीं जाने-अनजाने तौर-तरीकों का विरोध नहीं है क्या?

प्रान्त, धर्म, जाति पर आधारित धारणाओं का सामना होने पर हम पूछ ही बैठते हैं— आखिर राष्ट्र क्या है? हो सकता है यह सवाल ही गलत हो। शायद राष्ट्र होता न हो, बनाया जाता हो, बनाए रखना पड़ता हो।

रं ज न

चांद, सूरज और अधिक मास

जब हम वाकेश्वर से लौट रहे थे तब पूनम का चांद उठ रहा था। उस दृश्य से मोहित होकर मैंने पूछा था—क्या पाषाण युग में भी मानव ने चांद को इसी तरह देखा होगा? इस प्रश्न का एक अनपेक्षित उत्तर मुझे कुछ ही दिनों में मिलने वाला था।

कुछ दिनों बाद हमें एक फ़िल्म शृंखला देखने का मौका मिला। यह बनाई थी प्रसिद्ध पुरातत्वशास्त्री रिचर्ड लीकी ने और इसका विषय था मानव की उत्पत्ति और विकास।

इस शृंखला की एक कड़ी में उन्होंने लगभग सात हज़ार साल पुराना हड्डी का एक टुकड़ा दिखाया था, जो यूरोप में कहीं पाया गया था। उस पर कुछ निशान दिखाई देते हैं। देखने से लगता है जैसे कुछ नक्काशी की गई हो। थोड़ा बड़ा करके बारीकी से देखने पर इस नक्काशी का रहस्य खुलता है।

वास्तव में ये निशान दिन-ब-दिन बदलनेवाली चांद की कलाओं का रिकार्ड है। अलग-अलग निशानों से अमावस, पूनम, अष्टमी का अर्धचन्द्र, वगैरह दर्शाए गए हैं। चांद की कलाओं की यह घट-बढ़ जुड़कर बन गई एक नक्काशी! तो मैंने सोचा, पाषाण युग में इन्सान ने चांद को ऐसे भी देखा।

एक तरह से ज्योतिष या खगोल शास्त्र की शुरूआत भी चांद से ही होती है। चांद की गति भांपने से, उसकी लय या चक्र को समझने से होती है।

इन्सान एक ऐसा प्राणी है जिसे समय के प्रवाह का बहुत गहरा अहसास है, इतिहास का अहसास है। इसके लिए कालगणना आवश्यक है और कुदरत में जो तरह-तरह के चक्र मौजूद वही इसका आधार बन जाते हैं।

सबसे पहला और सहज चक्र है दिन और रात का, जो मोटे तौर पर मानव शरीर के सोने-जागने के चक्र से मेल खाता है। इससे लम्बा जो चक्र नज़र आता है, वह बेशक चांद का ही है। उसका धीरे-धीरे बढ़ना, पूनम के बाद धीरे-धीरे घटना, अमावस को लुप्त हो जाना और फिर नए सिरे से वही धीरे-धीरे बढ़ना।

अखिल-भारतवर्षोपयोगि सूक्ष्म-दृश्य-गणित-युतं-श्रीवेङ्कटेश्वर-शताब्दि-पञ्चाङ्गम्

ति.	प्र.आश्विन शुक्लपक्षः सं. २०३९ शाकः १९०४												दि.	उ.	अ.	इ.	रा.	मु.	चन्द्रः
१	श	२२	३६	उ	७	२२	शु	४४	८	व	२२	३६	[illegible]	५६	[illegible]	१८	२७	२९	कन्यायां
२	र	२०	३४	हृ	०६	२६	ब्र	४०	३९	कौ	२०	३४	१६	५७	३	१९	२८	१	तु.३६।४५
३	चं	२०	१३	चि	७	५	ऐं	३८	५४	ग	२०	१३	१२	५८	२	२०	२९	२	तुलायां
४	मं	२२	८	स्वा	[illegible]	३५	वै	३७	५२	वि	२२	८	८	५८	२	२१	३०	३	वृ.५७।४७
५	बु	२५	३१	वि	१३	५२	वि	३८	३४	बा	२५	३१	४	५९	१	२२	३१	४	वृश्चिके
६	गु	३०	३८	अ	१९	३७	प्री	४०	८	तै	३०	३८	[illegible]	[illegible]	[illegible]	२३	१	५	वृश्चिके
७	शु	३५	४४	ज्ये	२६	२४	आ	४२	९	ग	३	११	[illegible]	[illegible]	५९	२४	२	६	ध.२६।२४
८	श	४२	२९	मू	३३	५२	सौ	४४	२६	वि	९	७	५१	२	५८	२५	३	७	धनुषि
९	र	४८	४७	पू	४१	१७	शो	४७	११	बा	१५	३८	४७	३	५७	२६	४	८	म.५८।६
१०	चं	५४	२२	उ	४८	३२	अ	४८	३६	तै	२१	३४	४३	३	५७	२७	५	९	मकरे
११	मं	५८	४८	श्र	५४	३५	सु	४९	२०	व	२६	३५	३८	४	५६	२८	६	१०	मकरे
१२	बु	६०	०	ध	५९	२२	धृ	४९	३	व	३०	१७	३४	५	५५	२९	७	११	कु.२६।५८
१२	गु	१	४७	श	६०	०	शू	४८	२६	बा	१	४७	३०	६	५४	३०	८	१२	कुम्भे
१३	शु	२	५७	श	२	४१	गं	४५	२२	तै	२	५७	२६	७	५३	१	९	१३	मी४८।४४
१४	श	२	४१	पू	४	७	वृ	४०	५	व	२	४१	२२	८	५२	२	१०	१४	मीने
१५	र	०	५३	उ	४	१०	ध्रु	३५	३७	व	०	५३	१८	८	५२	३	११	१५	मीने

शरदृतु रविर्दक्षिणेऽयनः ३४५३स.१९८२
चन्द्रदर्शनम् अधिकमास आरम्भः
जिल्हेज १२
भ. ५१।१० उ.
भ. २२।८ या.
वक्री हस्ते बुधः ५८।४१
रा. आश्विनारंभः
भ. [illegible] उ. उफा. शुक्रः [illegible] स्वातौ ४गुरुः [illegible]
भ. ९।७ या.
कन्यायां शुक्रः ५२।४०
हस्ते रविः ०।९ (सौरः ३२।३३)
भ. २६।३५ उ. [illegible] या. कमला ११ व.
प्रदोषः
अस्तं शनेः [illegible] अक्टूबर मा. १० ता. ३१
भ. २।४१ उ. ३१।४७ या.

२४पं. प्र.आ.शु.४मं इ. [illegible]

र	मं	बु	गु	शु	श	रा	र
५	७	५	६	४	५	२	५
४	७	२३	१६	२३	२८	१५	४
५५	४४	४७	१०	४१	२५	३५	२३
१९	२०	३६	४७	५३	५२	२०	१४
५८	४१	[illegible]	१२	७४	६	३	५८
३८	२९	व	१	२६	५९	११	४५

गोचरग्रहाः

७चवृ, ५शु, ६सूबुगु, मं८, ४, ९के, ३रा, १०, १२, ११, १

यदा वृश्चिक राशिस्थो जायते च महीसुतः। महर्घं सर्वं द्रव्याणां नृपाणां क्रोधमादिशेत्॥ धान्य धातु तिलहन में तेजी होगी।

गोचरग्रहाः

७वृ, ५, ४, मं८, ६सूबुश, ९के, ३रा, चं१०, १२, २, ११, १

२५पं.प्र.आ.शु.११मं.इ. [illegible]

र	मं	बु	गु	शु	श	रा	र
५	७	५	६	५	५	२	५
११	१२	१८	१७	२	२९	१५	११
४६	३५	५७	३१	२४	१५	१३	१५
५५	४२	४३	३४	२५	२२	४	१७
५८	४२	[illegible]	१२	०४	७	३	५९
५३	१३	व	२१	२६	६	११	०

समकालीन पंचांग का एक पृष्ठ, अधिक मास सहित। विक्रम संवत् 2031 या सन् 1982 में दो अधिक मास (आश्विन और फाल्गुन) जोड़े गए थे। इसे समायोजित करने के लिए आधा पौष और आधा माघ महीना साल से निकाल दिया गया था। इस कारण कई व्रतों-त्योहारों की तिथियां विवाद का केन्द्र बन गईं। कुछ लोगों ने सोचा दीपावली 15 नवम्बर को होना चाहिए और कुछ लोगों ने सोचा 16 अक्तूबर ज्यादा सही दिन होगा।

इसीलिए दुनिया भर में कालगणना की दिन से बड़ी इकाई महीना ही है (ये शब्द भी शायद मही या चांद से बना है)। भारतीय उपमहाद्वीप में हड़प्पा काल के बाद लगभग ईसा पूर्व 1000-600 की अवधि के ज्योतिष के भाषिक सबूत ज्योतिष-वेदांग में मिलते हैं। हड़प्पा काल के ऐसे कोई भाषिक सबूत नहीं मिले हैं। ज्योतिष-वेदांग की कालगणना का मुख्य आधार भी चांद का चक्र ही है।

और अब सोचता हूं तो यह भी ध्यान आता है कि चांद का चक्र भी तो मानव शरीर की लय से मेल खाता है। जिस तरह सोने-जागने का क्रम दिन-रात के चक्र से जुड़ा है, उसी तरह औरतों की ऋतुचर्या की लय चांद के चक्र से मेल खाती है। और यह भी हो सकता है कि इसी बात से प्रभावित होकर किसी औरत ने चांद की कलाओं का रिकॉर्ड उस हड्डी पर दर्ज़ करने की कोशिश की हो!

आकाश में चांद की गति का एक रास्ता बनता है। इस रास्ते का 27 नक्षत्रों में (कहीं-कहीं 28 नक्षत्रों में) विभाजन भी वेदकालीन ज्योतिष में मिलता है। इस तरह का विभाजन प्राचीन एशिया की विशेषता है। लगभग उसी ज़माने के अरब और चीनी दस्तावेजों में भी चांद मार्ग का 27 भागों में विभाजन पाया जाता है। अरब में इन्हें मनाज़िल और चीन में 'हसुइ' (hsui) कहते हैं।

वेद कालीन ज्योतिष में एक और समस्या का हल भी शामिल है। इसे समझने के लिए एक और कुदरती चक्र को समझना ज़रूरी है। मौसम, आबोहवा, पशु-पक्षियों का स्थानांतर आदि चीज़ें जुड़ी हुई हैं पृथ्वी की परिक्रमा से— तब की दृष्टि से देखें, तो सूरज के चक्र से। इस चक्र की मूल इकाई साल बनती है।

समस्या तब पैदा होती है, जब चांद और सूरज के इन चक्रों का मेल करने की कोशिश होती है। चांद का चक्र औसत 29.5 दिन का होता है और सूरज के साल का चक्र 365 दिन का (उनकी दृष्टि से)। ये एक-दूसरे से मेल नहीं खाते। बारह महिनों में दिन बनते हैं 354 और 11 दिन बाकी रह जाते हैं। इस समस्या को देखते हुए कुछ लोगों ने चांद पर आधारित महीना ही त्याग दिया, जैसे कि यूरोप में। कुछ लोगों ने सूरज के चक्र को नकार दिया, जैसे कि अरब में। यहां के रेगिस्तानों में वैसे भी मौसमी उतार-चढ़ाव बहुत कम थे। समस्या यह थी कि वेदकालीन खगोलशास्त्री दोनों को रखना चाहते थे।

इसके लिए 'अधिक मास' का जुगाड़ किया गया। जिस साल पंचांग वर्ष और चांदमास से बने वर्ष के बीच 29.5 दिनों से ज्यादा का अन्तर पड़ता, उस साल में एक चांद मास और जोड़ दिया जाता। दूसरे शब्दों में, उस पंचांग वर्ष में 13 चांदमास हो जाते और सौर वर्ष तथा चांदमास वाला वर्ष आपस में मेल खा जाते। इस तरह 100 सालों में लगभग 33 अधिक मास आ जाते हैं। यह सिलसिला आज भी ज़ारी है हालांकि आज इसकी बुनियाद आधुनिक ज्ञान पर टिकी है।

तो सौर वर्ष का निर्धारण, चांद मास से उसका मेल और आकाश में चांद के मार्ग का 27 नक्षत्रों में विभाजन, ये वेदकालीन तथा उत्तर वैदिक खगोलशास्त्र की विशेषताएं थीं। इसके अलावा खगोलशास्त्र की और भी कई धाराएं थीं, खासकर जैन खगोलशास्त्र, जो अपने आप में बिलकुल ही अलग तरह की रचना थी।

लेकिन ईसा-पूर्व 600 से लेकर लगभग दूसरी सदी तक के इस दौर में हमें उपमहाद्वीप के खगोलशास्त्र में किसी खास परिवर्तन के सबूत नहीं मिलते। यह दौर कुछ ऐसा था जब फसलों की सिंचाई हो रही हो, मिट्टी के पोर तक पानी पहुंच रहा हो, मिट्टी में अन्दर ही अन्दर अंकुर फूट रहे हों, जीव-जीवाणु बढ़ रहे हों लेकिन ऊपर से कुछ दिखाई न दे।

इस दौर में सिंचाई हो रही थी नए सवालों से, जो कि विज्ञान के लिए बहुत ज़रूरी है। चांद और सूरज की औसत गति को समझ लेने के बाद अब बारी थी ग्रहों की। ये दिखते तो थे तारों जैसे परन्तु तारों के समान अपनी-अपनी जगह स्थिर नहीं रहते थे। मनमाने घूमते रहते थे इनको समझना ज्यादा टेढ़ी खीर थी। यदा-कदा ऐसे खगोलशास्त्रियों का ज़िक्र आता है, जो इस या उस ग्रह का अध्ययन करने की कोशिश में लगे हुए थे।

आनेवाले दौर में खगोलशास्त्र में जो बदलाव आया उसकी एक झलक हमें उस जमाने के व्यापार में मिलती है। जी हां, व्यापार में! व्यापार तो खैर चीज़ों और रुपए-पैसे के लेन-देन की बात है लेकिन हम जिस व्यापार की बात कर रहे हैं वह विचारों के लेन-देन की बात है।

इस पूरे दौर में, जब यहां बौद्ध और जैन धर्म का प्रभाव था, तब समाज में एक खुलापन था। यह खुलापन धीरे-धीरे कम हुआ। 'व्यापार' भी घट गया। लेकिन रुपए-पैसे और विचारों के लेन-देन में एक बड़ा फ़र्क है। जब विचार यात्रा करते हैं, तो ज्यादा गति से और ज्यादा दूर तक पहुंचते हैं और ये जब आत्मसात किए जाते हैं तब किसी अन्य चीज़ से ज्यादा टिकाऊ होते हैं।

इस दौर में यूनान से आए हुए दो विचार आत्मसात् किए गए, जिनका मिला-जुला असर अगले दौर में दिखाई देता है। एक था, चांद-सितारों के आधार पर भविष्य बताना। इसने तो 'ज्योतिष' का अर्थ ही बदल डाला। दूसरा था अधिचक्र या epicycle की कल्पना, जिसे अपनी तरह से ढालकर आने वाले समय में आर्य भट्ट ग्रहों के स्थान–निर्धारण का रूप ही बदल देने वाले थे लेकिन, ये तो आनेवाले दौर की बातें थीं।

आयुर्वेद और खगोलशास्त्र

ईसवी सन् 300 से ईसवी सन् 700 तक

जीवक नामक चिकित्सक की एक लोककथा और आयुर्वेद के एक चिकित्सक के साथ चर्चा से हमें आयुर्वेद के मूल सिद्धांतों का परिचय मिलता है। जामनगर आयुर्वेद विश्वविद्यालय की सैर करते हुए हम पाते हैं कि चरक और सुश्रुत की संहिताएं न सिर्फ एक औषधि प्रणाली और शल्य क्रिया के ज्ञान के रूप में महत्व रखती हैं बल्कि अपने अनुभव-जनित तर्कसंगत आधार, वैज्ञानिक पद्धति और भौतिकवादी नज़रिये की दृष्टि से भी काबिले गौर हैं। इसे मद्देनज़र रखते हुए कोई अचरज की बात नहीं कि आने वाले समय के रूढ़िवादी समाज ने इस विज्ञान का दमन किया।

शुरूआती ईसवी सदियों में कुशाण नगरों में शहरीकरण अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच चुका था। हम मथुरा म्यूज़ियम में लाल सॅन्डस्टोन मूर्ति शिल्प को सराहते हैं और पुरातत्व स्थल सोंख की भी सैर करते हैं। 2500 साल पुराने एक भव्य जलाशय के अवशेष देखने हम इलाहाबाद के निकट श्रृंगवेरपुर भी जाते हैं। इस जलाशय में बाढ़ का पानी इकट्ठा करने, छानने व जमा करके पेयजल के लिए रखने का इन्तज़ाम था।

मायावाद और भौतिकवाद के बीच बढ़ते विवाद और सहजबुद्धि लोकायत नज़रिये के अंदाज़ को जीवन्त रूप में प्रस्तुत करने के लिए नाट्य शैली का प्रयोग किया गया है। इसका मंच नालंदा विश्वविद्यालय को बनाया गया है, जहां कभी चीनी यात्री युआन च्वांग आए थे और शायद खगोल-शास्त्री आर्यभट यहां पढ़ाया करते थे।

आर्यभट की उपलब्धियां प्रभावशाली हैं : पृथ्वी की परिक्रमा संबंधी उनकी परिकल्पनाएं और उसकी गति की गणना, π का मान और छाया के आधार पर ग्रहण की सही व्याख्या। गणित को खगोलशास्त्र के अभिन्न अंग के रूप में समझा गया है।

आर्यभट पूर्णतः तर्कसंगत हैं। परंतु वह ज़माना बढ़ते रूढ़िवाद और अंधविश्वासों का ज़माना था। आर्यभट एक अपवाद थे। अलबत्ता उनके बाद आने वाले खगोलशास्त्रियों के काम में फलित ज्योतिष का संकेत मिलता है।
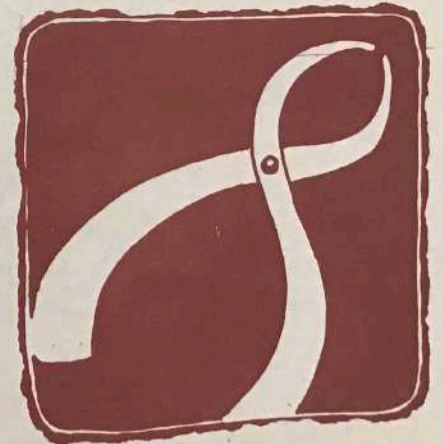
किस्सा 'स्वर्णयुग' का

गुप्तकाल (चौथी से छठवीं ईसवी) को इस उपमहाद्वीप का स्वर्णयुग माना जाता है। इस मान्यता में उस काल के सांस्कृतिक–आर्थिक परिवेश का योगदान तो है ही परंतु साथ ही कुछ अन्य ऐसी विशेषताएं भी हैं जो काबिले गौर हैं।

पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में एक सांस्कृतिक संदर्भ के निर्माण का काम पहले पहल बौद्ध और जैन भिक्षुओं ने किया था। दक्षिणापथ से चलकर, व्यापारिक मार्गों के सहारे जगह-जगह विहार बनाकर। लेकिन बौद्ध और जैन धर्म यहां दूर दराज तक और सारे सामाजिक तबकों में जड़ें नहीं जमा सके।

गुप्तकाल की खासियत शायद यह है कि वह एक ऐसे दौर का श्रीगणेश करता है जिसमें वैदिक परंपरा चोला बदलकर गांव आधारित जाति प्रथा का रूप लेने लगी थी। इसे हम मोटे अर्थों में हिन्दू धर्म का नाम दे सकते हैं। जाति प्रथा के आधार पर यह सारे तबकों को अपने दायरे में सोख रहा था। गुप्त साम्राज्य के विस्तार में, इन प्रथाओं के बनने, फैलने और जड़ें पकड़ने का भी योगदान है।

इसके अलावा गुप्त साम्राज्य पूर्ववर्ती मौर्य आदि साम्राज्यों से अलग मायने रखता है। यह एक ऐसा साम्राज्य था जो सामंतों, रजवाड़ों और गांव के मुखियों की विविधताएं काफी हद सुरक्षित रखता था। इसमें एक केन्द्रीकृत शासन निर्माण करने की कोशिश नहीं थी। दूसरे शब्दों में कहें, तो साम्राज्य के एक छत्र के तले राज्यों के अलग-अलग अधिकार क्षेत्र की व्यवस्था थी। खुद चन्द्रगुप्त भी किसी खास राजवंश के नहीं थे। उन्होंने एक लिच्छवी राजकन्या से शादी की थी। इसका ज़िक्र वे बार-बार करते हैं।

इस साम्राज्य को एक राजनैतिक संघ के रूप में भी देखा जा सकता है जिसके भवन की बुनियाद ग्राम व्यवस्था पर टिकी है। उत्तरी हिस्सों में इस संघ में एक स्थिरता भी आई लेकिन दक्षिणी हिस्सों में इसकी पहुंच नहीं थी। महत्व की बात यह है कि गुप्त साम्राज्य से भी ज्यादा महत्व उस काल की इस जाति आधारित सामंती समाज व्यवस्था का है। यह व्यवस्था पूरे उपमहाद्वीप में फैल रही थी। यह गुप्तकाल की

जयना पांड्या, कामेश्वर प्रसाद, 1984 पर आधारित
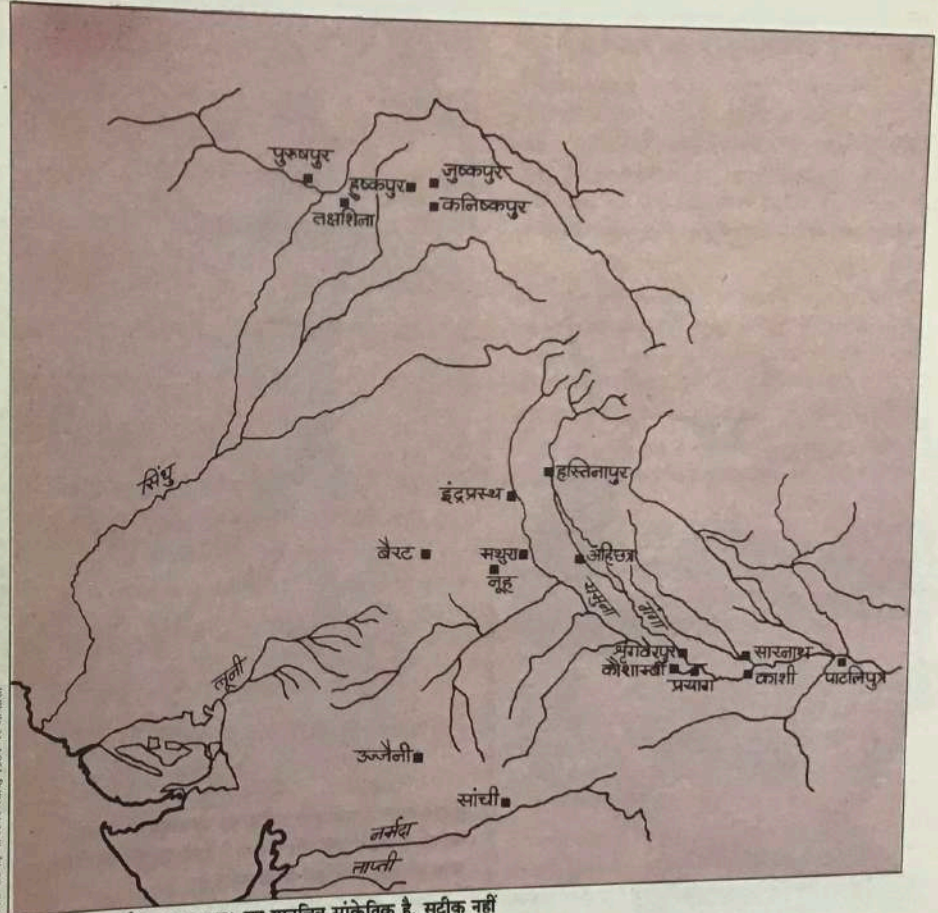
कुशाण साम्राज्य के मुख्य स्थान। यह मानचित्र सांकेतिक है, सटीक नहीं

उत्तम घोष, नेशनल म्यूज़ियम, नई दिल्ली में, संघोल शिल्प पर आधारित

उत्तम घोष, नेशनल म्यूज़ियम, नई दिल्ली, में मथुरा शिल्प पर

कुषाण काल में समृद्धि के प्रतीक यह स्वर्णाभूषणों से लदी मद्यपान करती सन्नारी और कुबेर। ये दोनों उस दौर की शिल्प कला की श्रेष्ठता के बारे में भी बताते हैं

विशेषता थी। यह एक नई घटना थी जो गुप्त साम्राज्य के स्वरूप में भी झलकती है।

परंतु जिन कारणों से इस काल को स्वर्ण युग कहा जाता है, जैसे शहरों की खुशहाली, साहित्य, कला, चित्रकारी, आदि, जब उनको देखती हूं तो अचरज में पड़ जाती हूं। क्योंकि मैं देखती हूं कि इन सारी बातों की शुरुआत और विकास तो कुशाण काल (पहली से चौथी सदी ईसवी) में हुआ। कुशाण साम्राज्य में शहर तथा व्यापार तो शायद गुप्तकाल से बेहतर हैं। इस काल में पहली एक समान मुद्रा तैयार हुई और सोने के सुन्दर सिक्के बने। चित्रकारी, साहित्य, सभी कुछ तो कुशाण काल में शुरु हो चुका था। कुशाण काल के खुदाई के सबूत भी ज्यादा पुख्ता हैं। इनसे पता चलता है कि खुशहाली के मामले में कुशाण काल के शहर, गुप्त काल से बीस ही बैठेंगे। और उनके सिक्के मात्र पूरे उपमहाद्वीप में ही नहीं बल्कि रोम जैसे शहरों में भी मिलते हैं।

यही विकास गुप्तकाल में भी जारी रहा— वह भी अधिकतर गुप्त सम्राटों के सामंतों के इलाकों में। गुप्तकाल के बाद भी यह विकास चलता रहा। फिर गुप्तकाल को इस तारतम्य में से काटकर स्वतंत्र रूप से स्वर्ण युग कहकर क्यों पेश किया जाता है?

जब भी किसी काल को, इतिहास के स्वाभाविक प्रवाह से अलग करके स्वतंत्र रूप से स्वर्ण युग, आदि के रूप में देखा जाता है, तो इसके कुछ कारण होते हैं। ये कारण इतिहास में नहीं, वर्तमान में होते हैं। जैसे आयुर्वेद के गठन काल को स्वर्णयुग मानना या जैसे रेनेसांस कालीन यूरोप ने यूनान को माना।

और जब मैं इस रूझान का, इस पूर्वाग्रह का मूल ढूंढने निकलती हूं तो दुखी हो जाती हूं कि पूर्वाग्रह इतने दबे पांव प्रवेश करता है। यदि स्वर्णयुग मानना ही है तो कुशाण काल से लेकर गुप्त काल के बाद तक के समय को मानना होगा। मगर ऐसा नहीं हुआ। मुझे इसके पीछे जो कारण नज़र आते हैं उनमें पहला तो यह है कि कुशाण राजा बौद्ध थे, जबकि गुप्त राजा स्वनामधन्य हिन्दू! दूसरा कारण यह भी है कि चाहे कुशाण साम्राज्य ठेठ मथुरा तक पहुंचा हुआ था, फिर भी कुशाणों को 'विदेशी' माना जाता है। कारण यह है कि उत्तर-पश्चिमी भाग में जहां उनके शासन का केन्द्र था, वह जगह आज के भारत की सीमाओं से बाहर है।
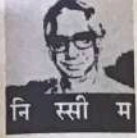
नि स्सी म

दर्शन, दिग्दर्शन

विज्ञान की इस श्रृंखला में दर्शन की बात महत्त्वपूर्ण है। जैसे कि आपने पूरब के विज्ञान की बातें सुनी होंगी, जिसकी आजकल विज्ञान के दार्शनिक बहुत प्रशंसा करते हैं। यह पूरब का विज्ञान मुख्यत: चीन के दर्शन पर आधारित विज्ञान है। यह दर्शन प्रकृति को दो भिन्न तत्त्वों के रूप में देखता है। जब हम भारतीय उप-महाद्वीप के विज्ञान की बात करने की कोशिश करते हैं, तो इस उपमहाद्वीप के दर्शन से परिचय होना स्वाभाविक है। इस उपमहाद्वीप में जीवन और प्रकृति के प्रति जो अलग-अलग दर्शन हैं, उनमें से कुछ का सारतत्त्व हमने आपके सामने पेश किया।

जहां तक विज्ञान का सवाल है, तो जीवन का दर्शन ही विज्ञान की दिशा निर्धारित करता है। जैसे कि हमने खगोल-शास्त्र के बारे में बात करते समय देखा था कि किस प्रकार से एक दार्शनिक नज़रिया उस विषय की प्रगति, उसके सवाल और उन सवालों को समझने का तरीका भी निर्धारित करता है। हमने इस नज़रिये की कमियों, परम्पराओं की खामियों या उनके फायदे के बारे में सोचने की कोशिश की।

दर्शन याने जीवन के प्रति नज़रिया। यह बड़ा पेचीदा मामला है। फ़िल्म में हमने तीन दर्शनों को एक नाटक के माध्यम से पेश किया। इन जटिल अवधारणाओं को इस तरह से पेश करना एक चुनौती ही थी। भारतीय उपमहाद्वीप के दर्शनों को फ़िल्म में हमने उनके सारतत्त्व के रूप में पेश किया। भौतिकवादी और मायावादी नामों वाले कोई दर्शन नहीं है। दरअसल अलग-अलग दर्शनों में ये दो मुख्य धारणाएं हैं और इन सबसे अलग तीसरा दर्शन है लोकायत नाम का जो लिखित रूप में उपलब्ध नहीं है।

किन्तु इन धारणाओं को समझने से पहले हमें दर्शनों का अध्ययन करना पड़ा। इनकी समृद्धता से हम प्रभावित भी हुए।

लगभग छठवीं सदी तक जो कई दर्शन यहां उभरे, वेदांत उनमें से एक था। असल में वेदांत षड्दर्शनों का अंग था: न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य, मीमांसा (पूर्व-मीमांसा) और वेदांत (उत्तर मीमांसा)। इनके अलावा बौद्ध, जैन, अजीवकों के दर्शन, पुराण कश्यप,
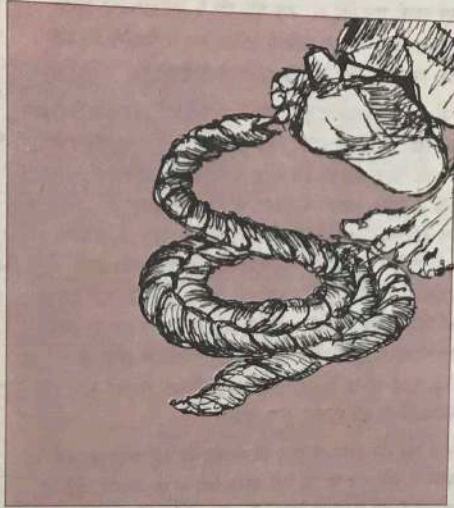
अजित केशकंबली, आदि के निराशावादी दर्शन और जैसा कि हमने ऊपर ज़िक्र किया, लोकायत। इन सबकी शाखा-उपशाखाओं की तो हम बात ही नहीं कर रहे हैं। इस ब्यौरे से आप समझ ही गए होंगे कि वेदांत, जो आगे चलकर इतना महत्वपूर्ण बन गया, वह वास्तव में कई दर्शन विचारों में से एक था। दरअसल शंकराचार्य जैसा अधिष्ठाता मिलने के बाद ही वेदांत का महत्व बढ़ा।

यहां हम इन दर्शनों के बारे में विस्तृत जानकारी नहीं देने जा रहे हैं। लेकिन उनकी मूल विचारधारा को समझना और इसलिये उनका विचारों के रूप में मोटा वर्गीकरण करना महत्त्वपूर्ण है।

हमने इन दर्शनों को मुख्यत: तीन तरीकों से वर्गीकृत किया है। पहला वर्गीकरण है मायावादी या भाववादी (चेतनावादी) दर्शन और भौतिकवादी (पदार्थवादी) दर्शन। भाववाद का अर्थ है कि पदार्थ को न तो महत्व देना और न निर्णायक मानना। जबकि भौतिकवादी दर्शन पदार्थ को ही निर्णायक मानते हैं, प्रमुख मानते हैं।

वर्गीकरण का दूसरा आधार इस तरह है : सामाजिक ढांचे में मौजूद एकाधिकार को समर्थन देने वाले, उसे व्यापक बनाने में मदद देने वाले दर्शन और दूसरी तरफ इस एकाधिकार का विरोध करने वाले दर्शन। जैसे हिंदू धर्म में जो ऊंच-नीच की श्रेणियां उभर रही थीं उसके समर्थक श्रुति-स्मृति को माननेवाले आस्तिक हुए और समाज के इन ढांचों को नकारने वाले, श्रुति-स्मृति को न मानने वाले नास्तिक हुए।

तीसरे किस्म का वर्गीकरण है: ईश्वरवादी और निरीश्वरवादी का। जो ईश्वर को सर्वशक्तिमान माने वह ईश्वरवादी और जो ईश्वर को सर्वशक्तिमान न मानकर व्यक्ति को मान्यता दे वह निरीश्वरवादी। दूसरे और तीसरे को लेकर कई बार ग़लतफ़हमी हो जाती है कि निरीश्वरवादी याने नास्तिक। दार्शनिक संदर्भ में ये पर्यायवाची नहीं हैं।

जब हम उपरोक्त तीन तरह से यहां के दर्शनों का वर्गीकरण करते हैं, तो पाते हैं कि भारतीय दर्शन के संबंध में प्रचलित कई सारी धारणाएं बेबुनियाद हैं।

जैसे इसी धारणा को लें कि यहां के अधिकांश दर्शन मायावादी हैं। हम पाएंगे कि सही मायने में वेदांत ही एकमात्र ऐसा दर्शन था जो मायावादी (अर्थात् जगत को मिथ्या कहनेवाला) था। बाकी सारे दर्शन बाहरी यथार्थ को, इस जगत को मिथ्या नहीं मानते थे, बल्कि इसको लेकर हरेक का अपना दृष्टिकोण था।

इस अर्थ में, न्याय और वैशेषिक, दोनों ही भौतिकवादी दर्शन थे। न्याय में तर्क की विधा को ज्यादा महत्व दिया गया था जबकि वैशेषिक एक घटकवादी दृष्टिकोण रखता था। इनकी तार्किक बनावट काफी स्पष्ट और एक तरह से आसान थी। इनमें भी चेतना को एक अलग स्थान दिया गया था।

सांख्य और योग भी इस अर्थ में भौतिकवादी ही थे। सांख्य प्रकृति को प्रधान मानता था और उसके स्वतंत्र अस्तित्व, महत्व को भी स्वीकार करता था। साथ ही चेतना का तत्व भी इसमें शामिल था।

योग तो शरीर को जानने और उस पर बेहतर नियंत्रण बरतने का दर्शन था। कई विद्वान इनका संबंध आयुर्वेद और लोकायत की अवधारणाओं से भी जोड़ते हैं। लेकिन सांख्य और योग दोनों में ऐसी धारणाएं भी थीं जिन्हें चमत्कारिक कहा जा सकता है।

बौद्ध और जैन दोनों दर्शनों में इस लोक की घटनाओं के बारे में एक निरंतर परिवर्तन और कार्य-कारण संबंध की अवधारणाएं केन्द्रीय थीं। लेकिन उनमें, खासकर बौद्ध दर्शन में एक शून्यवाद की प्रेरणा भी शामिल थी, जो आगे चलकर इसके रूपान्तरण का कारण बनी।

लेकिन सबमें, सबसे ज्यादा स्पष्ट और पूरी तरह से भौतिकवादी दृष्टिकोण था, तो लोकायत का था। लोकायत मत के अनुसार तो चेतना भी भौतिक तत्त्वों के संतुलन का ही रूप थी। भौतिक तत्त्वों के कारण ही चेतना थी। जो कुछ भी होता है, घटता है उसका कारण है पदार्थ का 'स्व-भाव' याने पदार्थ की निहित प्रकृति।

मुझे लगता है कि चेतना को भी इस रूप में देखना लोकायत का विशेष गुण है। इसीलिए जब ग्यारहवीं सदी में वेदान्त का प्रभाव बढ़ने लगा, तब बाकी सारे दर्शनों में से धीरे-धीरे भौतिकवाद का अंश कम होने लगा। लोकायत के विरोधी जो कुछ कहते हैं उसके आधार पर, सिर्फ लोकायत ही भौतिकवाद पर अटल रहा।

दूसरे किस्म के वर्गीकरण के आधार पर हम देखते हैं कि बौद्ध, जैन और लोकायत, तीनों ही, कम से कम पुरुषों के मामले में, वैदिक परम्परा की श्रेणियों को नहीं मानते थे। स्त्रियों को तो खैर सबने निचला दर्जा दे रखा था। ज्ञान-विज्ञान पर भी वे ब्राह्मणों का एकाधिकार नहीं मानते थे।

इस मामले में षड्दर्शनों की नींव कच्ची थी क्योंकि वे किसी न किसी रूप में वेदों की परम्परा और अधिकार को मानते थे। उनमें जो भी भौतिकवादी थे, उन पर आगे चलकर इस बात का प्रभाव हुआ। एक बार इसको मान लेने पर, उन्हें धीरे-धीरे वे सारे भाववादी विचार स्वीकार करना पड़े जो इसमें से तार्किक रूप से निकलते थे। यही बात हम न्याय और वैशेषिक के मामले में देखते हैं।

यही बात हम ईश्वरवाद के मामले में भी देखते हैं। शुरुआत में वेदांत को छोड़, बाकी सारे दर्शन ईश्वर या किसी व्यक्तिरूपी भगवान को नकारते दिखाई देते हैं। इस संदर्भ में वेदांत की सबसे कड़ी आलोचना उसी के जुड़वां दर्शन पूर्व-मीमांसा में देखी जा सकती है। पूर्व-मीमांसकों का कहना था कि सिर्फ वेद ही प्रमाण हैं, उपनिषद् नहीं। वे वेदों के छंदों को मंत्र मानते थे, ध्वनिरूपी मंत्र। इसके शाब्दिक अर्थ को वे कोई महत्व नहीं देते थे। इसके विपरीत वेदान्त का मानना है कि वेद और उपनिषद् दोनों मिलकर प्रमाण हैं। उनका यह भी मानना था कि वेदों का अर्थ भी उपनिषदों के सहारे ही निकाला जा सकता है। इसीलिए वेदान्त को उत्तर मीमांसा और मीमांसकों को पूर्व-मीमांसा कहा जाता था।

बौद्ध और जैन दर्शन भी ईश्वर की कल्पना को नहीं मानते थे। बुद्ध के वचन तो प्रसिद्ध है कि "मैं नहीं जानता नदी के पार क्या है, मुझे तो मतलब है नदी पार करने से"। और लोकायत? लोकायत के तो नाम में ईश्वर का निषेध जुड़ा है। उसे लोकायत कहने का तात्पर्य ही यह है कि वह इस लोक की बातें मानता है, परलोक की नहीं। इस लोक से बाहर किसी शक्ति को वह नहीं मानता।

तो इस मोटी-मोटी रूपरेखा से हम क्या पाते हैं? एक तरफ था वेदान्त जो मायावादी, आस्तिक और ईश्वरवादी था। दूसरी तरफ था लोकायत जो भौतिकवादी, नास्तिक और अनीश्वरवादी था। और बीच में थे बाकी सारे दर्शन जो अधिकतर भौतिकवादी और अनीश्वरवादी थे। समय के बीतने के साथ, जब हिन्दू जाति प्रथा का गठन हुआ और उस पर टिकी सामंती व्यवस्था उभरी तो बाकी के सारे दर्शन भाववाद और ईश्वरवाद की ओर खिंचते गए। भारत के पुराने दर्शनों के जो बदले हुए रूप हम तक पहुंचे हैं, वे अपने में वेदान्त का यह प्रभाव समाए हुए हैं। इसी वर्तमान स्वरूप को देखकर भारतीय उपमहाद्वीप के प्राचीन दर्शनों की परम्परा वेदान्त की विरासत मानी जाने लगी। अर्थात् यह धारणा बन गई कि भारतीय उपमहाद्वीप की परंपरा विज्ञान व इहलौकिक विचारों की विरोधी और मायावादी जातिप्रथा की समर्थक रही है और ईश्वर तथा अध्यात्म से सराबोर है। अंग्रेज़ों के ज़माने में जब आत्म सम्मान को खतरा पैदा हुआ, तो इस दृष्टिकोण पर पक्की मोहर लग गई।

आज ज़रा इस चश्मे को उतारकर हमें एक बार फिर अपने उपमहाद्वीप के दर्शनों को देखना चाहिए। हम पाएंगे कि हमारी परम्परा सिर्फ अध्यात्म की नहीं, विज्ञान की भी है। ईश्वरवादी ही नहीं, अनीश्वरवादी परम्परा भी उतनी ही भारतीय है और जातिप्रथा को नकारने वाली नास्तिक परम्परा भी। इसीलिए हमने फ़िल्म में लोकायत का ज़िक्र किया था, जो इस वैकल्पिक परम्परा का सबसे स्पष्ट व सशक्त रूप है।

एक भूला हुआ जलाशय

मुख्य टंकी और सीढ़ियां, श्रृंगवेरपुर

श्रृंगवेरपुर के बारे में फ़िल्म में तो काफी कुछ कहा गया है पर मुझे उसे यहां थोड़ा दोहराना, थोड़ा और सशक्त करना ज़रूरी लगता है क्योंकि मेरे हिसाब से सच में वह हमारे इंजीनियरिंग के ज्ञान का एक बेजोड़ उदाहरण है। आज के हाइड्रोलिक इंजीनियर इस टंकी को बनाने में इस्तेमाल किए गए सिद्धांतों को जिन शब्दों में समझते हैं वैसे शायद तब के लोग न समझें हों पर इन सिद्धांतों में निहित सोच को तो उन्होंने ज़रूर समझा था। यह भी कहीं खटकता है मुझे कि राम वहां आये इसलिये उस जगह का इतना बोलबाला। और इतने सारे लोगों के ज्ञान, जानकारी और तकनीक के आधार पर बने इस मानव निर्मित स्मारक को तो हमने पूरी तरह से नज़रअंदाज ही कर दिया।
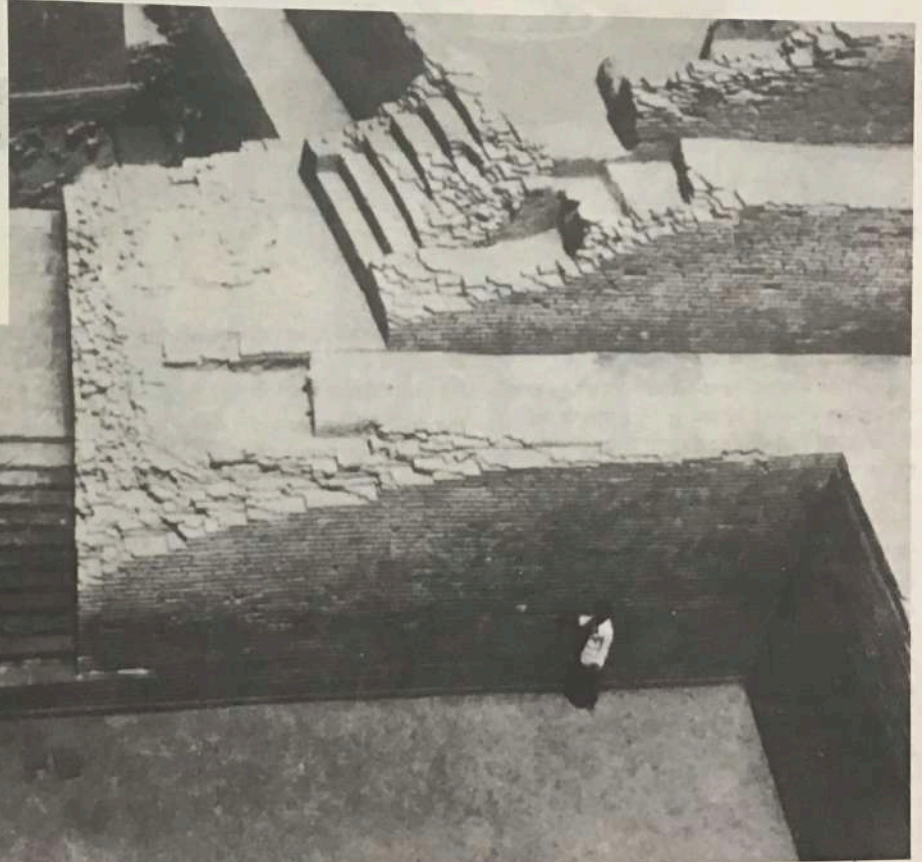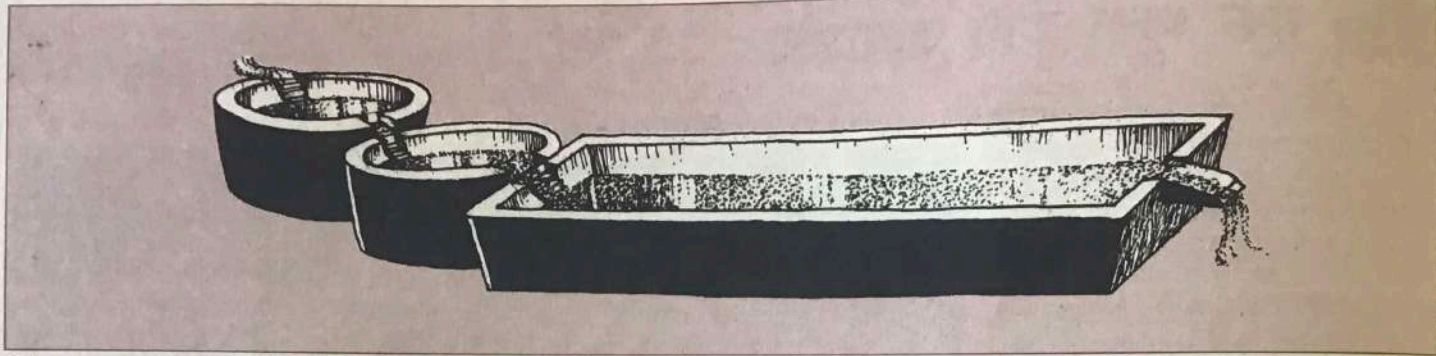
शृंगवेरपुर जलाशय का नक्शा

इस जलाशय का सबसे प्रभावशाली पक्ष इसकी साइज़ है। फुटबॉल के तीन मैदानों के बराबर उस पूरे नगर के निवासियों को एक जलाशय से पानी पहुंचाने की महत्वाकांक्षा रखना और उसे पूरा करना यही अपने आप में एक बड़ी कामयाबी है। नदी के बहाव को रोके बग़ैर, उसमें कोई भी परिवर्तन किए बगैर, नदी की बाढ़ के पानी को एक पास बहते नाले का उपयोग करके इस तरह मोड़ना यह भी तकनीक का ही हिस्सा है। फिर पानी में मौजूद गंदगी को नीचे बैठाकर अलग कर पाना एक तरह से तलछटीकरण और छनाई की टंकी। फिर पानी को बार बार तीन टंकियों में से निथारकर उसका शुद्धीकरण।

इस काम में मुख्यतः इस्तेमाल होते हैं हायड्रोलिक्स के सिद्धान्त। एक तरह से इतना सारा पानी यदि एक ही दिशा में बहता रहा तो उसके बहाव का ज़ोर ही इतना होगा कि वह साथ में कचरे को भी बहा ले आयेगा। उस कचरे के तली में बैठने का सवाल ही पैदा नहीं होगा। वह संभव बनाने के लिये ज़रूरी था कि एक टंकी से दूसरे में जाते हुए बहाव की गति कुछ कम होती जाए ताकि पानी में एक किस्म से ठहराव आ जाए। उसमें चलती हुई धाराएं धीरे-धीरे क्षीण पड़ जाएं। इस काम के लिए उस जलाशय की बनावट कुछ ऐसी बनाई गई कि पानी एक टंकी से दूसरी में जाने से पहले कुछ घुमावदार रास्ते में से होता हुआ, सीढ़ियों पर से धीरे-धीरे बहता हुआ ही जाए।

इतना ही नहीं पानी जिस ओर से अंदर आता था वह भाग कम करके सामने का छोर चौड़ा बनाया गया। उसी तरह से मुख्य टंकियों को ऊपर से चौड़ा और नीचे की ओर संकरा बनाया गया याने दीवारों को एक प्रकार से ढलान दिया गया। साथ ही यह केवल एक ही दीवार नहीं थी। तीन चार हिस्सों में यह पूरी दीवार बनाई गई। इनका हर हिस्सा नीचे वाले हिस्से से थोड़ा बाहर की तरफ होता और हर एक हिस्से का ढलान उर्ध्व से 11-13° रखा गया। यह सारा तामझाम पानी के बहाव की गति और धाराओं को कम करने के लिए था।

यह जलाशय पानी के लिए केवल बाढ़ के पानी पर निर्भर था। इसलिए पानी की मात्रा में मौसमी और कुदरती घट-बढ़ होने की संभावना काफी थी। जलाशय बनाते वक्त इससे — इन आपातकालीन परिस्थितियों से — निपटने के लिए मुख्य जलाशय के तले पर कुएं खोद कर रखे थे ताकि भूमिगत पानी को भी इसमें इकट्ठा किया जा सके।

नगर के लोगों को पानी सप्लाई करना इस जलाशय का मुख्य उद्देश्य रहा होगा। इसी कारण से टंकी के तले तक सीढ़ियां बनाई गईं थीं परंतु जलाशय का उपयोग कुछ धार्मिक रीति रिवाज़ों के दौरान भी होता रहा होगा, ऐसा अनुमान है। यह कहने का आधार है खुदाई के दौरान पाई गईं टेराकोटा के देवी-देवताओं की मूर्तियां। जैसे खुदाई के समय पाई गई कृत्रिम वस्तुओं से ही हम बुर्ज़होम को नियोलिथिक सभ्यता कह कर पहचान सके, वैसे ही इन मूर्तियों से टंकी के निर्माण का समय पता करने में मदद मिली है। अंदाज़ है कि ईसवी संवत् की शुरुआत में ही इसे बनाया गया होगा।

अजीब बात है न! भगवान राम के वनवास से जुड़े होने के कारण यहां खुदाई हुई। पर जो अवशेष मिले उन्होंने जानकारी दी इंसानी कौशल और काबिलियत के इस अजूबे की जिसका संयोगवश या अज्ञानवश इतिहास में ज़िक्र भी नहीं था!

श ह ना ज़

आज के ज़माने में आयुर्वेद

चरक संहिता, सुश्रुत संहिता और बस्तर के आदिवासियों की जड़ी-बूटी के बारे में ज्ञान के साथ ही एक और भी चीज़ जो लगभग उसी दौरान नज़र आई थी उसने मुझे चकरा दिया था। एक विज्ञापन था 'सिलेक्ट' केपसूल का। यह थी वह आयुर्वेदिक औषधी जिसे खाने से गर्भ में ही बच्चे के लिंग का चुनाव किया जा सकता है। औरत गर्भ धारण के बाद इनका सेवन करके लड़का पैदा कर सकती है और सिलेक्ट प्लस लेकर लड़की। ज़ाहिर है आज के हमारे विकसित समाज में 'सिलेक्ट प्लस' की शायद ही किसी को ज़रूरत पड़ी हो। बहुत ही अजीब लगा। एलोपैथी ने तो गर्भजल परीक्षण जैसी तकनीक इज़ाद की थी, जिसका उपयोग गर्भ में लिंग जांच के लिए खुले आम हो रहा था और लोग मादा भ्रूण को गिरवा रहे थे।

आयुर्वेद के बारे में पढ़कर ऐसा लगा था कि एक हद तक यह लोगों के संचित ज्ञान को, उनके अनुभव जन्य ज्ञान को मानकीकृत करने का ही तरीका था। क्या लोगों से उपजी जानकारी पर आधारित शास्त्र भी इन तरीकों को ढूंढने से बाज नहीं आया? आखिर क्यों लड़का पैदा करने के लिए खास दवाई निकालना ज़रूरी लगा? क्या हमारा आज का समाज भर इसके लिए ज़िम्मेदार है? क्या वह चिकित्सा पद्धती इसके लिए दोषी है जो बहुत हद तक बाज़ार की ताकतों और बाज़ार की अर्थ व्यवस्था और समाज के ढांचे से संचालित है? आज के बाज़ार में अगर आयुर्वेद की दवाइयों को टिकना है तो उन्हें वे सारी चीज़ें उपलब्ध करानी होंगी जो आज समाज में 'ज़रूरी' मानी जाती हैं।

हम सब लोगों के लिए भरपेट और पौष्टिक भोजन की गारंटी तो नहीं दे सकते पर शक्तिवर्धक टॉनिक ज़रूर दे सकते हैं। हम प्रदूषण पर नियंत्रण तो नहीं करना चाहते और ना अपनी जीवन शैली को बदल सकते हैं, पर खांसी होने पर कफ सिरप ज़रूर उपलब्ध करा सकते हैं। औरतों का समाज में नीचा दर्जा ज़रूर है, उसको बदलने की बात किए बगैर हम ऐसी दवाएं और ऐसे तरीके खोज सकते हैं जो औरत को पैदा ही न होने दे। इस माहौल में आयुर्वेद कहीं पीछे नहीं रहा है। शायद वह इस बाज़ार के चंगुल से नहीं बच सका है। तो आज हम

एजा मीठनी, बिड़ला इन्डस्ट्रियल एन्ड टेक्नोलोजिकल म्यूज़ियम, कलकत्ता, के मॉडल पर आधारित
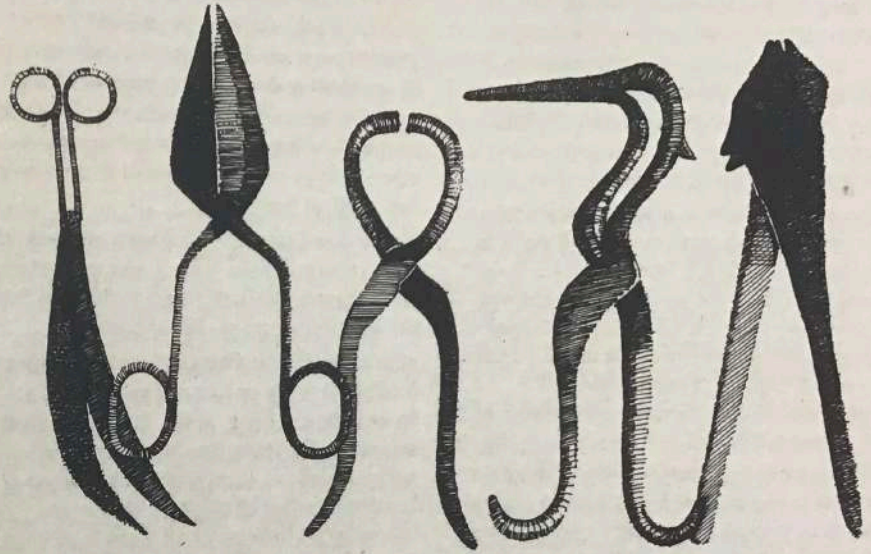
सुश्रुत संहिता में बताए गए शल्यचिकित्सा के उपकरण

'च्यवनप्राश', 'साफी', 'अडुसोल', 'सिलेक्ट' जैसी आयुर्वेदिक दवाइयां आसानी से प्राप्त कर सकते हैं और उनका सेवन एलोपैथी के विकल्प के रूप में करते हैं। आज की प्रचलित चिकित्सा प्रणाली की अपनी त्रुटियां हैं, उसका अपना एक अधूरापन है। साइड प्रभाव एक बड़ी समस्या है। इसलिए शायद यों लगता है कि हानि रहित आयुर्वेदिक दवाइयों पर ज़ोर बढ़ रहा है। आयुर्वेद के सिध्दांतों के बारे में ज्यादा पढ़कर लगता है कि क्या इस तरह एकदम अलग-अलग सोच वाली प्रणालियों को इस तरह से एक दूसरे का विकल्प बनाया जा सकता है? जहां स्वास्थ्य, शरीर और जीवन को देखने का दृष्टिकोण ही अलग है वहां इस तरह आयुर्वेद का नाम लेकर एलोपैथिक दवाई देना कहीं धोखाधड़ी भी लगती है।

जड़ी-बूटी से दवाई बनाना यह तो आयुर्वेद की चिकित्सा प्रणाली का एक हिस्सा है। वनस्पति के इस ज्ञान का एक प्रकार से एलोपैथी द्वारा दुरूपयोग किया जा रहा है। किसी वनस्पति में से चिकित्सा के लिए उपयुक्त पदार्थ को निकाल लेना, यह तो एक प्रकार से कृत्रिम पदार्थ का प्राकृतिक स्रोत ढूंढना भर है। नतीजा यह हो रहा है कि सदियों से चले आ रहे संचित ज्ञान का उपयोग बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा किया जा रहा है। वे पाण्डुलिपियां, वे वनस्पतियां, सब कुछ तो ये कम्पनियां हथिया रही हैं। यह सब जानकारी अधिकतम मात्रा में उन्हीं की प्रयोगशालाओं में है।

आज के माहौल में आयुर्वेद का यह अंजाम होना एक हद तक स्वाभाविक भी लगता है। आयुर्वेद केवल एक प्रकार की दवाइयों का नाम नहीं है। वह एक पूरी चिकित्सा प्रणाली है, दवाई जिसका केवल एक घटक है। उसके साथ उतने ही ज़रूरी हैं अन्य आयाम, जैसे कि व्यक्ति को और उसके पर्यावरण को महत्व, एक विशेष प्रकार की देखभाल की व्यवस्था, एक संतुलित और परहेज वाला आहार, एक किस्म से प्रकृति के साथ बनाया गया एक संबंध और रिश्ता। आज हमने जो जीवनशैली अपनाई है और आज जिस ढर्रे से हम जीते हैं उसमें क्या इन सबका समावेश हो सकता है? व्यक्ति विशेष से जुड़ी चिकित्सा—आज के मशीनी युग में क्या यह संभव है? क्या यह मुमकिन है कि इंसान अपने ज़िंदगी के तरीकों में हस्तक्षेप कर के उनमें ऐसे परिवर्तन ला पाए जो उसके शरीर के लिए ज़रूरी है? अपने खुद के जीवन के तौर तरीके में बदलाव करना आज उस व्यक्ति के हाथ में नहीं है। इसलिए पूरा ज़ोर इस बात पर है कि व्यक्ति को पर्यावरण के अनुकूल बना दिया जाए। पर्यावरण को बदलने का तो सवाल ही पैदा नहीं होता।

ऐसे में आयुर्वेद की प्रणाली का इस्तेमाल असंभव सा लगता है। वह प्रणाली बनी किसी और माहौल के लिए है, उसमें मूलभूत परिवर्तन लाए बगैर या हमारे जीवन के प्रति दृष्टिकोण में कोई भी फर्क किए बगैर आयुर्वेद लागू कर पाना कुछ अटपटा लगता है।

मेरे दिमाग में बस्तर की वह औरत की मूर्ति आ जाती है जिसके हाथ में प्लास्टिक की थैली है। अपने समाज की इन कुछ वस्तुओं को—फिर वह प्लास्टिक की थैली हो, या घड़ी, या ट्रांसिस्टर— इन को आदिवासी इलाकों में पहुंचाकर जीवन के प्रति उनके रवैये को अनदेखा करके कहना कि हम आदिवासी लोगों का विकास कर रहे हैं। उसी तरह से जड़ी-बूटियों में से उपयुक्त रासायनिक पदार्थ निकालकर कर उन्हें नितान्त एलोपैथी ढंग से दवाई के रूप में लेना और यह सोचना कि हम आयुर्वेद की दवाई ले रहे हैं! मुझे लगता है इन दोनों में कोई तालमेल नहीं है।

इस सबसे अलग हटकर एक बात और, जो बार-बार सिर उठा रही है। वह है आज का हमारा यह मुगालता, जो अलग-अलग मसलों पर व्यक्त किया जाता है, कि 'हमारे पूर्वजों' ने (इनमें तेरहवीं सदी के पहले आए हुए लोग ही शामिल हैं) तो बहुत तरक्की कर ली थी। उनका ज्ञान इतना अधिक था कि आज की इस चिकित्सा प्रणाली को तो वे मात दे सकते थे'। यह कथन तो यहां—वहां कान पर पड़ ही जाता है चाहे वह महाभारत में कृत्रिम गर्भाधारण या 'टेस्ट ट्यूब बेबी' का दावा हो या फिर सुश्रुत के जमाने में की गई आधुनिक शल्य क्रिया का।

मुझे कहीं कुछ गड़बड़ लगती है। सुश्रुत की सर्जरी तो केवल ऊपरी सतह तक ही सीमित लगती है। भीतरी अवयवों पर सर्जरी करने की कोशिश तब शायद कामयाब न रही हो। या फिर पहले जिस 'सिलेक्ट' गोली की बात की, उसकी ही मिसाल हम लें। गर्भधारण के बाद किस तरह से बच्चे का लिंग बदला जा सकता है? अगर यह सचमुच आयुर्वेद में संभव माना गया है तो फिर आयुर्वेद का यह ज्ञान और टटोलना ज़रूरी लगता है। आज के ज्ञान विज्ञान के आधार पर हमें आयुर्वेद के शास्त्रों को फिर जांचना ज़रूरी लगता है। ऐसा लगता है कि उस पद्धति में और विकसित होने की संभावनाएं ज़रूर हैं। उसमें संभावना तो निश्चित ही है पर एक समय पर परिस्थितिवश कुंठित हो गए उसके विकास को ही सर्वोत्तम ज्ञान मानकर अपनाना यह भी हमारे एक संकीर्ण दृष्टिकोण की ओर ही इंगित करता है।

राहू-केतु के साये से दूर : आर्यभट

ईसा की पांचवी सदी से सातवीं सदी तक उपमहाद्वीप का खगोलशास्त्र अपनी पूरी दिशा बदल रहा था। ऐसा बदलाव हमेशा उत्साहजनक होता है और उतना ही विरोधाभासी भी। इसकी कुछ झलक तो आप एपिसोड में देख ही चुके हैं। फिर भी उसके बारे में कुछ कहे बिना रहा नहीं जाता।

मुझे आर्यभट (जन्म 476 ईसवीं) की रचना "आर्यभटीय" बहुत आकर्षित करती है। उनकी एक दूसरी रचना "आर्यभट-सिद्धान्त" भी प्रसिद्ध थी लेकिन वह हमें पूरे रूप में प्राप्य नहीं है। बाद में लिखे गए ग्रंथों और भाष्यों से ही हमें इसकी जानकारी मिलती है। उनके "आर्यभटीय" की ही पूरी पुस्तक हमें उपलब्ध है।

आर्यभटीय की विशेषता उसकी सघनता में है। अपने दौर के खगोलशास्त्र का पूरा ढांचा बदल देने वाली यह रचना सिर्फ 121 श्लोकों से बनी है। यह सघनता आती है सूत्र शैली की बदौलत। इस शैली का उदाहरण तो आप पाणिनी की अष्टाध्यायी में देख ही चुके हैं। एक तरह से आर्यभटीय का खगोलशास्त्र में वही स्थान है।

इस रचना में भी पहले 13 श्लोकों से मिलकर जो हिस्सा बनता है वह "दशगीतिका" के नाम से जाना जाता है। इसमें वंदना और समारोप तथा ज्या — सारणी (sine table) का एक श्लोक छोड़कर बाकी सारी जानकारी सिर्फ दस श्लोकों में समाई हुई है।

पहले श्लोक में एक पूरी संख्या प्रणाली परिभाषित की गई है। जिस तरह से लिखते समय हम अंक लिखकर उन्हें (इकाई, दहाई, सैकड़ा, आदि) स्थानीय मान देकर संक्षिप्त में संख्याएं दर्शाते हैं, उसी तरह यहां स्वर और व्यंजनों का प्रयोग किया जाता है। यह अक्षर आधारित उच्चारण योग्य संख्या प्रणाली है।

इसके बाद के नौ श्लोकों में वे सारे मापदण्ड दर्ज किए गए हैं जो खगोलशास्त्र की बुनियाद बनेंगे। सारे ग्रहों की एक युग में होने वाली परिक्रमाएं, कालगणना की छोटी-बड़ी इकाइयां और उनका आपसी संबंध, कक्षा (Orbit), रैखीय व्यास, कक्षा का झुकाव, विभिन्न अधिचक्र, आदि से संबंधित नियम — यह सब नौ श्लोकों में समा गया है। यह संभव हुआ है पहले श्लोक में परिभाषित संख्या प्रणाली की बदौलत।

इसके बाद के 108 श्लोकों को एक स्वतंत्र उप-रचना माना जा सकता है, जो दशगीतिका पढ़ने के बाद पढ़ी जा सकती है। इसे "आर्याष्टशतं" का नाम दिया गया है। इसके तीन हिस्से हैं। पहले हिस्से में गणित, दूसरे में कालगणना (काल क्रिया) और आखिर में आकाश मण्डल की जानकारी दी गई है। इस रचना में राहू-केतू का कोई ज़िक्र नहीं है। न तो वे ग्रहों में शामिल हैं और न ही ग्रहण के विश्लेषण में उनका कोई स्थान है। मुझे यह बात उतनी ही महत्वपूर्ण लगती है जितनी सूर्य के बजाय पृथ्वी की परिक्रमा की घोषणा और π के मान की खोज। जब आर्यभट स्मृतियों से सहमत भी होते हैं (यानि जब उनके निष्कर्ष स्मृतियों से मेल खाते हैं), तब भी अपनी बात को सही साबित करने के लिए स्मृतियों का हवाला नहीं देते। स्मृतियों को वे अपनी बात की सत्यता का प्रमाण या कारण नहीं बनाते। आकाश मण्डल की गोचर (अवलोकित) घटनाओं का विश्लेषण और व्याख्या उनका काम है। इस काम में अगर उन्हें स्मृतियों में लिखित बातों का विरोध भी करना पड़े, तो वे कतराते नहीं हैं। सबसे बड़ी बात है कि वे यह विरोध बड़ी सहजता से करते हैं। वे इसे स्वाभाविक ही मानते है और इसका ज्यादा हो-हल्ला करना ज़रूरी नहीं समझते।

इसी रवैये से एक दूसरी बात भी जुड़ी है, जिसके बारे में मैं आपको पहले बता चुका हूं। आजकल जो चीज़ 'ज्योतिष' के नाम से जानी जाती है, वह दरअसल फलित ज्योतिष है, खगोलशास्त्र नहीं। आर्यभटीय की विशेषता है कि इस पूरी रचना में खगोलशास्त्र है, फलित ज्योतिष रत्ती भर भी नहीं है। यह खालिस खगोलशास्त्रीय पुस्तक है। आर्यभट के बाद हुए वराहमिहिर (मृत्यु 587 ईसवी) और ब्रह्मगुप्त (ईसवी 628) की रचनाओं में खगोलशास्त्र के साथ-साथ फलित ज्योतिष भी हाथ में हाथ डाले खड़ी दिखाई देती है।

ब्रह्मगुप्त भी एक दिलचस्प हस्ती हैं। उनकी भी दो रचनाएं बहुत प्रसिद्ध हैं। आर्यभट के साथ उनका एक मोहब्बत-नफरत वाला रिश्ता है। उन्होंने अपनी पहली रचना 'ब्रह्मस्फुटसिद्धांत' 30 साल की उम्र में रची। इसमें वे आर्यभट की कड़ी आलोचना करते हैं। कुछ खगोलशास्त्रीय मामलों में आलोचना सही भी है। लेकिन उनकी आलोचना की पद्धति से काफी कुछ उजागर हो जाता है।

इसका कोई उदाहरण देने के लिए काफी पेचीदगियों में उलझना पड़ेगा। किन्तु संक्षेप में कहें, तो उनकी आलोचना का आधार कई बार इतना ही होता है कि स्मृतियों में वैसा नहीं कहा गया है।

आगे चलकर छियासठ साल की उम्र में उन्होंने अपनी दूसरी रचना 'खण्ड-खाद्यक' रची। इसमें उनके मत ज्यादा सधे हुए हैं। अब वे आर्यभट की रचनाओं का महत्व जान चुके हैं। उनकी इस रचना का पहला भाग (उनके खुद के अनुसार भी) "आर्यभट सिद्धान्त" का सारांश ही है। दूसरे भाग में वे कहते हैं कि इस सिद्धान्त से ग्रहों के जो स्थान निकलते हैं, वे हकीकत में देखे गए स्थानों से मेल नहीं खाते। अत: वे कुछ संशोधन सुझाते हैं।

वर्गाक्षरों का (क, च, ट, त, प वर्ग के व्यंजनों का) मान

क्	ख्	ग्	घ्	ङ्
1	2	3	4	5
च्	छ्	ज्	झ्	ञ्
6	7	8	9	10
ट्	ठ्	ड्	ढ्	ण्
11	12	13	14	15
त्	थ्	द्	ध्	न्
16	17	18	19	20
प्	फ्	ब्	भ्	म्
21	22	23	24	25

अवर्गाक्षरों का मान (वर्गाक्षरों के बाद आनेवाले)

य्	र्	ल्	व्
30	40	50	60
श्	ष्	स्	ह्
70	80	90	100

स्वरों का स्थानीय मान

जैसे एक युग में पृथ्वी की परिक्रमाओं का आंकडा दिया गया है

' ङि शि बु ण्लृ ष्खृ '

आप देख सकते है कि इसका मतलब है

ङि	शि	बु	ण्लृ	ष्खृ
(ङ्+इ) +	(श्+इ) +	(ब्+उ) +	(ण्+लृ) +	(ष+ख्) + (ऋ)
= 5×10^2 +	70×10^2 +	23×10^4 +	15×10^8 +	$(80+2)\times10^6$

= 1, 58, 22, 37, 500

अगर इसी आंकडे को पूरा कहा जाय (हिंदी में ही लिखते हैं!) तो वो बनता है 'एक अरब अट्ठावन करोड़ बाईस लाख सैंतीस हजार पांच सौ'। इसकी तुलना में 'ङि शि बु ण्लृ ष्खृ' बहुत ही संक्षेप में आ जाता है।

इस संक्षेपता की ज़रुरत पैदा हुई थी मौखिक परंपरा के कारण। जबानी याद करने के लिये कम से कम सामग्री होना ज़रुरी था। हां, अब 'ङि शि बु ण्लृ ष्खृ' जैसा कुछ कह पाना हमारे लिये बहुत मुश्किल होगा, ज़बानी याद करना और भी मुश्किल। लेकिन मौखिक परंपरा में पहला पाठ तो अर्थ से काटकर शब्दों को ध्वनि के सहारे ज़बानी याद करनेका होता था। इसी कारण इस अनूठी संख्याप्रणाली की प्रासंगिकता भी मौखिक परंपरा तक ही सीमित है।

अब इसके क्या कारण हो सकते हैं? निस्सीम का कहना है कि हो सकता है कि जब ब्रह्मगुप्त ने अपनी पहली रचना रची हो, तब उन्हें खगोलशास्त्र की उतनी गहरी समझ न रही हो। यदि हम मान भी लें कि गहरी समझ नहीं थी, तो भी यह समझना मुश्किल है कि आलोचना का वह तरीका कहां से आया। मेरी समझ में तो यह सामाजिक माहौल की बात रही होगी। विज्ञान और वैज्ञानिक भी तो, जैसे रंजन कह रहा था, आखिर अपने समाज का हिस्सा होते हैं। मुझे लगता है कि इस सबमें हमें बदलते माहौल की एक झलक मिलती है। एक ऐसा माहौल जिसमें कर्मकाण्ड का महत्व, रूढ़ियों के प्रति निष्ठा, विचार, आदि रुकावट बन रहे हों और विज्ञान की गहरी समझ पाने के लिए इन्हें दरकिनार करने की खास ज़रूरत पैदा हो गई हो।

आर्यभट और ब्रह्मगुप्त दोनों सिर्फ खगोलशास्त्री ही नहीं बल्कि अच्छे गणितज्ञ भी थे। दरअसल, यदि महावीर जैसे एकाध नाम छोड़ दें, तो बाकी सारे गणितज्ञ खगोलशास्त्री भी थे। इन सबमें आखिर में आते हैं भास्कराचार्य (द्वितीय)। उनका स्थान आर्यभट से किसी मायने में कम नहीं था।

खगोल और गणित के इस रिश्ते की वजह क्या थी और इसके परिणाम क्या हुए? यह रिश्ता विकास का पहिया बना या लगाम का बंधन? ये पूरी कहानी तो अलग से लिखने लायक है।

गणित और वास्तु शिल्प

700 से 1200 तक

यह सांस्कृतिक व वैज्ञानिक आदान-प्रदान का ज़माना था। इसमें अरब लोगों की खास भूमिका रही। भारत, यूरोप और अरब विश्व का शोध और ज्ञान नज़दीक आ रहे थे।

इस काल में एक अजीब सा विरोधाभास दिखता है। विज्ञान और टेक्नॉलॉजी के कई सारे मसलों में भारत आगे है, परन्तु फिर यहां एक ठहराव आ जाता है जबकि अन्य जगहों पर ये उपलब्धियां जड़ें पकड़ती हैं और विकसित होती रहती हैं। जैसे हमारे खगोलशास्त्रियों और महान् भास्कर द्वितीय का गणित एक जगह जाकर रुक गया है। इसे सदियों बाद लाइब्निट्ज़ और न्यूटन फिर से जिलाएंगे। अमरत्व और सोने की तलाश में अलकेमी या किमियागरी चीन और भारत में जन्म लेती है परन्तु अलकेमी से आधुनिक रसायनशास्त्र का जन्म यूरोप में होता है। इस विरोधाभास के सामाजिक कारणों पर चर्चा की गई है।

फिर भी इस काल में भारतीय उपमहाद्वीप ने दुनिया को बहुत कुछ दिया : शून्य और स्थानीय मान पर आधारित (0 से 9 की) अंक प्रणाली, जस्ता या ज़िंक आसवन की नफ़ीस टेक्नॉलॉजी। जस्ता बनाने के तकनीकी पहलू और सामाजिक प्रभावों का जीवन्त चित्र हिन्दुस्तान ज़िन्क लिमिटेड, ज़ावर और एम. एस. विश्वविद्यालय म्यूज़ियम, बड़ौदा की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया गया है।

चोल कांस्य मूर्तियों के साथ धातुकर्म ने कलात्मक ऊंचाइयां छू ली थी। मूर्तिपूजा हिन्दू मन्दिरों के विकास से जुड़ जाती है।

कई सारे मंदिरों के स्थलों पर हम शहतीर नुमा (ट्रॅबियेट) वास्तुकला के गुणों पर नज़र डालते हैं और देखते हैं कि बुनियादी विकास पूरा हो जाने के बाद किस तरह वास्तुकला मुख्यत: सजावटी होती गई थी।

यहां भी ठहराव दिखाई पड़ता है। परन्तु परिवर्तन के झोंकों को कौन रोक सका है? नए वैज्ञानिक विचार, वास्तुकला के नए रूप, नए तरीके, सब आने को हैं— तुर्की और अफ़गानी क्षेत्रों से आने वालों के साथ।

रं ज न

यही तो मध्ययुग है!

शृंखला की इस सातवीं कड़ी में शामिल है ईसा की सातवीं से लेकर बारहवीं सदी तक का एक लंबा अंतराल। हमारे मुताबिक यह भारतीय उपमहाद्वीप के मध्यकाल का प्रथम चरण है। मैं जानबूझकर "हमारे मुताबिक" कह रहा हूं क्योंकि इसी बात को लेकर हमारे बीच एक बहस छिड़ गई। इस बहस की वजह मैं ही था क्योंकि मुझे मालूम नहीं था कि मेरे ज़हन में अंग्रेज़ इतिहासकार मिल विराजमान था।

जब हम लोगों ने इस कड़ी के बारे में चर्चा शुरू की, तो निस्सीम, मैत्रेयी और शहनाज़ बड़ी सहजता से इसे 'भारतीय उपमहाद्वीप का मध्यकाल' पुकारने लगे। दूसरी तरफ मुझे लग रहा था कि मंदिरों का बनना, रसशास्त्र व गणित का विकास, आदि बातों से इसका तालमेल नहीं बैठ पा रहा है। और वैसे भी धुंधला सा याद आता था कि मध्यकाल तो कहीं बारहवीं— तेरहवीं सदी से शुरू होना चाहिए। अमृता के मन में भी यही बात थी। सो हमने उन्हें रोककर शंका उपस्थित कर दी।

मुझे अच्छे से याद है कि कैसे एक क्षण के लिए पूरी बातचात रुक गई थी और फिर निस्सीम, मैत्रेयी और शहनाज़, जिनमें पहले से घनिष्ठता थी, मुस्कराने लगे। निस्सिम ने कहा, "मैं तो राह देख रहा था कि यह सवाल कौन, कब उठाता है।"

मैंने खीझकर कहा कि "भाईसाहब, यदि आप लोगों को पहले से इस सवाल की उम्मीद थी, तो पहले ही इस मसले को करीने से सुलझाया क्यों नहीं?" निस्सीम मुस्कराते रहे और बोले "इसलिए कि मैं तुमसे एक सवाल पूछना चाहता हूं कि क्यों? याने क्यों मध्ययुग बारहवीं सदी से शुरू होना चाहिए?"

मैं अब तक सचमुच झुंझला गया था। "तो क्या अब मुझे इतिहास का इम्तिहान देना होगा?"

निस्सीम गम्भीर हो गए और बोले, "नहीं ऐसी बात नहीं है। पर यकीन मानो, मैं मज़ाक नहीं कर रहा हूं। खैर, जवाब भी मैं ही देता हूं लेकिन उसे थोड़ा ठोक-बजाकर ही स्वीकार करना।" तभी मुझे पता चला कि मेरे ज़हन से मिल का क्या संबंध है।

मिल ने भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास को तीन हिस्सों में बांटा था— हिन्दू, मुस्लिम और आधुनिक। सन् 1947 के बाद भी इन हिस्सों की सीमाएं ज्यादा नहीं बदली हैं, सिर्फ नाम बदल गए हैं। अब हम इन्हें प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक काल मानते हैं। मुझे यह अटपटा लग रहा था कि मंदिर बनना, रसशास्त्र, इत्यादि में कहीं इस्लाम का प्रभाव नहीं दिख रहा था। फिर भला वह मध्यकाल कैसे हो सकता है?

बात यह है कि वर्गीकरण के लिए कोई आधार चाहिए। मिल का आधार स्पष्ट है— धर्म। यदि हम इस आधार को नहीं मानते तो प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक की सीमाएं बांधने का क्या आधार है? हमारे सोच में इस आधार को लेकर अस्पष्टता है। इस वजह से बिना कहे वह आधार धर्म ही बन जाता है। आखिर समय-सीमाएं जो वही हैं। एक तरह से यदि हम उन्हीं काल खण्डों को प्राचीन, मध्य, आधुनिक कहते हैं, तो इस विभाजन के धार्मिक आधार को भी मौन स्वीकृति सी मिल जाती है।

अगर हम दुनिया के बाकी हिस्सों में मध्यकाल का आधार देखें, तो काफी स्पष्ट नज़र आता है— पुराने एकछत्र रोमन साम्राज्य का पतन और उसकी जगह स्थानीय सामंत आधारित शासन व समाज का उभरना। इसी कसौटी पर अपने यहां की परिस्थिति को देखें, तो मध्यकाल की शुरुआत गुप्त साम्राज्य के आरम्भ से नहीं, तो इसके पतन से तो हो ही जाती है। हम जानते हैं कि सारे इतिहासकार इस बात से सहमत नहीं हैं। निस्सीम को छोड़कर हममें से कोई भी 'इतिहासज्ञ' नहीं है। फिर भी हम यह मत आपके सामने रखने की धृष्टता कर रहे हैं।

स्वामीभक्ति और सगुण ईश्वरभक्ति, दोनों ही इस सामंती नज़रिये के पहलू हैं। ये भी इसी काल में स्थापित हुए। इसी काल में लड़ाइयों का रूप बदला। कबीलों की आपसी लड़ाइयों के बजाय ग्राम व्यवस्था पर टिके सामंतों की खींचतान ज्यादा महत्व की बनने लगी। जातिप्रथा पर आधारित हिन्दूधर्म का गठन और शंकराचार्य की पीठों द्वारा उस

पर मोहर लगाना भी इसी काल की घटनाएं हैं। हमारे मुताबिक, जिसे मध्यकाल कहा जाना चाहिए, वह इसी दौर में शुरू हुआ था।

मिल के विभाजन को बिना जांचे-परखे स्वीकार करना काफी खतरनाक भी है। क्योंकि इसे स्वीकार कर लेने के बाद, हम यहां आए तुर्कों, अरबी, अफगानी, मुग़ल, अलग-अलग देशों के सामंतों, कबीलों, सैनिकों को एक ही श्रेणी— मुसलमान, के रूप में देखने लगते हैं। असल में यहां जो सामंतों के अलग-अलग तबके थे उनमें ये नए तबके बनकर जुड़ गए और इन सारे तबकों में आपसी खींचतान चलती रही। इनको इस तरह एक साथ रखकर मुस्लिमों के तौर पर देखने से उस समय का मुख्य संघर्ष सामंतों के बीच की खींचतान न दिखकर, हिन्दू बनाम मुसलमान नज़र आने लगता है। असल में ये तबके बनते थे सामंत-विशेष के अनुरूप। और फिर 'हिंदू' सामंत की तरफ से लड़नेवाले मुसलमान स्वामीभक्त कहलाते हैं और 'मुस्लिम' सांमतों की तरफ से लड़ने वाले हिन्दू गद्दार करार दिए जाते या इससे ठीक उल्टा! दोनों धर्म के कट्टरपंथी यही तो चाहते हैं कि हम तवारीख को इसी नज़र से देखें। इस मामले में वे पूरी तरह एकमत और एकजुट हैं।

तो, यह रेखा धर्म के नाम पर नहीं खींची जा सकती है। मक्का-मदीना और काबे के प्रति समान श्रद्धा के बावजूद इरान-इराक युद्ध नहीं टला। लेकिन हमारे यहां एक बड़ी गलतफहमी यह है कि इस श्रद्धा से देशभक्ति में खलल पड़ता है, कमी आ जाती है।यह धारणा इतनी आम है किं क्या कहें।

एक अध्येता और चिंतक की बात यहां याद आती है। वे कहते हैं कि हर व्यक्ति, हर समूह की तीन भूमियां होती हैं— जन्मभूमि, जहां वह जन्म ले; कर्मभूमि, जहां वह अपना कृतित्व साकार करे; और धर्मभूमि, जहां से उसकी धार्मिक श्रद्धा जुड़ी हो।वे आगे यह भी कहते हैं कि भारतीय उपमहाद्वीप के अधिकतर लोग इस मामले में अपना सौभाग्य, अपना अनूठापन और उसकी सीमाओं को बिलकुल नहीं पहचानते। यहां इस्लाम और इसाई धर्मावलंबियों को छोड़कर बाकी अधिकांश धर्म के लोगों की जन्मभूमि, कर्मभूमि और धर्मभूमि एक ही है।

ऐसा होना आम बात न होकर अपवाद ही है। दुनिया के अधिकांश लोगों के मामले में ऐसा नहीं है। अगर किसी की जन्मभूमि और कर्मभूमि एक है, तो धर्मभूमि कहीं और है। यदि कर्मभूमि और धर्मभूमि एक है, तो जन्मभूमि कहीं और है। और यहूदियों, फिलिस्तिनियों और कई ख़ानाबदोश समूहों के लिए तो तीनों अलग-अलग हैं। इस तरह से जीने का, इस तरह से तीन भूमियों के प्रति श्रद्धा की परस्पर अंतर्क्रिया का उन्हें अनुभव है। हिन्दू धर्म की सहिष्णुता को मैं नकारता नहीं। लेकिन इसाईयत और इस्लाम को लेकर जब लोगों से बातचीत होती है, तो लगता है कि इस अनुभव की कमी का बड़ा महत्व है। हमारे अचेतन में कहीं यह अपेक्षा है कि ये तीनों भूमियां एक ही होनी चाहिए। कहीं मन में इसे एक सामान्य सी बात मानकर चलते हैं। किन्तु इससे जो एक अव्यक्त सी मांग बनती है, वह असंभव चीज़ की मांग होती है। दरअसल यह अहसास बहुत ज़रूरी है कि इन तीन भूमियों का एक होना असामान्य है, अनोखा है। यह अहसास न हो, तो हम सहिष्णुता के दायरे को कभी विस्तार न दे पाएंगे।

भक्ति प्रायः स्वामिभक्ति का अत्यधिक रूप था–चाहे वह ईश्वर के प्रति हो या सामंत के प्रति। दक्षिण की भक्ति-परम्परा में कथा प्रचलित है कि शिव के भक्त कण्णप्पन ने एक दिन पाया कि शिवलिंग की आंख से खून टपक रहा है। उसने अपनी आंख निकाली और शिव को समर्पित कर दी। इस प्रतिमा में कण्णप्पन को अपनी आंख निकालकर भेंट करते दिखाया गया है।

भक्ति : एक विकल्प

टॉमस और विलियम डैनियल, 1798
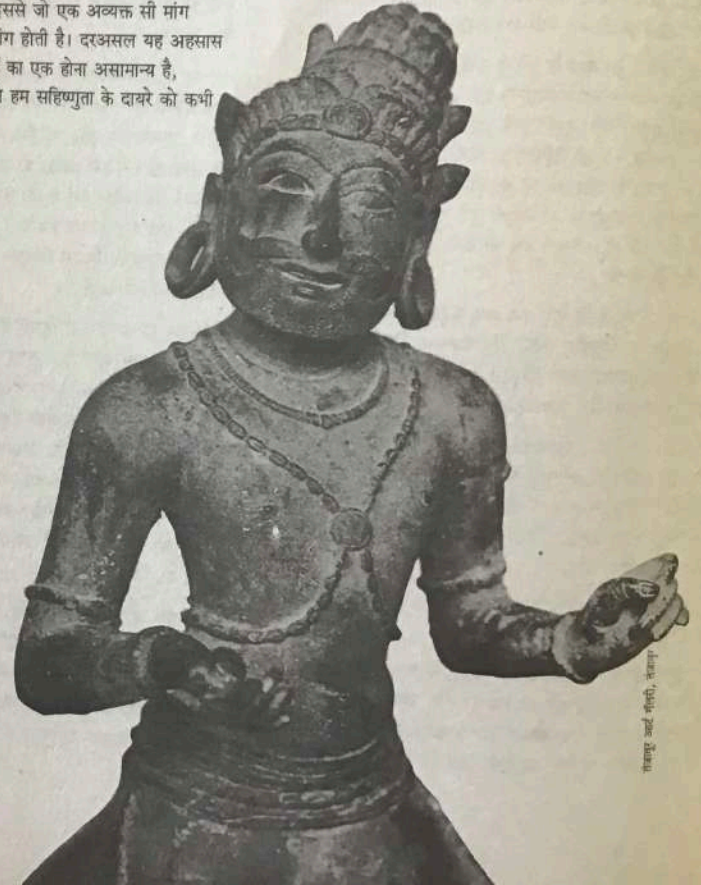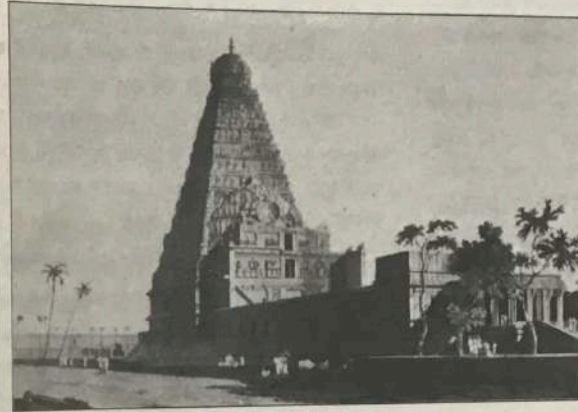
मंदिर तो गुफाओं से बस्तियों में आ गए, लेकिन भगवान और इन्सान की दूरी बढ़ती गई। नतीजा– दीवारें बढ़ीं, रीति-रिवाज बढ़े और बिचौलिए भी।

जैसे-जैसे धर्म की जड़ें गहरी हुईं, वैसे-वैसे प्रकृति के साथ इन्सान के अथाह प्रत्यक्ष रिश्ते में भी बदलाव आए। वह रिश्ता भगवान के प्रति श्रद्धा में, प्रार्थना में और इसके ज़रिये ईश्वर को प्रसन्न करने में बदलता गया। साथ ही साथ इसी पर आधारित एक समाज व्यवस्था भी बनती गई। आज हम ईश्वर और मानव के संबंध और धार्मिक श्रद्धा का मूल स्रोत व्यक्ति में देखते हैं। धर्म को इन्सान का निजि मामला बनाने की कोशिश करते हैं। लेकिन अपने मूल रूप में धर्म समाज की बनावट का अभिन्न अंग रहा है।

धर्म एक अवधारणा भी है। जहां तक हिन्दू धर्म का सवाल है, उसका केन्द्र व्यक्ति नहीं है। हिन्दू धर्म, इस दृष्टि से, इसाई, इस्लाम, बौद्ध या जैन धर्म से अलग है। इन धर्मों में इस बात का स्पष्ट उत्तर मिलता है कि एक व्यक्ति अर्थात् एक इसाई, एक मुस्लिम, एक बौद्ध या एक जैन क्या नीति अख्तियार करे, कैसा आचरण करे। यह उत्तर कुरान या बाइबल जैसे ग्रंथों में मिल जाएगा।

लेकिन हिन्दू धर्म में ऐसी कोई संहिता नहीं है। डॉ. आंबेडकर ने हमेशा कहा है कि हिन्दू धर्म में इस बात का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं है कि मात्र एक हिन्दू व्यक्ति होने के नाते किसी व्यक्ति के क्या कर्तव्य हैं। शायद "अपना-अपना कर्तव्य करो" जैसा जवाब मिलता है। किन्तु इस तरह के कथन को स्पष्ट तो नहीं कहा जा सकता। मैं हिन्दू हूं, इतना कहने से पूरी बात स्पष्ट नहीं होती। मैं किस वर्ण का हूं, किस जाति का हूं, यह जानने के बाद ही स्पष्ट उत्तर मिलता है और कर्तव्य निर्धारित होता है।

यह एक महत्वपूर्ण बात है, खासकर जब हम भक्ति पर विचार करें। भक्ति एक पंथ था, एक विचार था और एक सुधार भी था। भक्ति के अलावा जो हिन्दू धर्म था और है, उसमें भगवान से रिश्ता जोड़ने का माध्यम ब्राह्मण ही थे। सामान्य व्यक्तियों का, खासकर निचली जाति के व्यक्तियों का तो भगवान से सीधे रिश्ता जोड़ना ही आपत्तिजनक था।

जब हम मन्दिर को भगवान के घर के रूप में और धर्म को भगवान और इन्सान के बीच की कड़ी के रूप में देखते हैं, तो एक स्पष्ट सिलसिला नज़र आता है। भीमबैठका के शैलचित्रों में और हड़प्पा के शहरों में भगवान या परलोक के साथ रिश्ता जोड़ने का प्रयास हमें नज़र आता है, तो शायद हमारे आज के दृष्टिकोण की वजह से। परन्तु इण्डो-आर्यभाषियों के आने के बाद वैदिक काल में धार्मिक कर्मकाण्ड एक समुदाय-विशेष के हाथ में सिमटने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी। इस परलौकिक शक्ति के साथ कैसा रिश्ता बने और

उसके लिए उपयुक्त स्थान क्या हो? इसी में से शायद भगवान का घर यानि मंदिरों का सिलसिला शुरू हुआ होगा।

इस सिलसिले में बौद्ध स्तूप, बौद्ध गुफाएं, पहाड़ियों को तराश कर बनाए गए मंदिर और पत्थरों को चुन-चुनकर बनाए गए मंदिरों की एक लम्बी यात्रा थी। इस दौर की इस यात्रा में हर कदम पर धर्म का संस्थागत स्वरूप बनता रहा। मंदिर हमेशा से सत्ता का प्रतीक रहा और समय के साथ-साथ यह सत्ता और पुख्ता होती गई। इंसानों और भगवानों के बीच का फासला लगातार बढ़ता रहा। गुफाओं में, अपनी शर्तों पर, भगवान से सीधा संबंध बनाने से लेकर हम उस हाल में पहुंचे जहां एक गुफानुमा गर्भगृह है, एक बाहरी कक्ष है, उसके बाहर एक और कक्ष है, परकोटा है और बीच में ब्राह्मण और पंडित जैसे कई मध्यस्थ। भगवान को अपने बीच लाने के प्रयास ने उसे और दूर कर दिया। भगवान से इन्सान के संबंध को धर्म की संस्था तय करती थी।

यह बहुत ही दिलचस्प बात है कि यह संस्थागत स्वरूप दक्षिण में सबसे ज्यादा ज़ोरदार था जबकि वैदिक परम्परा के दायरे में दक्षिण सबसे अन्त में शामिल किया गया था। और इसका विरोध भी वहीं से शुरू हुआ — नयनार और अलवर के माध्यम से यह सदियों तक खेतीहर व शहरी भारत में फैलता रहा। कबीर तक हमें इसके स्वर मिलते हैं।

भक्ति ने पहली बार आम इन्सानों को ईश्वर से एक सीधा रिश्ता बनाने का मौका दिया। अब यह ज़रूरी नहीं था कि यह रिश्ता किसी खास वर्ण तथा जाति के हिन्दू पुरुष के माध्यम से ही बनाया जाए। किसी भी धर्म, जाति, वर्ण और लिंग के स्त्री-पुरुष यह रिश्ता बना सकते थे। ईश्वर से एक अपनापे का रिश्ता जोड़ सकते थे।

परन्तु ऐसे रिश्ते के लिए साधन भी तो चाहिए। सारा साहित्य दुर्गम संस्कृत में था। पाणिनी का दौर बीत चुका था, जब संस्कृत सिर्फ 'भाषा' कहलाती थी। ईश्वर के प्रति अपनी भावनाएं व्यक्त करने का, उससे संवाद करने का औज़ार भी सामान्य जनजातियों के हाथ से निकल चुका था। न उनकी भगवान से पहचान थी और न पहचान का अधिकार। ऐसे में वह साधन क्या हो?

प्राकृत से पनप रहीं प्रादेशिक भाषाएं यह साधन बनीं। सारी स्थानीय भाषाएं भक्ति की इस लहर से प्रभावित रहीं और इसकी प्रगति में सहायक। ब्राह्मणों और राजाओं के घेरे में संस्कृत तो शृंगार-आभूषण से ढंकती गई। दूसरी तरफ स्थानीय भाषाओं ने इस भक्ति लहर में जो सहज पहनावा धारण किया, उसका सौंदर्य कुछ अलग ही निखरा।

भक्ति ने जब आम लोगों के बोलचाल की भाषाएं अपनाईं, तो इसका प्रभाव उसकी विषयवस्तु पर, कथ्य पर तो पड़ना ही था। दोहे, अभंग, चौपाइयां... यह एक ऐसी चौपाल थी जहां हर कोई अपना व्यक्तित्व मुखर कर सकता था। और फिर उन्होंने ईश्वर के साथ रिश्ता भी अलग तरह से व्यक्त किया। भगवान को कभी साथी, कभी माँ, कभी नटखट बालक, तो कभी प्रेमी मानकर उससे वार्तालाप इस अभिव्यक्ति का हिस्सा है। एक अपनापन, माया-ममता-स्नेह का एक तंतु भक्त को ईश्वर से जोड़ता है। इसमें एक जीवन के बारे में, उसके दुख-दर्द के बारे में, उसके दर्शन के बारे में, ईश्वर से संभाषण सम्भव हुआ।

अलबत्ता इस सबमें एक ही बात मुझे कचोटती है। एक अनुत्तरित 'क्यों' इसमें से झांकता है। आखिर विज्ञान-प्रेमी जो ठहरा मैं। वह 'क्यों' यह कि इतना सब होने के बावजूद भी क्षेत्रीय भाषाएं ज्ञान के भण्डार का माध्यम नहीं बनीं। तमिल ही कुछ हद तक इसका अपवाद है। रसशास्त्र की तमिल में लिखित लगभग 1200 पाण्डुलिपियां उपलब्ध हैं।

इस क्यों का एक अधूरा सा उत्तर सामने आता है कि कहीं जाकर ढांचाबद्ध हिन्दू धर्म ने भक्ति को अपना तो लिया था परन्तु एक शर्त पर। मुक्ति के दो मार्ग कहे जाने लगे। एक था भक्तिमार्ग और दूसरा ज्ञानमार्ग। भक्तिमार्ग तो आम लोगों के आन्दोलन में से उभरा था, सो वह तो आम लोगों का ही था। उसे सीमित करना सम्भव न रहा होगा। तो, भक्तिमार्ग को हिन्दू धर्म में आत्मसात् करने की शर्त यह रही हो सकती है कि ज्ञानमार्ग को कुछ लोगों तक सीमित रखा जाएगा। प्रकारांतर से यह ज्ञान को सीमित करने का ही पर्याय है। इस प्रकार से भक्तिमार्ग और उससे अभिन्न रूप से जुड़ी क्षेत्रीय भाषाएं ज्ञान का साधन बनने से वंचित रह गई होंगी।

गणित में प्रगति और ठहराव

$$a + 0 = a$$
$$a - 0 = a$$
$$a \times 0 = 0$$

शुन्य की संक्रियाएं

तेरहवीं सदी के शुरू में इटली के पश्चिमी शहर पीसा में लिनार्दो फिबोनाची रहते थे, जो एक व्यापारी व यात्री थे। वे एक अच्छे गणितज्ञ भी थे। उनके नाम से प्रसिद्ध फिबोनाची श्रेणी पर आज एक गणित पत्रिका भी नियमित रूप से निकलती है। लिनार्दो अपने धंधे के सिलसिले में देश-विदेश, खासकर अरब देशों में घूमा करते थे। उन्होंने 1202 ई. में एक गणित संबंधी किताब लिखी थी। कई विद्वान इस किताब को यूरोप में गणित के पुनरूत्थान की शुरूआत मानते हैं। इस किताब में लिनार्दो ने लिखा कि जब तक यूरोप, अरब लोगों की अंक पद्धति नहीं अपनाता, तब तक वहां गणित की प्रगति असंभव है। शून्य को शामिल करके इस उपमहाद्वीप में बनी वही अंक पद्धति आज अंतर्राष्ट्रीय अंक पद्धति बन चुकी है।

यह एक उदाहरण है जिससे पता चलता है कि तेरहवीं सदी तक यूरोप के गणित और भारतीय उपमहाद्वीप (और चीन व अरब देशों) के गणित में कितना फ़ासला था।

लिनार्दो की किताब जब प्रकाशित हुई, तब भास्कराचार्य (द्वितीय) को जन्मे सौ साल भी नहीं हुए थे। मतलब जब यूरोप में एक सुगठित अंक पद्धति भी विकसित नहीं हुई थी, तब तक यहां पर गणित का विकास चरमोत्कर्ष पर पहुंच चुका था। इसकी एक मिसाल तो स्वयं भास्कराचार्य ही हैं। लगभग उतनी ही ज़बर्दस्त एक और मिसाल है 'पाटीगणित' की परम्परा।

पाटीगणित दरअसल गणित का एक पूरा पाठ्यक्रम था। अब चूंकि यह संस्कृत में था, इसलिए ब्राह्मणों को ही उपलब्ध होता था। किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसमें किसी असाधारण गणितीय प्रतिभा का नहीं बल्कि एक मामूली पाठ्यक्रम का समावेश है। खुद भास्कराचार्य के ग्रंथ "सिद्धान्त शिरोमणी" का "लीलावती" नामक अध्याय पाटीगणित का ही एक उदाहरण है।

आर्यभट के समय से इस पाटीगणित का मोटा-मोटा रूप तय हो चुका था। इसमें आम तौर पर 29 किस्म की गणनाएं शामिल थीं, जिन्हें 'परिक्रमा' कहा जाता था। इनमें पूर्णांकों का जोड़, घटाना, गुणा, भाग, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भिन्न संख्याओं की उसी तरह 8 परिक्रमाएं, त्रैराशिक से नवराशिक, आदि शामिल थीं। इनके अलावा 8 अन्य तरह की गणनाएं भी शामिल की गई थीं, जिन्हें 'व्यवहार' कहा जाता था। इनमें मिश्रण, श्रेणी, क्षेत्रफल, खुदाई की गणनाएं, ईंटों की कतार की गणनाएं, छाया, आदि शामिल थीं। बीसवीं सदी के मध्य तक दुनिया भर में जो स्कूली अंकगणित पढ़ाया जाता था, वह लगभग पूरा इसमें आ जाता था।

भास्कराचार्य की गणित की समझ शायद अपने समकालीनों से ज्यादा ऊंची थी। उनकी रचनाओं में एक परिपूर्णता झलकती है। उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों के गणित को संकलित करने के अलावा उसकी बारीकी से जांच-पड़ताल करके छोटी-मोटी खामियों को दूर किया और उसे लगभग खोट रहित बना दिया। मसलन गोले के आयतन का आर्यभट का सूत्र त्रुटिपूर्ण था या ब्रह्मगुप्त शून्य से भाग देने की क्रिया में गच्चा खा गए थे। भास्कराचार्य ने ऐसे सारे दोषों को दूर किया। किन्तु उनकी यही बेदाग परिपूर्णता मुझे व्यग्र कर देती है।

आर्यभट वगैरह का गणित तुलनात्मक रूप से अधूरा सा है। किन्तु उनकी रचनाओं में एक कौतूहल और खोज की तड़प झलकती है। थोड़ा आत्म-गौरव भी नज़र आता है। किन्तु भास्कराचार्य में एक निश्चितता, एक शांतभाव झलकता है। मुझे लगता है जैसे पहले के गणितज्ञ किसी खोज की प्रक्रिया में हैं, उसके लिए उत्सुक हैं। भास्कराचार्य की रचनाओं से लगता है कि जैसे वे मंज़िल तक पहुंच चुके हैं और पूरे दृश्य का सिंहावलोकन कर रहे हैं। लगता है मानो मुख्य काम निपट चुका है, बस छोटी-मोटी चीज़ें बच गई हैं।

आज जब मैं मौजूदा गणित के संदर्भ में देखता हूं, तो निश्चितता का यह अहसास मुझे बेचैन कर देता है क्योंकि वास्तव में काम पूरा नहीं हुआ था, मंज़िल नहीं आई थी। बहुत कुछ होना बाकी था। वह हुआ परन्तु यहां नहीं, यूरोप में। तेरहवीं सदी में भारतीय उपमहाद्वीप और यूरोप के गणित में जितना फ़ासला था, वह सत्रहवीं सदी आते-आते उससे भी ज्यादा हो गया परन्तु उल्टी दिशा में। खरगोश की मुगालते की नींद में कछुआ आगे निकलने की कहावत चरितार्थ हुई।

दरअसल भारतीय उपमहाद्वीप के सामने सवाल था अपना स्तर बदलने का। उस स्तर पर जितना विकास हो सकता था, हो चुका था। अब अलग स्तर पर जाने की बात थी। जैसे भास्कराचार्य अवकल गणित (differential calculus) की दहलीज़ पर पहुंच चुके थे लेकिन उसको लांघने के लिए एक नए स्तर पर जाने की ज़रूरत थी। वह दहलीज़ पार न हो सकी।

सवाल यह उठता है— और इस सवाल का सामना करना ज़रूरी है कि क्या वजह थी एक स्तर पर ठहराव की? क्या वजह थी कि वह दहलीज़ पार न हो सकी? अलग-अलग रूप में, अलग-अलग दौर में, कभी यूरोप के बारे में, कभी इस उपमहाद्वीप के बारे में यह सवाल उठना ज़रूरी है। बदलाव का परिमाण और रफ्तार इतनी तेज़ है कि वह खुद-ब-खुद यह सवाल पेश कर देती है।

ऐसे सवालों को कई विद्वानों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से टटोला भी है। "टटोला" इसलिए कह रहा हूं क्योंकि घटनाओं का जो सिलसिला आधुनिक विज्ञान के साथ शुरू होता है उसका दायरा इतना विशाल और बहुमुखी है कि जो भी अध्ययन करेगा वह दरअसल हाथी और अंधों वाली स्थिति में ही रहेगा। मैं भी उसमें शामिल हूं। आखिर इस बदलाव को टटोलकर उसमें से कुछ निकालना, कुछ

सबक लेना तो आज के युग के हर व्यक्ति के लिए ज़रूरी है, चाहे वह अध्येता हो या न हो।

फिर खुद अध्ययनकर्ता भी इस सबको लेकर एकमत थोड़े ही हैं। कुछ अध्ययनकर्ता निकलते हैं इस सवाल के जवाब की तलाश में और ढूंढ निकालते हैं यूरोप की संस्कृति तथा विचारों की श्रेष्ठता। कुछ अन्य विद्वान बतौर जवाब यह कह डालते हैं कि यूरोप में विज्ञान हुआ करे, इस उपमहाद्वीप में अध्यात्म की श्रेष्ठता तो थी। बाकी के अध्ययनकर्ता दो धड़ों में बंटे हुए हैं। एक धड़ा मानता है कि ऐसे सवालों के जवाब विज्ञान के सामाजिक संदर्भ में मिलेंगे। उनका मानना है कि विज्ञान पर प्रभाव डालनेवाले सामाजिक कारकों को टटोलना होगा। दूसरा धड़ा मानता है कि इन प्रश्नों के उत्तर विज्ञान की अन्दरूनी बनावट और विचारों में मिलेंगे। ऐसी स्थिति में बेहतर यही होगा कि 'सबकी सुनो, मन की करो'। सोचकर करो पर करो मन की। इसी भावना से मैं सबकी सुनकर आपको अपने मन की सुना रहा हूं। आप भी मेरी और सबकी सुनकर अपनी राय बनाइए।

मुझे तो इस पूरे गोरखधंधे में सबसे महत्वपूर्ण बात यह लगती है कि यहां गणित और ज्योतिष (खगोलशास्त्र) का अटूट संबंध था। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, सारे गणितज्ञ खगोलशास्त्री भी हुआ करते थे। खगोलशास्त्र से जुड़े सवालों की बदौलत ही यहां का गणित आगे बढ़ा। जैसे त्रिकोणमिति या गोलीय सतह की ज्यामिति के सवाल या अपरिमित समीकरण, आदि। मुझे लगता है कि जब यहां का (और यहीं का नहीं बल्कि चीन और अरब देशों का भी) खगोलशास्त्र एक स्तर पर आकर थम गया, तो यहां के गणित का विकास भी मन्द हो गया।
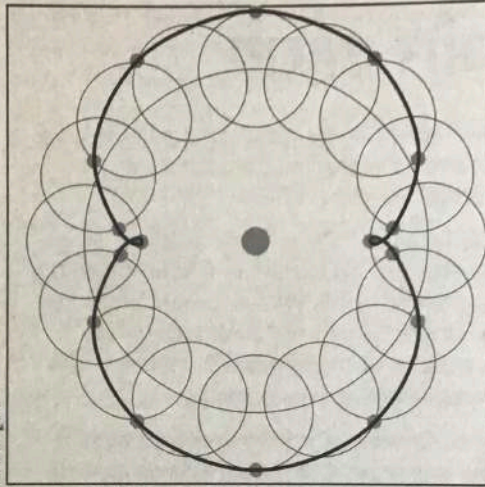
मंगल के "टेढ़े-मेढ़े" रास्ते को एपिसाइकल की कल्पना ने एक तरह से समझाने की कोशिश की

तो, सवाल यह हो जाता है कि यहां का खगोलशास्त्र एक स्तर पर पहुंचकर क्यों थम गया। इसके अलग-अलग तरह के कारण नज़र आते हैं। कारण सामाजिक भी हैं और विज्ञान के अन्दरूनी भी। कुछ ऐसे अन्दरूनी कारण हैं जो यहां के खगोलशास्त्र की बनावट से जुड़े हुए हैं। यहां गणना की 'बीज' पद्धति इस्तेमाल की जाती थी। कुछ अध्ययनों से पता चलता है कि इस पद्धति से गणना करने पर ग्रहों की वास्तविक स्थिति और अनुमानित स्थिति के बीच का अन्तर बढ़ता जाता था। सौ-डेढ़ सौ साल बाद, जब अन्तर काफी बढ़ जाता, तो नई स्थितियों के आधार पर नया 'बीज' बना दिया जाता। यह नई गणना कुछ सौ-डेढ़ सौ साल तक चलती रहती। और उसी स्तर पर रहकर भी गणन पद्धति में थोड़े-बहुत सुधार भी लाए जा सकते थे।

उधर यूनानी खगोलशास्त्र का आधार था नभमण्डल का एक बारीक भौतिक चित्र। यह थी क्रिस्टल गेंद जिस पर ग्रह-तारे चिपके हुए थे। अधिचक्र का मतलब था इस गेंद से चिपकी हुई और गेंदें। जैसे-जैसे गणनाओं में सुधार हुए वैसे-वैसे इस भौतिक चित्र को भी बदलना पड़ा। इस तरह से यह चित्र और भी पेचीदा हो गया। नई-नई उलझनें पैदा होती गईं। हमारे यहां ऐसा कोई भौतिक चित्र नहीं था। जैसे आर्यभट के खगोल में मन्द और शीघ्र अधिचक्र अलग-अलग तो हैं पर इनका आधार कोई भौतिक वस्तु या चित्र नहीं है। यह तो संख्याओं के गुणा-भाग के आधार पर अनुमान लगाने का साधन मात्र है, जिसमें गणना की पद्धति ज्यादा महत्वपूर्ण है बजाय भौतिक चित्र के। ऐसे में कोई अचरज की बात नहीं कि यहां गणित और खगोल में इतना अटूट संबंध रहा।

और आखिर खगोलशास्त्र का सामाजिक महत्व क्या था? पंचांग और मुहूर्त निकालना ही इसकी भूमिका थी। इस काम में एक स्तर की सटीकता आ चुकी थी। इससे ज्यादा सटीकता की मांग करनेवाला कोई सामाजिक दबाव नहीं था। पश्चिमी यूरोप में जब समुंदर-पार यात्राओं का दौर शुरू हुआ तो खगोलशास्त्र और काल निर्धारण के विज्ञान से नए किस्म की बारीक गणनाओं की अपेक्षा पैदा हुई। यहां तो समुंदर पार करना घोर पाप माना जाने लगा था। तो, खगोलशास्त्र का विकास उतना ही हुआ जितनी उसकी सामाजिक भूमिका थी।

संध्याभाषा

मुझे रसशास्त्र से पहले उसकी भाषा ने आकर्षित किया, जिसका नाम भी बड़ा प्यारा है— संध्या भाषा। यहां रसशास्त्र का विकास तांत्रिक विधाओं के एक अंग के रूप में हुआ और इसी में उसकी भाषा का स्वरूप निहित है।

इस संध्या भाषा में कहा कुछ जाता है, बात कुछ और होती है। जैसे शिव और पार्वती की लीला और उनका मिलन। रसशास्त्र के दायरे में शिव नाम है पारे का और पार्वती है गंधक। इनके मिलन से बनता है या तो सिन्दूर या फिर सुरमा अर्थात् पारे के सल्फाइड्स। संध्याकाल का धुंधलका इसमें समाया हुआ है। जैसे संध्याकाल मानो तो दिन का हिस्सा है और मानो तो रात का, और न मानो तो दोनों का नहीं। इसी के चलते इस भाषा का नाम है संध्या भाषा।

रसशास्त्र दुनिया भर में उभरे एक प्रवाह का अंग है, जिसे अलकेमी या किमियागरी नाम दिया गया है। अनुमान है कि इसका उद्‌गम चीन में हुआ और वहीं से यह धारा अरबों तक पहुंची। इस दौर में अरब, या सही मायने में पश्चिम एशिया, दुनिया भर के ज्ञान का भण्डार बनता जा रहा था। सो वहां से यह धारा चौतरफा फैली। भारतीय उपमहाद्वीप में भी पहुंची। कालान्तर से यूनान और यूरोप में तो किमियागरी आधुनिक रसायनशास्त्र में तबदील हुई। किन्तु इस उपमहाद्वीप में ऐसा नहीं हुआ बल्कि कुछ समय बाद यह धारा सूख ही गई।

जैसा कि हम फ़िल्मों में कह चुके हैं कि किमियागरी की मूल प्रेरणा है एक दोहरी खोज—मनुष्य को अमरत्व प्रदान करना और हर पदार्थ को सोने में बदलना। वैसे मनुष्य को अमरत्व देने की बातें आयुर्वेद में भी थीं और अन्य देशों के चिकित्सा विज्ञान में भी थी। परन्तु किमियागरी उससे भिन्न है क्योंकि इसका मार्ग अलग है। यहां सच्ची विद्या की कसौटी यह है कि वह किसी भी धातु को सोने का रूप दे सके। यही लक्ष्य किमियागरी के प्रयोगों का प्रेरणा स्रोत है और किसी हद तक उसका बंधन भी। इस मूल लक्ष्य के कारण किमियागरी के प्रयोगकर्ता अपने विभिन्न प्रयोगों का अपने आप में आकलन-मूल्यांकन नहीं करते। अलग-अलग प्रयोगों के परिणामों का भी कोई अपना महत्व नहीं था। महत्व था तो प्रयोगों की पूरी शृंखला समाप्त हो जाने के बाद प्राप्त निष्कर्ष का। हुआ यों कि यूरोप में पेरासेल्सस ने इस शृंखला को तोड़ दिया और अलग-अलग प्रयोगों का महत्व स्थापित करने में सफलता पाई और इसकी बदौलत किमियागरी केमिस्ट्री में तबदील होने का रास्ता बन गया। यहां ऐसा कुछ न होने पाया और मूल लक्ष्य हासिल न होते देख धीरे-धीरे इस विद्या का महत्व कम होता गया।

रसशास्त्र का एक खास नज़रिया था कि कुदरती घटनाओं को स्त्री-पुरुष तत्वों और इनके द्वन्द्वों के रूप में देखना। इन दो तत्वों में से किसी एक का स्थान ऊंचा नहीं था। रसशास्त्र का यह विचार मूलरूप में चीन के यिन-यान्ग द्वन्द्व में से उभरा था।

भारतीय उपमहाद्वीप में इसे अपने एक अलग ही रूप में ढाला गया। वैसे तो ऐसे द्वन्द्व का ज़िक्र सांख्य, तंत्र, योग और बहुत से आदिवासी जादू-टोनों में है परन्तु इस सबको कोई खास मान्यता नहीं थी। और फिर जाति-प्रथा आधारित सामंती समाज व्यवस्था में भला स्त्री और पुरुष तत्वों को एक बराबर कैसे माना जा सकता था?

तो, रसशास्त्र की विधाएं तत्कालीन मध्ययुगीन समाज की नज़रों में बहिष्कृत थीं। उसी तरह से तांत्रिक क्रियाकलाप भी बहिष्कृत थे। शारीरिक क्रियाओं, संभोग, जादू-टोना, रसविद्या, आदि को तांत्रिक बहुत महत्व देते थे। ये सब उनके लिए अध्ययन-खोज के साधन थे। तांत्रिक गण मिलते भी चोरी छिपे थे और उनके क्रिया कलाप भी रहस्यमय होते थे।

आज तांत्रिक विधाओं को लेकर बड़ी दुविधा की स्थिति है। अधिकतर जानकार लोग तांत्रिक विधाओं को अतिरेक पूर्ण और कुरूप (विकृत) मानते हैं। और उनकी बात गलत भी नहीं है। लेकिन तांत्रिक विधाओं के योगदान को अनदेखा भी नहीं किया जा सकता। चित्रकारी में आज तांत्रिक विज्ञान सुन्दर ज्यामितीय आकारों के रूप में दिखाई पड़ते हैं। और उनका प्रभाव काफी दूर तक फैल चुका है। चिकित्सा से तो तंत्र-योग-सांख्य का पुराना रिश्ता है। रसशास्त्र के प्रभाव के कारण चिकित्सा में वनस्पतियों (जड़ी-बूटियों) के अलावा रसों और भस्मों
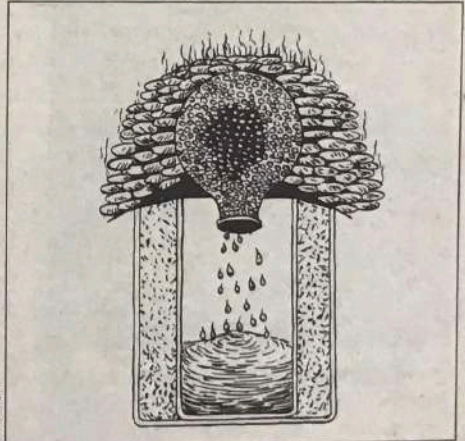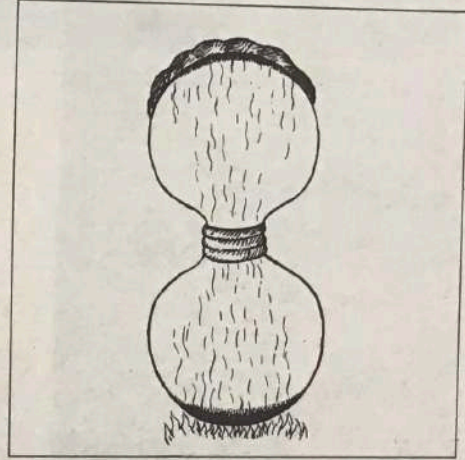
रसशास्त्र के यंत्र
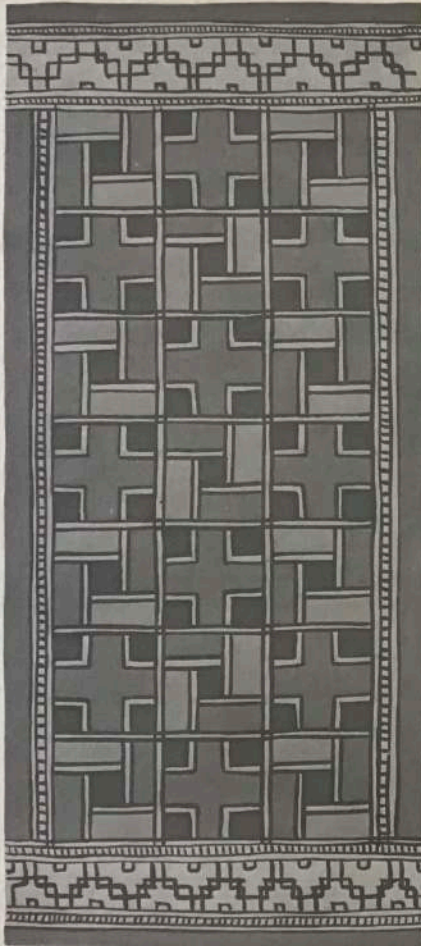
समय का हिसाब लगाने और मंत्रों का क्रम तय करने वाला तांत्रिक यंत्र

का इस्तेमाल शुरू हुआ। एक पूरी सिद्ध चिकित्सा प्रणाली इसमें से उभरी। आज कुडंलिनी योग, आदि जैसी तंत्र विधाएं काफी लोकप्रिय हो रही है। कुछ हद तक पाश्चात्य विश्व में भी, चाहे उसके पूरे दर्शन से काटकर ही सही।

मैं देखती हूं तो मुझे रसशास्त्र और तांत्रिक विधाओं में एक अजीब सौन्दर्य की अनुभूती होती है। यह सौन्दर्य उनकी अभिव्यक्ति में, उनके प्रस्तुतिकरण में झलकता है। यह सौन्दर्य अतिरेकपूर्ण और कुरूप के फतवे से मेल नहीं खाता। किन्तु जब मैं तांत्रिक विधाओं को उस काल में उभरती मध्ययुगीन व्यवस्था के संदर्भ में रखकर देखती हूं तो बहुत कुछ स्पष्ट होने लगता है। समझ में आने लगता है कि क्यों ऐसा फतवा ज़ारी किया गया होगा।

मैं देखती हूं कि तांत्रिकों ने जिन बातों पर "अतिरेकपूर्ण" बल दिया है उनमें एक तालमेल है, एक पैटर्न है। जैसा स्त्री-पुरुष संबधों को आनंद का साधन कदापि नहीं माना जाता था। (हकीकत में साधन होना और माना जाना दो अलग-अलग बातें जो हैं)। इसी प्रकार से उस समय स्त्री और पुरुष तत्वों में पुरूष तत्व को ही प्रधान और निर्णायक माना जाता था। और स्त्रियों तथा नीची जातियों को इहलोक में अमरत्व पाने कि ज़रूरत और सहूलियत की चर्चा ही निषिद्ध थी।

शायद इसीलिए इसके एकदम विपरीत तांत्रिक विधाओं में शामिल होने वालों पर न जाति का बंधन था और न स्त्री-पुरूष होने का।

मुझे लगता है बात अब कुछ-कुछ साफ होने लगती है। उनका चोरी छुपे मिलना भी, उनका अतिरेक भी और उनका सौन्दर्य भी समझ में आने लगता है। व्यवस्था की अति कठोर बंधनों की घुटन से बाहर निकलने की यह एक कोशिश थी। मैंने देखा है कि कई बार ये कोशिशें बिलकुल एक प्रतिबिंब सी होती हैं। साहित्य में देखा ही है, इतिहास में भी देखा है। अतिरेक का प्रतिबिम्ब अतिरेक ही होता है। आधुनिक काल में पाश्चात्य समाज के अजीबोगरीब दबावों के चलते एक अजीबोगरीब प्रतिक्रिया हुई थी, जिसे हिप्पीवाद का नाम दिया गया है। एक अतिरेक के रूबरू उसका प्रतिबिम्ब!

लेकिन साथ ही तांत्रिकों की यह कोशिश कहीं स्वतंत्रता मूलक भी थी। यही उनके अजीब सौन्दर्य का आधार है। यह कोई बेतुका अतिरेक नहीं है। आज अगर तंत्र इत्यादि लोकप्रिय हो रहे है तो उसका भी कारण यही है। लेकिन अंततः हमें याद रखना चाहिए उस संध्याभाषा का सबक। बात अतिरेक की कही जाए तो सच बात शायद उसकी गहराई में जाने की हो, उससे ऊपर उठने की है।

समन्वय और वृद्धि

1200 से 1600 तक

तुर्की और अफगानी लोगों के आने से पहले भारतीय समाज के हालातों के चित्रण के साथ शृंखला शुरू होती है। सल्तनत और उसके बाद के ज़माने में सामंतवाद की जड़ें गहरी हुईं। दो-एक शताब्दि पहले ही अलबरूनी नामक यात्री ने टिप्पणी की थी कि यहां के लोग कितने तंग दिमाग हैं और यहां के विद्वान अपना ज्ञान बांटने और सुधारने से कितना कतराते हैं। परन्तु किसान और कारीगर नई तकनीकों के प्रति खुला दिमाग रखते थे। नाना प्रकार की फसलें उगाई जाती थीं और नई-नई टेक्नॉलॉजी उपयोग करना मामूली बात थी। इरानी तर्ज़ के फ़ारसी पहिये (रहट) का नवागंतुक बाबर ने विस्तार से वर्णन किया है।

पुर्तगालियों ने इस समय तक अपने व्यापारिक अड्डे यहां स्थापित कर लिए थे और 'गोल्डन गोआ' भारतीय दरबारों की चमक-दमक का मुकाबला करता था। मिशनरियों ने भारत का वनस्पति सर्वेक्षण किया और प्रिंटिंग प्रेस भी यहां डाली। उधर दक्षिण में विजयनगर का राज्य फल-फूल रहा था। हम्पी की खुदाई से पता चलता है कि, मन्दिरों और मूर्तियों के अलावा, जलाशयों और नहरों का प्रभावशाली जाल फैला हुआ था।

अकबर के शासन काल में सांस्कृतिक मेल-मिलाप ने नई ऊंचाइयां हासिल कीं। हस्तकला को ज़बर्दस्त बढ़ावा मिला। बहुत मेहनत से सुन्दर-सुन्दर चीज़ें बनाई जाने लगीं, जिनका उपयोग करते थे पतनोन्मुख अमीर। हमारे रिपोर्टर एक गाइड के साथ फतेहपुर सिकरी पहुंचते हैं। वे सलीम चिश्ती की दरगाह पर एक कव्वाली सुनते हैं, हस्तकला कारखानों के अवशेष देखते हैं और खेती पर लगाए गए मनमाने लगान की आलोचना करते हैं।

इतिहासकार अबुल फज़ल और अविष्कारक शिराज़ी की चर्चा की गई है। अमीर लोग फलों की खेती को बढ़ावा देते थे और उन्होंने कई नए-नए फल यहां लगाए। जहांगीर ने वनस्पति और जन्तुओं का विस्तृत अध्ययन किया था। भारत छपे और रंगे हुए कपड़ो के लिए प्रसिद्ध था। मछलीपटनम की यात्रा के दौरान हम कलमकारी की जीवित परंपरा को देखते हैं। यूरोपीय लोगों को भारत की तरफ़ आकर्षित करने में कलमकारी की प्रमुख भूमिका रही।

शहनाज़

तो फ़र्क किस आधार पर ?

आज के बढ़ते हिंदूवाद के माहौल में बार-बार यह सुनना पड़ता है कि 'मुसलमानों' ने आकर इस देश को बरबाद कर दिया। कहीं बचपन में पढ़े हुए इतिहास में भी यही बात मन पर असर कर गई थी कि मुसलमान आए, उन्होंने बहुत लूट-मार मचाई, इस्लाम फैलाया और सुल्तान बनकर राज करने लगे। दूसरी तरफ़ इसकी एक प्रतिक्रिया के तौर पर मुस्लिम कट्टरपंथी इसी प्रक्रिया को एक फतह के रूप में और इस काल को सुनहरा युग बताकर पेश करते हैं। इन तथाकथित मुसलमानों में से एक होने के नाते ये दोनों ही बातें या एक ही बात के ये दो रूप मन को कचोटते भी रहे हैं। मध्य युग के अंधेरे-सुनहरे काल का जाने कितना बखान सुना है।

बाहर से आए हुए, पराए समझे जाने वाले ये मुसलमान कौन थे, यह जानना मुझे बहुत ज़रूरी लगता रहा है क्योंकि अपने रोज़ के जीवन में, पास-पड़ौस में इस तरह अलग किया जाना, अजनबी माना जाना कहीं अंदर तक आहत कर देता है। क्या वे सच में इस्लाम फैलाने आए थे? कहां से आए थे? इस्लाम की शुरुआत कहां से हुई? क्या ये आगंतुक सारे के सारे ही हमलावर थे? उनमें और इंडो-आर्य भाषियों में किस तरह के अंतर हैं?

जानती हूं कि जिन कारणों से ये सवाल कर रही हूं, उन कारणों को मैं खुद जायज़ नहीं मानती। मेरी कौम का जो भी अतीत रहा हो, मैं इसी समाज में बड़ी हुई हूं और यहीं, इसी धरती की हूं। पर फिर भी आज के इस माहौल में अपने अस्तित्व को जायज़ साबित करने पर मजबूर हूं। मुझसे कई पीढ़ियों पहले जो 'बाहर' से आए या आने वालों से प्रभावित होकर 'विधर्मी' हो गए, उनकी सफाई देना बिलकुल गैर ज़रूरी मानने के बावजूद। आज के इस अर्धसत्य और झूठ के माहौल में सच्चाई को ही प्रमाण की ज़रूरत पड़ने लगी है। कम से कम ऊपर के सवालों के कुछ जवाब देना तो जैसे हम जैसों की जवाबदारी ही हो गई है।

निस्सीम जैसे इतिहासज्ञों के साथ बातें करके एक स्तर पर बहुत तसल्ली मिलती है। उन्हीं से बातें करके मैं कई सारे उत्तर पा सकी। सबसे पहली बात तो यह कि जो मुसलमान कहलाते हैं, वे एक लंबे अरसे तक आते रहे। वे अलग-अलग देश और अलग-अलग नस्ल के इंसान थे। उनके यहां आने के मकसद भी अलग-अलग थे। याने यह मात्र एक संयोग था कि वे सब एक ही धर्म के अनुयायी थे। इन लोगों के बारे में कुछ और कहने से पहले, थोड़ा इस्लाम और उसके फैलाव के बारे में।

सारे धर्मों में सबसे कमसिन धर्म इस्लाम का उपदेश पैगम्बर मोहम्मद ने 600 ईसवी के लगभग दिया। मोहम्मद का पैगाम मुख्यत: अरब के उन कबीलों के लिए था जो आपस में लड़-भिड़ रहे थे और काफ़ी सारे अंधविश्वास पालते थे। इन सबसे छुटकारा पाने के लिए ही मोहम्मद का पैगाम था। अन्य धर्मों की तरह ही, निराशा और क्लेश के माहौल में पनपे इस धर्म का स्वरूप पहले तो स्थानीय-सा, विशिष्ट-सा था।

सीधे सरल जीवन के इस तरीके का लोगों ने स्वागत किया। तब भी जिन लोगों के हाथ में सत्ता थी, उन्होंने इसका काफी विरोध किया और इसे मान्यता दिलवाने के लिए मोहम्मद के जीते-जी ही इसे कई स्थानीय रीति-रिवाज़ों और प्रथाओं से समझौता करना पड़ा था। उस समय इस इलाके के खानाबदोश कबीलों में बहुत लड़ाइयां होती रहती थीं। उन सभी ने इस संशोधित पैगाम को स्वीकार कर इस धर्म को अपनाया। पैगम्बर मोहम्मद के गुज़र जाने के बाद इस एकता को बनाए रखने के लिए ही, इन कबीलों के सरदारों को आपस में लड़ने के बजाय आसपास फैले साम्राज्यों से लड़ने को प्रेरित किया गया। और यह सिलसिला काफी समय चला। अर्थात् सबसे पहले आसपास के देशों पर हमला होने का मुख्य कारण साम्राज्य जीतना था, इस्लाम को फैलाना नहीं। मरुस्थल की भीषण परिस्थितियों में लड़ पाने वाले सरदारों ने, अपने बेहतर युद्ध कौशल की वजह से, कई लड़ाइयां जीतीं। धीरे-धीरे अरब राज्य फैलता गया। इसका केन्द्र बना बगदाद और राजकर्ता थे खलीफा।

यहां भी लोगों को अपना धर्म मानने का हक था। बेशक कर लेते वक्त गैर-मुस्लिमों से ज्यादा कर लिए जाते थे। लेकिन धीरे-धीरे

जॉन बर्ट्रेंड-गेज, मार्ग पब्लिकेशन्स
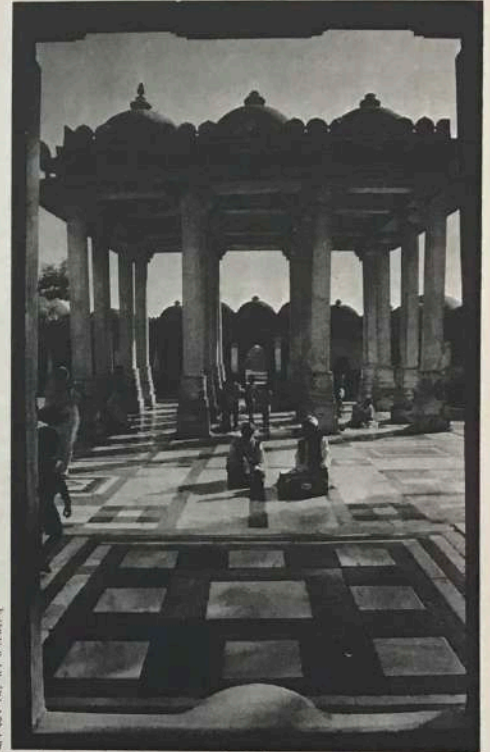
सरखेज, गुजरात में पन्द्रहवीं सदी में मोहम्मद शाह के राज में बनाया गया मंडप। नए शिल्प के गुम्बज़ और परम्परागत प्रस्तर कला का अनूठा संगम।

बगदाद के खलीफाओं के पास से सत्ता इरानी-तुरानी शासकों के हाथों में पहुंची। आसपास के इलाकों के राजकर्ताओं ने इस्लाम में राजसत्ता से जुड़ सकने का एक रास्ता देखा। और इस्लाम अरब के बाहर भी फैला।

पर दुनिया भर की ये बातें मैं क्यों कर रही हूं? मुझे ऐसा लगता है कि आज के इस पुनरुत्थान के दौर में जब हर तरह के कट्टरपंथी, कठमुल्ला न जाने क्या-क्या कह रहे हैं, तब इस्लाम को इस तरह से समझना ज़रूरी हो जाता है। परंतु कहानी को ज्यादा लंबा न करके हम इस उपमहाद्वीप में इस्लाम पर गौर करते हैं।

यहां पर सबसे पहले आए थे अरब व्यापारी। ये पश्चिमी तट पर आकर छोटी-छोटी जगहों पर बस गए थे। ये इस्लाम को मानते थे और इनके कारण कुछ लोगों ने ज़रूर इस्लाम को अपनाया। पर ये इस्लाम को फैलाने नहीं आए थे।

दुनिया के इतिहास में यह दौर भी लड़ाइयों का दौर था। लड़ाई में मध्य और पश्चिमी एशिया प्रमुख रणक्षेत्र था। लगातार चलती लड़ाइयों के परिणाम स्वरूप कई योद्धा धन और राज्य की खोज में नई जगहों में गए। ऐसे ही कारणों से कई सारे लोग इस उपमहाद्वीप की तरफ भी आए। इसमें सबसे पहला था महमूद गज़नवी। धन इकट्ठा करने के मकसद से वह एक हमलावर के रूप में लगातार कई बार आया। उसका मकसद यहां आकर बस जाने का नहीं था। यह तो उसकी बेहतर व ताकतवर सेनाओं की बदौलत था कि वह बार-बार हमला कर पाया।

महमूद गज़नवी के दो सदी बाद आया मोहम्मद ग़ोरी। मोहम्मद ग़ोरी अपना राज्य पूर्व की तरफ बढ़ाना चाहता था। उसका मकसद ही था इस उपमहाद्वीप को अपने राज्य में मिलाने का। आखिरकार वह कामयाब हुआ और दिल्ली तक जा पहुंचा। नई जगहों पर पहुंचने के बाद अपनी ताकत दिखाने के लिए शुरू में ज़रूर उसने मौजूदा सत्ता के प्रतीक—मंदिर इत्यादि की तोड़फोड़ की। लेकिन यह भी मालूम हुआ है कि एक बार अपना राज्य जमा लेने के बाद, इन इमारतों की मरम्मत में वह मदद भी करता था और नए मंदिर भी बनवाता था।

कुछ पीढ़ियों बाद तो ग़ोर के राज्य से यहां का संबंध ही टूट गया और ये अफगान राजा यहीं के हो गए। यहां फिर से एक मेल-मिलाप की संस्कृति पनपने का दौर आया। इन नए राजाओं ने इस इलाके की भाषा सीखी, रीति-रिवाज समझे और यहीं घुल-मिलकर रहने की कोशिश की। उनका उद्देश्य था यहां राजा बने रहना। न इस्लाम फैलाना उनका मुख्य मकसद था और न ही यहां के समाज में कोई बुनियादी परिवर्तन करना। नहीं तो वे इस्लाम के पैगाम के मुताबिक इस समाज में फैली जाति व्यवस्था और अन्य प्रथाओं को भी दूर करने की कोशिश करते।

अन्त में आया बाबर, राजपूत राजाओं के न्यौते पर अपनी सेना के साथ। उसका मकसद ही यहीं आकर बस जाने का था। तब दिल्ली सल्तनत का सुल्तान था इब्राहिम लोधी। एक घमासान लड़ाई के बाद मुग़ल राजा जीत गया और यहां मुगलों का राज्य स्थापित हुआ, जो जल्द ही उत्तर-दक्षिण को जोड़ते हुए एक साम्राज्य के रूप में फैल गया।

इतने इतिहास को दोहराने का मेरा एक ही मकसद है। जो राज्यकर्ता आए वे इस्लाम को फैलाने इस भूखण्ड पर नहीं आए। उनका मकसद अलग-अलग था और वे आए भी अलग-अलग देशों से थे। इन हमलावरों में भी एक भिन्नता थी। जो यहां आकर बस गए, उनमें अधिकांश यहां बसने की नीयत से ही आए थे। एक भिन्न संस्कृति से आनेवाले इन लोगों ने यहां के लोगों की भाषा, रस्में, रीति-रिवाज सब समझने की कोशिश की, क्योंकि शासन कर पाने के लिए यह ज़रूरी था।नई भाषाएं, रस्में, रीती-रिवाज कायम करने।

इन आगंतुकों के यहाँ आ जाने के साथ, मेरी नज़रों में तो फिर एक मेल-मिलाप का दौर शुरू हुआ था। ठीक वैसा ही जैसा इंडो-आर्य भाषी, कुशाण, शक, इत्यादि शासकों के आने के बाद हुआ। इंडो-आर्यभाषी अपने इलाकों को छोड़कर चारागाह की खोज में यहां आए, बसे और यहीं के हो गए। उनके इलाकों में कई कारणों से मची उथल-पुथल की वजह से वे यहां आए थे। यहां रहने वालों के साथ उनकी लड़ाइयां भी ज़रूर हुई होंगी। परंतु तब भी धीरे-धीरे एक मेल-जोल की संस्कृति पनपी थी। इसी तरह सामाजिक उथल पुथल की वजह से इस्लाम को मानने वाले योद्धा मध्य और पश्चिम एशिया से यहां आए और बस गए। तो फर्क क्या है? किस आधार पर हम यह कह रहे हैं कि वैदिक काल में आए इंडो-आर्य भाषी हमारे अपने हैं और बाद में आए ये मध्य और पश्चिम एशियाई पराए? जब दोनों ही अपने इलाकों को छोड़ यहां बस गए, तो उनमें फर्क किस आधार पर?

हो सकता है कि मेरी ये टिप्पणियां एक ऐसी व्यक्ति का नज़रिया है जो पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं है किन्तु किसी को तो ये बातें उठानी ही पड़ेंगी। विज्ञान के इतिहास की इस खोज के दौरान अपने साथियों को यह सब कह पाने की हिम्मत तो मैंने पाई ही पर इतिहास की इस यात्रा में जो बात सबसे ज्यादा खाती रही वह थी देश-विदेश की सीमाओं और धर्म-संस्कृतियों की परिधियों का खोखलापन। इंसान तो सदा ही घूमते रहे हैं, नई जगहों पर बसते रहे हैं, देश-काल के अनुरूप अपने-आपको ढालते रहे हैं। फिर यह यहां के, वहां के, अपने, पराए, हमारे, तुम्हारे का जंजाल आखिर है क्या?

नवाचारों की छूट और दो जून रोटी

मध्ययुग के भारतीय उपमहाद्वीप के बारे में पढ़ते हुए, उन जगहों को देखते हुए, एक बात मुझे साफ लगी है। विजयनगर से फतहपुर-सिकरी तक, गांव के ज़मींदारों की कोठियों से राजमहलों तक, मंदिरों से किलों तक, सब में यहां के अगुआ तबके की संपन्नता की छाप है। मुझे लगता है कि प्राचीन काल की तुलना में यह संपन्नता कई गुना ज्यादा थी। और शायद मध्यकालीन यूरोप की तुलना में भी।

इसी के साथ होता रहा है एक दूसरा अहसास भी। वह है गैर-कृषि व्यवसायों में लगे तबकों की तादाद। हर तरह के कारीगर, सारे ब्राह्मण जन, सारे अधिकारी, गांव के ज़मींदार-पटवारी, व्यापारी, सारे सेवा-सुविधावाले पेशे, वेतनशुदा फौज़— ये सब समाज में अल्प संख्या में होने के बावजूद गिनती में काफी बड़ा हिस्सा रहे होंगे। मुझे लगता है कि प्राचीन काल की तुलना में और मध्यकालीन यूरोप की तुलना में यहां उस समय इन तबकों का अनुपात भी कई गुना ज्यादा था।

इन बातों का महत्व इसलिए है क्योंकि ये भारतीय उपमहाद्वीप को लेकर जो स्थिर अपरिवर्तनशील समाज वाली धारणा है, उसे चुनौती देती हैं। इन बातों से संकेत मिलता है कि इस काल में यहां कृषि उत्पादन में काफी वृद्धि हो रही थी, क्योंकि उसके बिना किसी भी खेतीहर समाज में इतने बड़े तबके को इतनी संपन्नता नसीब नहीं हो सकती।

कृषि उत्पादन को इस स्तर पर ले जाने का काम खेती-बाड़ी के समुचित तरीकों के इस्तेमाल से ही संभव है। इसके कई सबूत लिखित दस्तावेज़ों में मिलते हैं। खेती के तौर-तरीकों में चुनाव के ज़रिये बीजों का विकास और सुधार जैसी बातें शामिल थीं। जैसे कि उस समय के एक इतिहासकार अबुल फज़ल लिखते हैं, "हर किस्म के चावल का अगर एक-एक दाना भी लिया जाए तो भी एक बड़ा गमला भर जाए"। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 17 प्रकार की फ़सलों का ज़िक्र था, जो सोलहवीं सदी तक 40 के ऊपर हो गईं। अलग-अलग इलाकों में, अलग-अलग किस्म के हल, बखर, बीज,

नेशनल म्यूज़ियम, नई दिल्ली
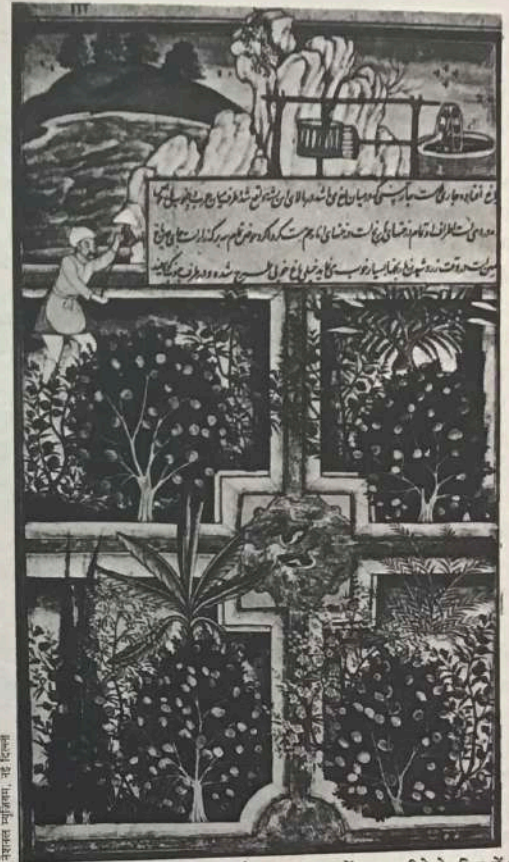
राइट एंगल्ड-गिअरिंग का नमूना है 'बाबरनामा' में एक बगीचे के चित्र में बनी यह रहट, सोलहवीं सदी।

बोने के यन्त्र (दुफन), आदि विकसित हुए, जो बीसवीं सदी तक लगभग वैसे ही चलते आए हैं।

लिखित स्रोतों में फसल चक्र या फसलें बदल-बदल कर लगाने या दो फसलें एक साथ लगाने का ज़िक्र नहीं है। परन्तु लिखित दस्तावेज़ों की एक सीमा भी है। इन्हें संकलित करने वाले लोग खेती से जुड़े नहीं थे। वे तो किसानों से बातचीत करके जानकारी हासिल करते थे। बहुत संभव है कि किसानों ने कई ऐसी जानकारियां बताना ज़रूरी न समझा हो, जो उनकी नज़र में निहायत मामूली बातें थीं। जैसे कि रामनाथन जैसों का कहना है कि जब उसने अपने शोध कार्य के दौरान गांव के बुज़ुर्गों से बातचीत की थी, तो उसमें ऐसी बाते आई थीं। इसी प्रकार से अठाहरवीं सदी के कुछ विदेशी विवरणों में भी इसका ज़िक्र है। खाद का ज़िक्र है, जो कच्ची ही डाली जाती थी और कुछ चुनिंदा फसलों में ही इस्तेमाल होती थी। इस काल में सिंचाई के साधनों के भी विस्तृत उल्लेख मिलते हैं। इस संबंध में राजाओं द्वारा ज़ारी फरमान और पट्टे भी मिलते हैं। इसी काल में समकोण गीयर और पशु शक्ति से चलने वाली रहट भी इस उपमहाद्वीप में आई।

कुल मिलाकर जो चित्र उभरता है उसमें यहां के किसानों और देहाती कारीगरों का काफी नवाचार नज़र आता है बशर्ते कि हम ठीक से देखें। दिक्कत यह है कि हम अक्सर यंत्रों और शक्तिचलित उपकरणों के विकास को ही नवाचार मान बैठते हैं। मुझे शक था और यह सही भी निकला कि हमारे यहां के कारीगरों की परम्परा बिलकुल गैर-नवाचारी तो नहीं हो सकती। जिज्ञासा के ही समान नवाचार भी लोगों के जीवन का अभिन्न अंग है। यह किसी एक दिशा में हो सकता है, कुछेक क्षेत्रों में सीमित हो सकता है किन्तु कभी खत्म नहीं हो सकता। और मुझे लगता है कि हमारे किसानों और कारीगरों ने खुद नवाचार किया भी है और जब कभी उन्हें उपयुक्त लगा और इससे उनके जीवन में परिवर्तन की गुंजाइश दिखी, तो दूसरों के नवाचार को अपनाया भी है। अब देखिए ना, नारियल, जो यहां पहली ईसवी सदी में आया, आज धार्मिक क्रियाकर्म में प्रमुख स्थान पा गया है। हरी मिर्च जिसके बिना भारतीय भोजन की कल्पना भी नहीं की जा सकती, उसे यहां पुर्तगाली लाए थे। तम्बाखू की भी यही कहानी है और आलू की भी। कारीगरी में तो इसके कई उदाहरण हैं।

नेशनल म्यूज़ियम, नई दिल्ली

खेती के औज़ार । पहाड़ी शैली, उन्नीसवीं सदी

यूरोप की तुलना में यहां ज़मीन की उत्पादकता ज्यादा होने का एक कारण तो आबोहवा है। यूरोप में फसल योग्य मौसम बहुत छोटा होता है और सूर्य का प्रकाश कम। लेकिन यह बात तो प्राचीन काल में भी थी। इसके साथ ही यहां की जलवायु की विविधता के अनुरूप फसल चक्र व फसल सुधार, खेती के साधनों और सीमित सिंचाई होने का भी उतना ही महत्व रहा।

लेकिन इसके चलते किसान बहुत खुशहाल नहीं थे। वे तो बस दो जून की रोटी के स्तर पर ही जीते थे और बारिश न होने पर अकाल का सामना करना पड़ता था। मुझे अजीब बात यह लगती है कि ये नवाचार और ये दो जून की रोटी का स्तर दोनों एक साथ मौजूद थे। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू थे— और इसका संबंध था यहां के सामंती ढांचे से, इसमें मौजूद स्वतंत्रता और बंधन के अजीबोगरीब घालमेल से।

यूरोप में किसान गुलाम थे। वे इस कदर सामंतों से बंधे थे कि उन्हें सामंतों की ज़मीन पर बेगार करना होती थी। इसके साथ ही इस बात पर भी कठोर प्रतिबन्ध थे कि वे अपने खेतों में क्या उगाएं। भारतीय परिस्थिति के बारे में मतभेद हैं कि यहां इस तरह की सामंती व्यवस्था थी या नहीं और यदि थी, तो कितने अलग-अलग रूपों में। आम तौर पर यह कहा जा सकता है कि उत्पादन के साधनों पर किसानों का अधिकार था और वे सामंतों को फसल का एक भाग देते थे। सामंतों की ज़मीन पर काम करना या ज़रूरत पड़ने पर किसानों के खेतों पर काम करना दलित जातियों का काम था, किसानों का नहीं। इस तरह से किसानों को नवाचार की छूट तो मिली पर फसल का बड़ा हिस्सा सामंतों तथा अन्य हकदारों को देना पड़ता था। इसलिए नवाचार तो हुए परन्तु उनसे किसानों के हाथ कुछ न लगा। ये नवाचार ग़ैर-खेतीहर तबके की तादाद बढ़ाने और उनकी रईसी बढ़ाने के साधन बन गए। यही तो इस काल में कारीगरी के उफान का आधार था। स्वतंत्रता और बंधन का यही घालमेल कारीगरी में भी दिखता है— कारीगरी, जो कारीगरी ही रही, उद्योग न बन पाई।

नई तकनीकें, नया मेलजोल

अपनी संस्कृति को प्राचीन दिखलाने की कोशिश में हम प्राय: उन तकनीकी परिवर्तनों को याद तक नहीं करते जो मध्यकालीन युग में हमारे यहां आए थे। वह काल सिर्फ़ बाहरवालों द्वारा यहां आकर लड़ाई करने तक सीमित रह जाता है। उस समय लड़ाइयां तो बहुत हुईं, परंतु एक मेलजोल, आदान-प्रदान, विकास और नई तकनीकें सीखने-सिखाने का दौर भी चला, जिसका उल्लेख बहुत कम मिलता है।

कई अलग-अलग क्षेत्रों में इन परिवर्तनों को लाने में बहुत से लोगों का योगदान था। मोहम्मद ग़ोरी द्वारा बार-बार किए गए आक्रमणों और फिर यहीं राज्य करने के प्रयासों के दौरान कई ऐसी चीज़ें पश्चिम एशिया से इस उपमहाद्वीप पर आईं थीं, जिनसे यहां के कला-कौशल में काफी दक्षता पैदा हुई। शहरी कारीगरों ने इन परिवर्तनों को फौरन अपना लिया क्योंकि उन्हें नवागंतुकों की ज़रूरतें भी पूरी करनी थीं और रोज़ी-रोटी भी कमानी थी। एक बात जो इस सबके साथ हुई वह यह थी कि इन तकनीकों का इस्तेमाल आम इंसानों की ज़रूरतों के लिए करना, यह रवैया खास नहीं रहा।

तकनीकों की किस्मों में बहुत विविधता थी। कुछ का ज़िक्र तो फ़िल्म में भी किया गया है पर यहां फिर से सभी को दोहराना ज़रूरी लगता है। गहराई से पानी निकालने के लिए गीयर वाली रहट ने पूरी प्रक्रिया को बहुत सुगम बना दिया और जानवरों की ताकत का बेहतर इस्तेमाल भी संभव हुआ। इस काम में जानवरों का इस्तेमाल तो पहले भी होता था परंतु वे जितनी ताकत लगाते उसकी तुलना में काम उतना नहीं हो पाता था। ज़मीन पर जानवरों द्वारा क्षैतिज या आड़े घुमाए जाने वाले पहिए से कुंए के अंदर खड़े या उर्ध्वाधर (अर्थात् ज़मीन वाले पहिए से समकोण पर) रहने वाले पहिए का घूमना, समकोण गीयर के सिद्धान्त पर आधारित था। इसका उपयोग सिंचाई के अलावा और भी कई चीज़ों में हुआ, जिनका ज़िक्र फ़िल्म में है। लेकिन यह तो आज भी एक पहेली है कि रोज़मर्रा के और कामों में इसका उपयोग क्यों नहीं किया गया।
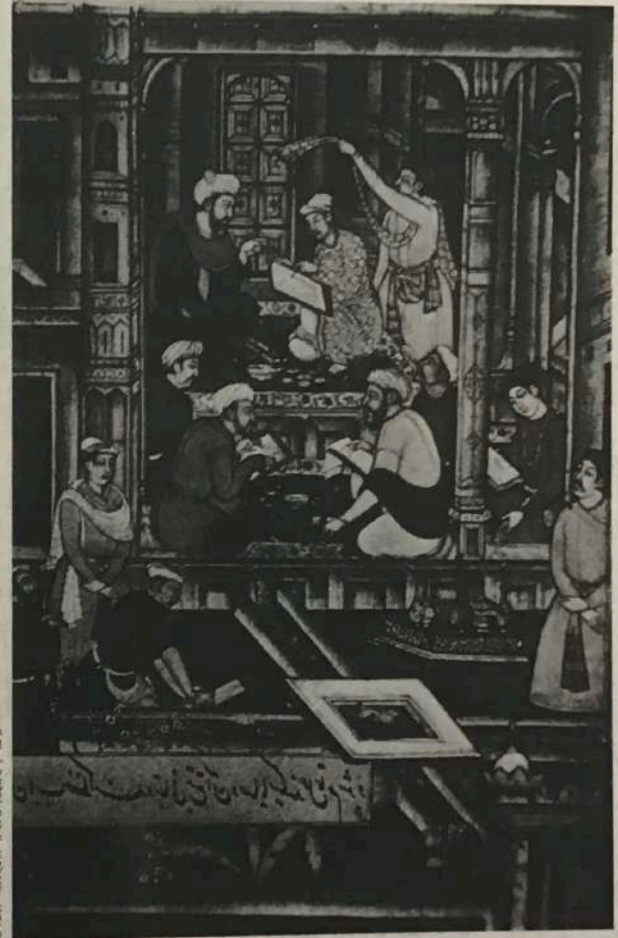
खुदाबख्श ओरिएंटल पब्लिक लाइब्रेरी, पटना

कागज़ बनाना, उसका उपयोग करना। सत्रहवीं सदी, 'अख़लाख-ए-नसीम', मे दर्शाया गया एक रईस का घर
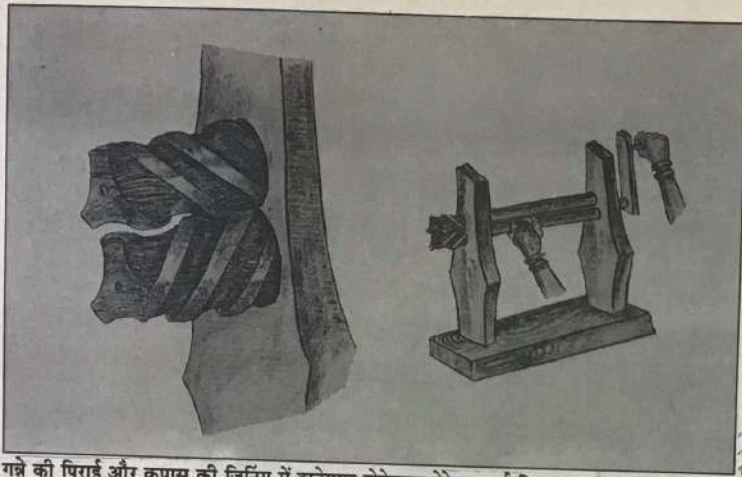
गन्ने की पिराई और कपास की जिनिंग में इस्तेमाल होनेवाला पेरेलल वर्म गिअर

घोड़े को नाल पहनाता लोहार, मुगल शैली का चित्र, अठारहवीं सदी

रोज़ के कामकाज में ज्यादा बड़ा अन्तर 'बेल्ट ड्राइव' के रूप में आया। इसके आधार पर चरखा बनाया जा सका। वैसे इसकी इजाद तो चीन में हुई परंतु इस महाद्वीप पर यह मध्य एशिया और ईरान के लोगों के साथ आया। इस उपकरण से कताई की रफ्तार बहुत बढ़ गई और आम इस्तेमाल के कपड़ों की कीमतों में काफ़ी कमी आई होगी। सिले हुए कपड़े पहनने की परंपरा भी हमने इसी दौरान पाई।

इसके अलावा ईंटें जोड़ने में चूने का उपयोग भी इन्हीं जय-पराजयों के साथ आया। इस सबका वास्तुकला पर असर पड़ा। कागज़ का अभाव भी कहीं हमारी मौखिक परम्परा के लिए ज़िम्मेदार था। चीन से ईरान और फिर ग़ोरी के साथ यहां इस तकनीक के आ जाने के बाद एक-दो सदी में ही कागज़ यहां बहुत आम तौर पर इस्तेमाल होने लगा।

सबसे पहले जो टेक्नॉलॉजी आई वह थी युद्ध से जुड़ी हुई। इन सारी लड़ाइयों में हारने का एक मुख्य कारण यह था कि इरानी, तुर्की फ़ौजों में घुड़सवार और घोड़े, दोनों ही बहुत काबिल थे। इसके अलावा थीं दो बहुत सीधी-सादी सी चीज़ें, जो बहुत काम आईं। एक थी घुड़सवार के लिए लोहे की रकाबें और दूसरी थी घोड़े के लिए लोहे की नाल। यदि रकाबें इससे पहले यहां मौजूद भी रही हों, तो वे रस्सी या लकड़ी की थीं, जो लोहे की तरह मजबूत नहीं होतीं। इस तरह से सेना मजबूत होने पर पश्चिम एशिया से आने वाले ये लोग यहां सल्तनत कायम करने में सफल हो पाए होंगे।

इन सब चीज़ों को देखकर ऐसा लगता है कि इन दो-तीन सदियों में कई सारी नई तकनीकें ग़ोरी की सेनाओं के साथ पश्चिम एशिया से यहां आईं। हालांकि ये आई थीं भीषण युद्ध के साथ परंतु अन्ततः इसके कारण यहां की टेक्नॉलॉजी काफी समृद्ध हुई। इसमें कारीगरों ने अपनी एक जगह बनाई और शहरों में उनकी तादाद बढ़ती रही। उन्होंने नई-नई बातें सीखने का जो खुलापन दिखाया उसके ही कारण हमारी संस्कृति और नई बनने वाली सामाजिक स्थिति ज्यादा समृद्ध हो पाई।

मोहम्मद ग़ोरी और उसके बाद कायम की गई सल्तनत के बाद वाले काल में भी इसी तरह से अन्य कई सारी तकनीकें आईं, जिनसे हमारे यहां कारीगरी ने और ज़ोर पकड़ा। इस दौर में सबसे ज्यादा विकास हो रहा था चीन में। चीन के साथ पश्चिम और मध्य एशिया के लोगों

का जो भी व्यापार और अन्य किस्म का लेन-देन था, उसके ज़रिये चीन में विकसित कई सारी तकनीकें वहां पहुंची और फिर वहां के लोगों के साथ इस उपमहाद्वीप पर आईं। कई सारी चीज़ों के बारे में यह पक्के तौर पर नहीं कहा जा सकता कि वे सीधे चीन से यहां आईं या इन लोगों के साथ।

ऐसी ही एक तकनीक है रेशम बनाना। रेशम के कीड़ों को पालना और उसमें से रेशमी धागा और कपड़ा तैयार करना, यह तो चीन के कारीगर ही जानते थे। वे इस विद्या को बहुत गुप्त रखते थे। वहां से चोरी-छिपे यह कला दुनिया भर में पहुंची। पंद्रहवीं सदी के दौरान यहां आई इस तकनीक को यहां इतना अपनाया गया कि दो सदियों में ही बंगाल दुनिया का एक महत्वपूर्ण रेशम उत्पादक बन गया। कपड़ा बनाने की अन्य सहायक तकनीकें, जैसे करघा और ट्रेडल का उपयोग और कपड़े पर छपाई करना, आदि भी मूलतः चीन में ही विकसित हुईं और सीधे या फिर उसी टेढ़े मार्ग से यहां आईं। ट्रेडल लगने के कारण एक बार फिर कपड़ा बुनने की प्रक्रिया ज्यादा तेज़ और कार्यक्षम हो गई।

इन सबके अलावा इस समय भी युद्ध से संबंधित कई सारी तकनीकें पनपीं। खास करके गन पावडर और बेलिस्टिक मिसाइल (प्रक्षेपास्त्र) में इसके उपयोग की खोज हुई। ऐसे पदार्थों का ज्ञान युद्ध में बड़ा महत्वपूर्ण साबित हुआ, जो जलने पर गोलों वगैरह जैसी चीज़ों को दूर तक फेंकने में मदद करते हैं। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि यह तकनीक इस उपमहाद्वीप में सीधी चीन से आई थी, पश्चिम एशिया के मार्फत नहीं।

इस तरह से यह तो बहुत स्पष्ट है कि पंद्रहवीं सदी तक के इस काल में नई चीज़ें अपनाने का एक खुलापन मौजूद था। यह शायद कारीगरों पर कारीगर संघ जैसे बंधन न होने के कारण था। ज़रूरत के अनुसार या बाज़ार में जो खप सकें, ऐसी चीज़ें वे अपना सकते थे, नई तकनीकें सीख सकते थे। दरअसल बाज़ार में यह खुलापन होने के कारण एक तरह से ये कारीगर नई चीज़ें सीखने और बनाने को मजबूर ही थे। शासकों ने इसको प्रोत्साहित तो किया परंतु अपनी ओर से इन कारीगरों की कोई खास मदद नहीं की।

नतीजा यह हुआ कि कारीगर अपने बलबूते पर जितना कर पाते, बस उतनी ही चीज़ें अपनाई जातीं। इनको आगे बढ़ाने के लिए जिस तरह

खुदाबख्श ओरिएंटल पब्लिक लाइब्रेरी, पटना

बेल्ट ड्राइव यंत्र। फ़िरदौसी के 'शाहनामा' का एक पृष्ठ, जिसमें फ़ारसी महिलाएं चरखा चला रहीं हैं, सोलवीं सदी

की लागत ज़रूरी थी वह एक इंसान के हाथ में नहीं थी। शासकों और अमीरों ने इस तरह के कामों में पैसा लगाना ज़रूरी नहीं समझा। इसका असर अगले दौर में बहुत हुआ, जब यूरोप में तकनीकी विकास ने एक नई दिशा अपना ली। उस समय यूरोप के साथ भी लेन-देन था, पर उसी तरह की चीज़ें यहां के कारीगर न कर सके।

इसका एक उदाहरण है पेंच। उनमें बनने वाली चूड़ियों के लिए लेथ ज़रूरी थी, जो यहां के कारीगरों के पास होना संभव नहीं था। यहां उसकी नकल एक अनूठे तरीके से की गई। चूड़ी काटने के बजाय उस पर तार को इस तरह से चिपका दिया जाता कि वह चूड़ियों का काम देता। लेकिन ये बनावटी पेंच मज़बूती में कम बैठते थे। मतलब यह हुआ कि लेथ के विकास के लिए जिस तरह से धन और समय के लागत की ज़रूरत थी, वह न मिल पाने के कारण एक टेक्नॉलॉजी, पेच, ठीक से नहीं अपनाई जा सकी। इसी तरह से अन्य उद्योग भी आगे के दौर में आगे न बढ़ सके।

इसके लिए ज़िम्मेवार लगती है उस समय की अर्थव्यवस्था। इसमें एक तरफ तो राजा थे जो खेती की बढ़ती उपज के कारण, उसके अतिरिक्त उत्पादन से शहरों में बढ़ते कला-कौशल का पोषण कर सकते थे। जब तक खेती में कोई संकट न आए, तब तक यह सिलसिला चल सकता था। दूसरी तरफ थे व्यापारी, जो एक छोटे संपन्न समुदाय को विलासिता की वस्तुएं मुहैया करवाकर इतना मुनाफ़ा कमा रहे थे कि उन्हें ज़रूरत ही नहीं थी कि ऐसी अलाभप्रद "अप्रासंगिक" चीज़ों पर धन लगाएं।

टेक्नॉलॉजी के अगले दौर में ज़रूरी था इस तरह का सहारा जिसमें काफी सारा पूंजी निवेश शामिल हो। कारीगर और उनकी कला के लिए लगने वाले औज़ारों की जगह अब मशीनें लेने वाली थीं, जिनसे काम आसान होने के साथ-साथ उत्पादन की रफ्तार भी बढ़ जाती है। इसकी वजह से आम उपयोग की वस्तुएं सस्ते दामों पर उपलब्ध हो जाती हैं। आने वाले दौर में ऐसी चीज़ें बनने वाली थीं जिनका इस्तेमाल संपन्न वर्ग ही नहीं, आम इन्सान भी कर सकते थे। परंतु इसके लिए अकेले कारीगर की पहल काफी नहीं थी। इसके लिए समाज की सामूहिक इच्छाशक्ति और ज़िम्मेदारी भी ज़रूरी थी।

अ मृ ता

एक मुग़ल बंदरगाह की सैर

इतिहास की बातें करते-करते कभी लगता है कि कूदकर उस ज़माने में पहुंच जाएं और देखें क्या चल रहा है। आज बैठे-बैठे अटकलबाज़ी में मज़ा तो आता है पर पूरा नज़ारा नहीं दिखता। खैर, सपने देखने में कोई हर्ज़ नहीं, ऐसा सोचकर मान लें कि मुग़लकाल में हम सूरत के बन्दरगाह की सैर को निकले हैं।

समुद्र से ताप्ती नदी में प्रवेश करने के बाद जैसे-जैसे आगे बढ़े तो पहले मछुआरों के गांव पड़े। उसके बाद, अरे यह क्या? यहां तो जहाज़ खड़े हैं। मतलब यह बन्दरगाह तो समुद्र से अन्दर नदी के मुहाने पर है। यहां मुगल अमीरों के, फ्रांसीसी और डच व्यापारियों के जहाज़ खड़े हैं। ये जहाज़ यूरोप, अरब, चीन, इंडोनेशिया आदि जगहों से आए हैं। सारे जहाज़ पालवाले हैं, हवा के सहारे चलते हैं। अप्रैल से सितम्बर के महीनों में जब हवा पश्चिम से पूरब चलती है तो ये जहाज़ यूरोप से अफ्रीका होते हुए भारत पहुंचते हैं। उन्हीं दिनों अरब व्यापारियों के जहाज़ लाल सागर से होते हुए भारत पहुंचते हैं। यहां से सामान लादकर ये इंडोनेशिया चले जाएंगे। जाड़े में जब हवा बदलेगी तो ये वापिस अपने देश चल देंगे। व्यापारी दिखाई पड़ते हैं। जहाज़ों के बीच में से बचते-बचते निकले तो सामने चुंगी घर। सारे व्यापारी यहीं आकर अपने-अपने माल पर चुंगी कर चुकाते हैं। यह व्यवस्था मुगल बादशाहों की बनाई हुई है। इससे उन्हें काफी आमदनी हो जाती है। मतलब व्यापार बढ़ाने में बादशाह को फायदा है।

उधर चुंगी घर के सामने शाही टकसाल है। व्यापारी जब बाहर से आते हैं, तो अपना सोना-चांदी यहां जमा करके मुगल राज्य के सिक्के ले लेते हैं। इन्हीं के ज़रिये तो खरीद-फ़रोख़्त होगी। किन्तु ये सौदागर बेचने के लिए क्या-क्या लाए हैं? ये लोग अफ्रीका से सोना-चांदी और हाथी दांत लेकर आए हैं। इन्हें बेचकर यहां से सूती व रेशमी कपड़े खरीदेंगे, नील, शक्कर और मसाले भी खरीदेंगे।

तो क्या सूरत में ये सारी चीज़ें पैदा होती हैं? नहीं, लगता है कि बाहर से आती हैं। उधर मैदान में बाज़ार लगा है और सामान बैलगाड़ियों में भर-भरकर आ रहा है। एक गुजराती व्यापारी का माल

सूरत का बंदरगाह। सत्रहवीं सदी के 'अनीस-अल-हज' के एक चित्र पर आधारित

अभी-अभी आया है। आने में काफी देरी हो गई है। लानेवाला आदमी बेचारा थका-हारा पहुंचा है। बयाना में उसने नील खरीदी तो बैलगाड़ी नहीं मिली। लखनऊ से बैलगाड़ियों का काफिला आया तो, पर वह काफी नहीं था। सो बुरहानपुर से गाड़ियां आने का इन्तज़ार किया तब कहीं जाकर माल लेकर सूरत पहुंचा। खैर अब क्या किया जा सकता है। यदि हरकारे याने कालींदों के हाथ पहले खबर आ जाती तो कुछ इन्तज़ाम किया जा सकता था।

बाज़ार में हमें हालैण्ड, इंग्लैण्ड, इण्डोनेशिया, तुर्की, अरब देशों से आए व्यापारी दिखाई पड़ते हैं। उधर दो डच व्यापारी बातें कर रहे थे कि यहां माल का इन्तज़ार करने से तो अच्छा है कि गांव चले जाएं। वहां माल सस्ता मिल जाता है। यह ज़रूर है कि पूरे रास्ते कर चुकाते आना पड़ता है, पर फिर भी सस्ता ही पड़ता है। और आजकल सड़कें भी अच्छी बन गई हैं और रास्ते के नालों पर पुल भी बन गए हैं, सो ज्यादा दिक्कत नहीं होती। रुकते-रुकते आना पड़ता है। जगह-जगह रात रुकने के लिए सराय तो हैं ही। अलबत्ता रास्ते में डाकुओं का खुटका लगा रहता है।

इनसे अलग दो पारसी व्यापारियों की चिन्ता कुछ और ही है। उनकी चिन्ता है मुग़ल राजाओं को तो कर चुकाया सो चुकाया। अब जहाज़ पर माल चढ़ जाने के बाद पुर्तगालियों को भी कर दो नहीं तो जहाज़ लूट लिए जाएंगे। पुर्तगालियों को पूरी रकम चुकाकर पास लेना पड़ता है। और उनसे बच निकलना आसान भी नहीं है। पूरे हिन्द महासागर पर उनका कब्ज़ा है। आसपास के द्वीपों पर तो सेना है ही, जहाज़ों पर भी सेना और तोपें तैनात हैं। बगैर इजाज़त कोई परिन्दा पर नहीं मार सकता।

प्रगतिरोध और परिवर्तनशील विश्व

1600 से 1800 तक

९

शिवाजी के एक छोटे किले, बानूरगढ़, पर एक भजन मंडली द्वारा तुकाराम के अभंग गायन के साथ फ़िल्म शुरू होती है। जैसे-जैसे मुगल साम्राज्य छोटे-छोटे सामंती राज्यों में विलीन हुआ वैसे-वैसे सूफ़ी और भक्ति परम्पराएं ज़ोर पकड़ती गईं। हालांकि इन धार्मिक नेताओं ने बराबरी और समता के विचारों पर ज़ोर दिया परन्तु इससे विज्ञान के साथ जुड़कर एक व्यापक आंदोलन की संभावना साकार नहीं हो पाई। हस्तकला के विकास के बावजूद सिद्धान्त और व्यवहार का विभाजन बरकरार रहा। आगे चलकर यह एक बाधा बनने वाला था।

भारत में जहाज़ निर्माण की तकनीक पर चर्चा की पृष्ठभूमि बनता है गुजरात में जाम सलाया नामक स्थान, जहां एक लकड़ी का जहाज़ बनाने का काम चल रहा है। भारतीय जहाज़ों की यूरोप में बहुत मांग थी। परन्तु हमारे पास नाविक टेक्नॉलॉजी का अभाव था। बीच समुंदर की यात्राएं यूरोप ने कीं, और अन्ततः अपनी सैन्य शक्ति के बल पर दुनिया पर हुकूमत जमा ली।

मध्ययुगीन विश्वदर्शन की सीमाओं को तोड़ता हुआ रेनेसांस फूट पड़ा यूरोप में। इसने विज्ञान और कला में क्रांति ला दी। नया वैज्ञानिक ज्ञान और दर्शन भारत भी पहुंचा। यहां तो यह अलग-अलग अमीरों पर था कि वे दिलचस्पी लें या न लें और इसलिए इस दिलचस्पी की ताकत कभी नहीं बन पाई कि वह समाज पर प्रभाव डाल सके।

इसी बीच जयसिंह ने जयपुर शहर की योजना बनाई, कैलेन्डर में सुधार किए और कई वेधशालाएं या जन्तर-मन्तर बनवाए। अचरज की बात है कि उसे टेलिस्कोप के बारे में पता था परन्तु उसका पूरा खगोलशास्त्र टेलिस्कोप पूर्व का ही है।

सामाजिक व तकनीकी बदलावों को लेकर टिप्पू सुल्तान का नज़रिया ज्यादा समग्रता लिए था। उसकी आर्थिक नीतियां इसका सबूत हैं। उसने नई से नई सैन्य टेक्नॉलॉजी हासिल करने की कोशिश की। उसकी सेना द्वारा निर्मित स्टील रॉकेट एक अनूठी उपलब्धि थी, जिसने ब्रिटिश फ़ौज को काफ़ी परेशान किया। टिप्पू फ्रान्सिसी क्रांति से प्रभावित था। बहुत जल्दी ही उसे यकीन हो चुका था कि हिन्दुस्तानी ताकतों को अंग्रेज़ों के खिलाफ़ एकजुट हो जाना चाहिए। टिप्पू की हार के साथ औपनिवेशिक शासन पर से एक बड़ा खतरा टल गया।

इसी दौरान यूरोप में वैज्ञानिक क्रांति हो रही है, जो सामाजिक बंधनों को तोड़ती हुई, औद्योगिक क्रांति की भूमिका तैयार कर रही है।
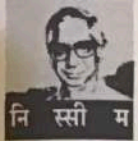
कंपनी राज से पहले

भारत में अंग्रेज़ व्यापार करने आए और फिर यहीं अपना राज जमा कर बैठ गए, यह तो हमने बचपन से सुना और सीखा। यह व्यापार यहां कैसे जमा, उस समय दुनिया भर के, खास करके यूरोप के, देशों के बीच क्या नाता था, कैसे इस व्यापार ने एक राज का रूप अख्तियार कर लिया, ये सारे मसले मुझे बहुत दिलचस्प लगते हैं। वह एक दौर था जब एक नई विश्व व्यवस्था बन रही थी। वही समय था जब व्यापार, विज्ञान, उद्योग ये सब एक विश्वव्यापी रूप अपना रहे थे; जब आधुनिक विज्ञान, और टेक्नॉलॉजी को अपनाया जा रहा था। आज फिर जो उथलपुथल मची है सब ओर, तब विश्व के इतिहास के इस काल में घटी घटनाओं पर गौर करना ज़रूरी लगता है।

यूरोप से आनेवाले यात्रियों में सबसे पहले थे पुर्तगाली। अपने देश की भौगोलिक परिस्थिति के कारण समुद्री यात्रा और नौवहन में उन्होंने निपुणता पाई। उनसे लगे हुए देशों में फैले राज्यों से अलग हटकर समुद्र में एक नया रास्ता बनाकर वे पहलेपहल इस ओर पहुंचे। ना सिर्फ वे सबसे पहले यहां आए परंतु उन्होंने यहां अपना एक किस्म का एकाधिकार स्थापित करने की कोशिश की। समुद्र के इस सारे मार्ग पर उन्होंने मानो अपना राज्य ही बना लिया। अन्य किसी भी देश के जहाज़ों को उन मार्गों से सामान लाने ले जाने के लिए पुर्तगालियों को टैक्स देना पड़ता। अगर ये टैक्स ना चुकाए जाते, तो पुर्तगाली लोग अपनी पुख्ता नौसेना के ज़रिये उन जहाज़ों को लूट लेते।

खाड़ी से होकर आनेवाला ज़मीनी रास्ता राजनैतिक कारणों से बंद होने के कारण ही पुर्तगाल और स्पेन के लोगों ने अफ्रीका से पूरा घूमकर जानेवाला यह मार्ग ढूंढ निकाला। किनारे से ज्यादा दूर न चलने वाले जहाज़ों ने थोड़े दूर जाने की कोशिश की। लगभग इसी समय कोलंबस ने पश्चिम की ओर से पूर्व में भारतीय उपमहाद्वीप तक आने की कोशिश की। और इसी नए मार्ग की खोज में निकले कोलंबस को मिल गया वह भूखण्ड जो आज अमरीका कहलाता है। एक पहचानी जगह को पहुंचने के रास्ते पर मिल गई एक नई जगह! ऐसी नई जगह जो प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर थी।
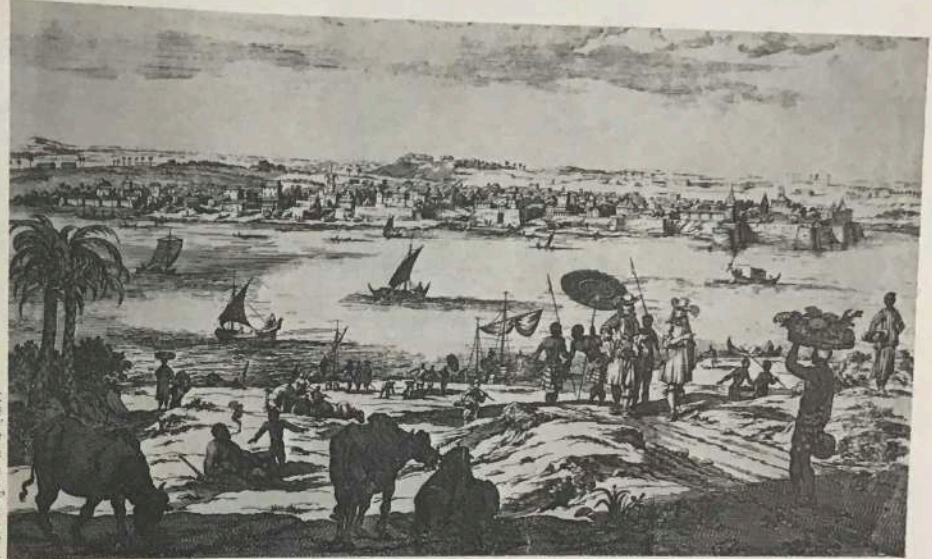
ताप्ती के किनारे सूरत का किला, ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज में

व्यापार पर पुर्तगाल का यह एकछत्र नियंत्रण ज्यादा समय न चल सका। धीरे धीरे डच नौसेना और व्यापारियों ने भी पूर्व में आ कर ईस्ट इंडीज से पुर्तगालियों को मार भगाया और मसाले का सारा व्यापार हथिया लिया। धीरे धीरे फ्रांसिसी और ब्रिटिश कंपनियां भी इस ओर आने में सफल हुईं। ये सारे भारत में आ कर व्यापार का एक नया दौर शुरु करने में भिड़ गए।

उस समय भारत में मुग़ल साम्राज्य की स्थिति इन सब को यहां घुसने देने में मददगार साबित हुई। फैलते हुए साम्राज्य की प्रशासन ज़िम्मेदारियां संभालने के लिए बनाया गया अमीरों का वर्ग धीरे-धीरे और सत्ता चाह रहा था। बढ़ती नौकरशाही को बरकरार रखने लायक आय भी साम्राज्य से नहीं हो पा रही थी। खेती की उपज पर और एक वफादार, ईमानदार नौकरशाही पर टिका था मुग़ल साम्राज्य। थोड़ी सत्ता रखने वाले अमीर तो और सत्ता पाने को कुलबुला रहे थे। बाहर के देशों से व्यापार से होने वाली आय साम्राज्य को बनाए रखने के लिए ज़रूरी थी। इसीलिए इन विदेशी कंपनियों को प्रोत्साहित किया गया।

पर कंपनियां भी तो अपने फायदे के लिए ही तो इतनी दूर आई थीं। असंतुष्ट और नाखुश अमीरों की बेचैनी का उन्होंने पूरा फायदा

सोलहवीं सदी में मध्य प्रदेश के बालाघाट से अनाज लेकर गोवा की पुर्तगाली बस्ती को जाता बैलों का कारवां

सोलहवीं सदी के आखिरी में गोवा का बाज़ार

उठाया। अपनी शक्तिशाली सेना की मदद देकर उन्हें बगावत करने को उकसाया। एक बहुत ही नाज़ुक से तंतु से जुड़ा साम्राज्य मानो बिखर गया, छोटे-छोटे हिस्सों में बंट गया। ज़ाहिर है कि इसका सबसे ज्यादा फायदा उठाया उन सारी विदेशी कंपनियों ने जो यहां मुनाफ़ा कमाने ही तो आई थीं।

सत्रहवीं सदी के अंत तक मुख्य ज़ोर था अंग्रेज और फ्रांसिसियों का। इन दो साम्राज्यों ने काफी सारी जगह इस तरह व्यापार का सिलसिला शुरू किया था। उन दोनों के हित कई जगहों पर एक दूसरे से टकरा रहे थे। भारत एक ऐसा ही देश था। दूसरा था नया मिला हुआ भूखण्ड अमरीका। इसके बाद वाले दौर में एक टूटे, बिखरे हुए मुग़ल साम्राज्य के अवशेषों पर चल रहा था एक संघर्ष, अंग्रेज़ और फ्रांसिसियों के बीच, इस भूखण्ड पर आधिपत्य के लिए। भारत से कहीं दूर लड़ी गई लड़ाइयों और समझौतों का असर यहां के सत्ता समीकरणों पर पड़ता। आधिपत्य की इस लड़ाई में अन्ततः ब्रिटिश विजयी हुए और यहां हुकूमत जमाने में कामयाब हो गए।

वो यहां कैसे फैले, किस तरह उनका मकसद व्यापार से बदल कर राज करने पर आ गया, वगैरह तो आगे के दौर की बातें हैं। फिर एक बार एक साम्राज्य के रूप में यह पूरा उपमहाद्वीप बंधा। परंतु इस नए दौर के हमलावरों के बारे में कुछ और कहना बहुत ज़रूरी लगता है। ये सारे यहां व्यापार करने आए थे। यहां पर रह कर राज करना उनका मकसद नहीं था। दूर बसे उनके देशों को छोड़कर वे एक नया राज स्थापित करने नहीं आए थे। उनकी दिलचस्पी थी व्यापार में। पर उसका पूरी तरह से फ़ायदा उठाने के लिए जो ज़रूरी था वह उन्हें सब करना ही पड़ा और उन्होंने वह किया भी।

पहले उनकी दिलचस्पी यहां बनने वाली चीज़ों में थी, जिनके लिए वहां बहुत मांग थी। उस समय तो यहां के कारीगरों द्वारा बनाई गई वस्तुएं बेशुमार थीं और उनके बदले में यूरोप से यहां काफी सोना आता था। लेकिन वहां कारखानों के लगते ही यह सिलसिला उलट गया। वहां ज्यादा मात्रा में और सस्ती चीज़ें बनने लगी। अब यहां से कच्चा माल वहां के उद्योगों के लिए भेजा जाने लगा ओर वहां की मशीन के बने कपड़े इत्यादि यहां के बाज़ारों में बेचे जाने लगे। धीरे धीरे यहां का स्वतंत्र बाज़ार और उद्योग पूरी तरह से निर्भर हो गए इन बाहरी देशों पर। उन ताकतों का यहां के व्यापार पर नियंत्रण बढ़ता ही रहा और यहां का हर पहलू उनकी ज़रूरतों और मांगों के अनुसार बदलता गया, उसके अनुरूप अपने आपको ढालता रहा।

एक-समान तरीके से और व्यापारी दृष्टि से पूरे समाज को जोड़ा गया। एक कमज़ोर हो चुके साम्राज्य को पूरी तरह से खत्म कर के उसकी जगह एक नया साम्राज्य बनाया गया जिसका गठन ही इस तरीके से और इस नींव पर किया गया कि इससे पश्चिमी देशों के बढ़ते, फलते-फूलते व्यापार और उद्योग को जिलाए रखा जा सके। तब से आज तक में काफी सारे बदलाव आए हैं, सारे विश्व में और हर छोटे-बड़े देश में। पर व्यापार और उद्योग के आधार पर साम्राज्य फैलाने का सिलसिला और प्राकृतिक संपदा पर नियंत्रण पाने का यह रवैया तब से शुरू हो कर आज तक हमें जकड़े हुए है। बेहतर सैन्य टेक्नॉलॉजी के साथ-साथ वस्तु उत्पादन के इस नए तरीके ने इतिहास के इस दौर के सत्ता समीकरण तय किए हैं।

रेनेसांस और बोलचाल की भाषाएं
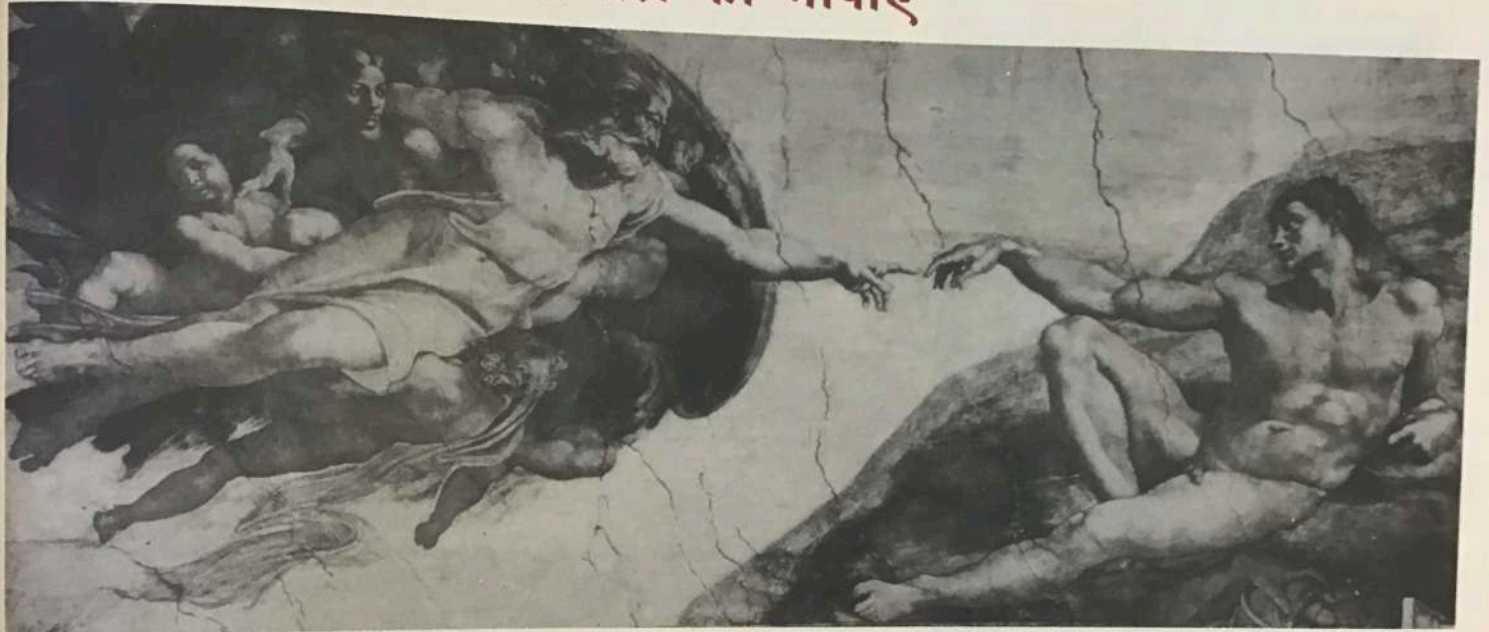
'आदम का जन्म', वेटिकन सिटी के सिस्टीन चैपल का एक दृश्य

रेनेसांस, पुनर्जागरण, पुनरुज्जीवन। एक नई स्फूर्ति, एक नई ऊर्जा। पता नहीं वह क्या रसायन होता है जो एक ऊर्जा दे जाता है और एक समूचे दौर की रचनाओं को सराबोर कर देता है।

रेनेसांस नामक यह रयासन भी एक पूरे दौर को समेट लेता है, भिगो देता है। इसका नाम तो पड़ा है साहित्य और कला की घटनाओं से। किन्तु इसके बाद आनेवाले दौर— रिफार्मेशन या पुनर्रचना— का संबंध धर्म की घटनाओं से है और उसके बाद का दौर— एनलाइटनमेन्ट या रौशन खयाली— दर्शन व कुछ हद राजनीति की घटनाओं से जुड़ा हुआ है। और तब तक हम वैज्ञानिक और औद्योगिक क्रांति की दहलीज़ पर पहुंच चुके होते हैं। रेनेसांस एक तरह से इस पूरे दौर की शुरुआत है।

रेनेसांस से पहले यूरोप के कला व साहित्य लगभग जड़ हो गए थे। 'लगभग' इसलिए क्योंकि साहित्य और कला पूरी तरह जड़ तो कभी नहीं होते। फिर भी वे मध्ययुगीन धर्म की चौखट में बंद हो गए थे। मध्ययुग की तस्वीरें सुन्दर तो हैं पर बेजान सी, क्षीण।

इस सबको एक ज़बर्दस्त मोड़ देता है रेनेसांस। धर्म की, परलोक की बातें छोड़कर साहित्य और कला इस लोक की बातें करने लगते हैं। यूरोप की असली ज़िन्दगी, खासकर छोटे-मोटे सामंतों की, पर से दोगली पवित्रता का पर्दा हट जाता है।

फिर एक बार कहानी का दौर शुरू होता है। नैतिक शिक्षाप्रद कहानियां नहीं, सचमुच की कहानियां, कही जाने वाली कहानियां। लिखी जाने के कारण कहानी का रूप तो बदलता है, पर उसकी जड़ें

सोचती हूं, तो शहनाज़ के आदिवासी दोस्त की बातें याद आ जाती हैं। मुझे लगता है वे बातें इस सवाल से संबंध रखती हैं।

वह खुद साहित्यकार है, अपना लिखा हुआ छपवाया भी है। परन्तु उसके साथ असली मज़ा तो किस्से-कहानियां सुनने में है। उसे इसमें महारत हासिल है लेकिन उसका कितना ही 'साहित्य' लिखा हुआ नहीं है। कितनी ही आदिवासी 'दिवाली'— नौटंकी जो एक तरह की जात्रा होती है— में उसके नाटक पेश हुए हैं। इनमें उसके कई गीत भी शामिल हैं। उसका कहना है कि ऐसा कितना ही साहित्य रचा जाता है, रचा गया है, जिसका नामों-निशां तक नहीं रह जाता।

मुझे लगता है यही मुद्दे की बात है और यह मौखिक परम्परा से जुड़ी हुई है। मौखिक परम्परा में वही बातें सहेजकर रखी जाती हैं, जिनसे कोई सामाजिक ढांचा या सशक्त परम्परा जुड़ी होती है। बाकी रचनाओं का जायज़ा ज़रूर लिया जाता होगा परन्तु उन्हें सहेज कर रखने, परम्परा बनाने तक बात नहीं पहुंची होगी। भक्ति परम्परा के अलावा भी कहीं-कहीं ऐसी संभावना ज़रूर नज़र आती है, जैसे अमीर खुसरो या भक्तिपूर्व काल के महानुभाव, इत्यादि। लेकिन बाद में तो स्थानीय भाषाओं में भक्तिरस ही भक्तिरस बहता नज़र आता है। कम से कम लिखित साहित्य में तो यही दिखता है। रेनेसांस में जिस तरह साहित्य ज़मीन पर उतर आया था, वैसा दौर आने में हमारे यहां उन्नीसवीं सदी का इन्तज़ार करना होता है।

मैं जानती हूं, जवाब अधूरा है। बहुत सारे सामाजिक-आर्थिक मसले इससे जुड़े हुए हैं। बहरहाल, आज जब मैं अपने इर्द-गिर्द देखती हूं तो इसका एक और पहलू नज़र आता है। हमारे वैज्ञानिकों में साहित्य के प्रति, साहित्य और कला की दुनिया के प्रति एक उदासीनता, और कभी-कभी हिकारत भी होती है। साहित्य तो दूर की बात है, उन्हें तो विज्ञान को लोकप्रिय बनाने से भी कुछ लेना-देना नहीं है। स्थानीय भाषाओं में, लोगों की भाषाओं में, विज्ञान का साहित्य तक उनके लिए फिज़ूल की गतिविधि है। ऐसी परिस्थिति में, मेरे खयाल से जवाब का एक और पहलू पेश करना ज़रूरी है। सवाल यह है कि क्या स्थानीय बोलचाल की भाषा में एक जीवन्त साहित्य की अनुपस्थिति में ज़मीन से जुड़े विज्ञान का विकास संभव है?

रंजन

वैज्ञानिक क्रांति : परिवर्तन और सीमाएं

रेनेसांस (या पुनर्निर्माण) सिर्फ़ कला की दुनिया की बात नहीं थी। यह वह दौर था जब विश्व-दृष्टि में बुनियादी परिवर्तन हुआ। इन सालों में ज़बर्दस्त उथल-पुथल हुई। आत्मा और पारलौकिक शक्तियों पर आस्था का स्थान मानव केन्द्रित ब्रह्माण्ड ने ले लिया। यकायक मानव इस पृथ्वी के सबसे अहम जीव हो गए। न सिर्फ सबसे अहम बल्कि इस पृथ्वी की सारी घटनाओं और सारी प्रक्रियाओं के संचालक और नियामक। मानव ने मान लिया कि उसी के हाथ में जीवन के क्रम को बदलने की ताकत और इच्छाशक्ति है। अन्य कोई चीज़ अब खुद की मर्ज़ी से नहीं चल सकती थी।

एक बार यह रूझान पैदा हुआ, तो स्वाभाविक ही था कि पृथ्वी की हर चीज़ पर मनुष्य का प्रभुत्व हो। न सिर्फ़ हर चीज़ और हर चीज़ के व्यवहार को समझना अनिवार्य हो गया, बल्कि यह भी ज़रूरी लगने लगा कि हर घटना की पक्की भविष्यवाणी की जा सके। एक बार मनुष्य के सामर्थ्य का डंका बजा, तो अनिश्चितता या संशय के लिए कोई जगह न रही। हर हादसा, हर घटना, व्याख्या और पूर्वानुमान के दायरे में लाया जाना ज़रूरी हो गया। सिर्फ़ इतना ही नहीं, बल्कि उन पर नियंत्रण करना और मनुष्य की ज़रूरत के मुताबिक उनमें फेरबदल करना भी ज़रूरी महसूस किया गया। इस मानव-केन्द्रित विचारधारा की बदौलत विश्व का एक निहायत निश्चयवादी चित्र उभरा।

आज हमारे लिए इन बातों का अर्थ समझ पाना आसान है क्योंकि हम इस दौर के परिणामों को जी रहे हैं, भोग रहे हैं। मगर, उस समय इन बदलावों की वजह क्या रही होगी? और उससे भी पहले, इन बदलावों की प्रकृति क्या थी? ये वे प्रश्न थे जो मेरे दिमाग में कुलबुला रहे थे। फ़िल्म बनाते वक्त यह स्पष्ट था कि हम सभी तीन-चार सदियों पूर्व की इन युगान्तरकारी घटनाओं के प्रति सचेत थे। हमें यह भी पता था कि यही वह समय था जब विज्ञान ने एक सर्वव्यापी या सार्वभौमिक चरित्र अख्तियार किया था। यही वह समय था जब, जिसे हम आज विज्ञान और वैज्ञानिक सोच के रूप में जानते हैं, उसने जड़ें जमाई थी और फला-फूला था। यही वह समय था जब, एक बार फिर, विज्ञान हमारे रोज़मर्रा के जीवन और जीवन प्रक्रियाओं का महत्वपूर्ण हिस्सा बना।

बहरहाल दुनिया के इतिहास और विज्ञान के इतिहास को साथ-साथ देखने पर एक निरंतरता का अहसास होता है। ऐसा नहीं लगता कि यह विज्ञान और विचारधारा आसमान से टपक पड़े हों। विचार शृंखला के विकास में एक निरंतरता बनी रही है। दुनिया को देखने का नज़रिया किसी एक न्यूटन या देकार्ते के पैदा हो जाने से नहीं बदल गया था। इन व्यक्तियों के योगदान को नकारे बग़ैर यह कहा जा सकता है उस दौर का पूरा माहौल, पूरा परिदृश्य ही इस तरह का था, जिसमें न सिर्फ़ ये वैज्ञानिक अपने विचार व्यक्त कर पाए, बल्कि उन्हें स्वीकार भी किया गया।

हालांकि व्यापार और विचारों का लेन-देन करीब 2000 सालों से चला आ रहा था किन्तु इस दौर में ऐसा कुछ हुआ कि एक किस्म की नज़दीकियां पैदा हुईं। यह सब हुआ उन लोगों की शक्ति तले, जिनके पास यह नया ज्ञान था। ज्ञान या जानकारी सर्वव्यापी तो हुई किन्तु साथ-साथ ही इसकी बदौलत उन लोगों के हाथ में काफी ताकत आ गई, जिन्होंने इस ज्ञान के विकास में योगदान दिया था या इस पर नियंत्रण रखते थे। इसके साथ ही समूचे विश्व में एक तरह की एकरूप संस्कृति व सोच का भी विकास हुआ। इस एकरूप संस्कृति के फैलाव में स्थानीय या देसी संस्कृतियों को नकारा गया तथा उनके लिए कोई गुंजाइश न रही। देसी जीवन-शैलियों और सोच के लिए कोई स्थान न रहा। आज पीछे मुड़कर देखने पर मुझे लगता है कि यह सब कुछ इस विज्ञान की प्रकृति में निहित ही था और एक तरह से अपेक्षित भी था।

पुराने सोच में पहली दरार तब पड़ी जब यह पता चला कि पृथ्वी ब्रह्माण्ड का केन्द्र न होकर मात्र एक हिस्सा है— वह भी एक छोटा सा, तुच्छ सा हिस्सा। बदलाव का दूसरा पहलू था प्रकृति के नियमों को गणित के सूत्रों के रूप में बांधना। एक बार जब ग्रहों की गति को गणित की शक्ल में व्यक्त करने में सफलता मिल गई, तो यह माना जाने लगा कि प्रकृति के व्यवहार को समझने के लिए गणित की भाषा का इस्तेमाल किया जाए। गणित एक तरह से वस्तुनिष्ठ, अन्तिम सत्य का प्रतीक बन गया था।

ऐसा अतिवादी नज़रिया क्यों अपनाया गया? एक अनुमान है कि उस वक्त मान्यता थी कि ईश्वर, आत्मा-परमात्मा, तथा अन्य पारलौकिक शक्तियां जीवन का संचालन करती हैं। इसके कारण कई अन्धविश्वास बन चुके थे और आगे के रास्ते बन्द होने जैसी स्थिति थी। ऐसी हालत में शायद एक विपरीत अतिवादी रवैये की ज़रूरत थी। दुनिया किसी अज्ञात शक्ति द्वारा संचालित होती है जैसे विचार के विरूद्ध दूसरा छोर था कि दुनिया का पूर्ण संचालन कुछ निश्चित नियमों व क्रम के तहत होता है।

ज़मीन एक वैज्ञानिक विधि के बीज के लिए तैयार थी। यह वैज्ञानिक विधि कुछ सिद्धान्तों को सामने रखकर उनकी पुष्टि प्रयोगों द्वारा करने पर आधारित थी। सारा ज़ोर सटीक भविष्यवाणी पर था। संशय, संभाविता या अनिश्चितता के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी गई थी। वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए ऐसे सबसे छोटे कणों की खोज शुरू हुई, जिनसे मिलकर वस्तुएं बनती हैं। विचार यह था कि इन सूक्ष्म कणों को संचालित करने वाले नियम पता लग जाने पर बड़ी-बड़ी वस्तुओं को समझा जा सकेगा। आखिर इन्हीं सूक्ष्म कणों से मिलकर तो स्थूल चीज़ें बनी हैं। पूरी विचारधारा घटकवादी या अवयववादी थी। किसी वस्तु को बनाने वाले घटक— यानि सूक्ष्म कणों— को समझ लिया, तो पूरी वस्तु को समझा जा सकता है। आखिर प्रकृति को संचालित करने वाले कुछ सामान्य नियम तो होंगे ही। ये नियम हर चीज़ पर लागू होंगे, चाहे वह सूक्ष्म हो या स्थूल। ये नियम हर उस घटना पर भी लागू होंगे जिनमें इन कणों की हिस्सेदारी हो।

तो, पदार्थ के इन बुनियादी घटक कणों की खोज शुरू हुई। साथ ही साथ तलाश शुरू हुई उन बुनियादी नियमों की, जो सारी जीवित व निर्जीव वस्तुओं का संचालन करते हैं। भौतिकशास्त्रियों, खगोलशास्त्रियों और गणितज्ञों द्वारा विकसित सटीक तथा किसी भी व्यक्ति द्वारा अपनाई जाने पर वही उत्तर देने वाली जो विधि विकसित

की गई थी, उसे अब जीवन तथा परिवेश के हर पहलू पर लागू किया जाने लगा। इस तरह से प्राप्त ज्ञान ने बहुत तरक्की की। किन्तु आज इस विधि की सीमाएं नज़र आने लगी हैं। निश्चयवाद और परम सत्य की खामियां दिखने लगी हैं। पूरे विश्व का एकमात्र सार्वभौमिक सत्य एवं व्याख्या ढूंढने की कोशिशों को असफलता का सामना करना पड़ा है। यह सब कुछ रोजमर्रा की ज़िन्दगी के अलावा विज्ञान के क्षेत्र में भी दीख रहा है-और वह भी भौतिक शास्त्र में जिसने वैज्ञानिक क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त किया था। इसके बारे में और बातें बाद में।

इस मुकाम पर मुझे सबसे मौजूं बात यह लगती है कि तर्कसंगत सोच और विधियां बहुत महत्वपूर्ण और अनिवार्य पड़ाव थे, खासकर तब जब पूरे माहौल में तर्कहीनता का बोलबाला था। ये बहुत महत्वपूर्ण बात थी। इस सोच और विधि की बदौलत ही ज्ञान का इतना विशाल भण्डार इकट्ठा हुआ। किन्तु चिन्ता की बात यह है कि आज विज्ञान में एक किस्म का रूढ़िवाद और एकपक्षीय रवैया हावी हो रहा है। भाग्यवाद (नियतिवाद) और इसके विभिन्न लक्षण रोज़मर्रा के जीवन में हम सभी अनुभव करते हैं। इसे तोड़ना, इसमें सेंध लगाना, कितना मुश्किल है। इसकी जगह यदि हम एक तार्किक, सटीक, निश्चयवादी, मानव-केन्द्रित, नज़रिया रख दें जो उतना ही कट्टर और दृढ़ हो, तो कुछ ज्यादा हासिल नहीं होगा। एक पक्षीय होने के कारण यह नज़रियां एक दिशा में ज्ञान-विज्ञान के बुनियादी सिद्धान्त के विपरीत नहीं है कि नए तथा भिन्न विचारों के प्रति एक खुलापन होना चाहिए? इस तरह से देखें तो लगता है कि जीवन और ज्ञान के प्रति एक समग्र नज़रिया विकसित कर पाने में वैज्ञानिक क्रान्ति की सीमाएं रही हैं।
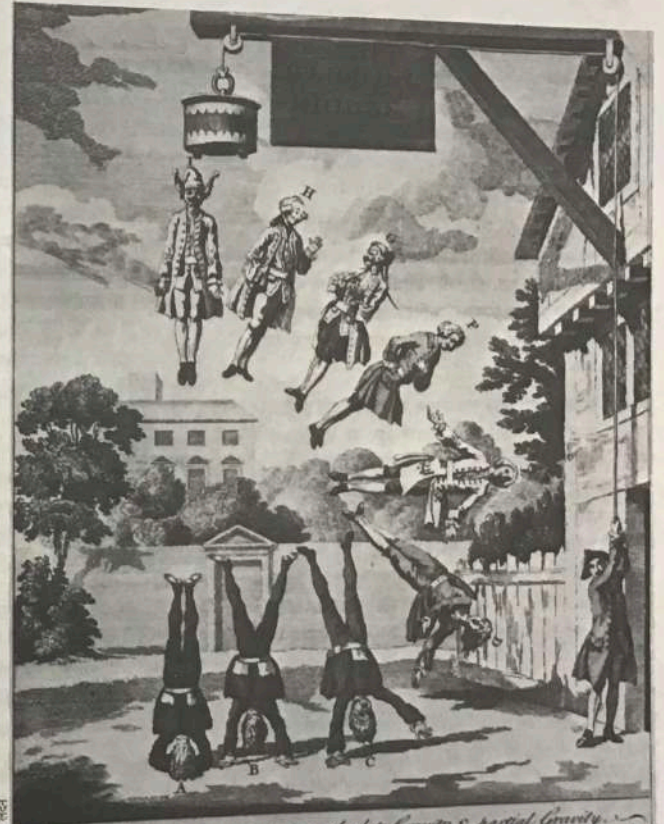
ब्रिटिश म्यूज़ियम, लंदन

न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत की व्याख्या पर व्यंग्य करता एक समकालीन कार्टून

श ह ना ज़

‘व्यक्ति’ की बदलती छवि

जब हम विज्ञान की बात उठाते हैं तो एक महत्वपूर्ण बात सामने आती है कि किसी भी खोज, अविष्कार, सिद्धान्त के साथ एक व्यक्ति का नाम जुड़ा होता है।

हम कहानी पढ़ते हैं कि न्यूटन ने पेड़ पर से सेब को गिरते देखा और गुरूत्वाकर्षण का नियम खोजा। पेड़ से फल गिरने जैसा अवलोकन तो रोज़मर्रा की मामूली बात रही होगी किन्तु सिर्फ न्यूटन के साथ जुड़े गुरूत्वाकर्षण और गति के नियम। यह विज्ञान का एक महत्वपूर्ण मोड़ था— एक नियम के तरह प्रकृति की पहचान। और इससे एक व्यक्ति का नाम जुड़ा है।

वैसे देखें तो व्यक्ति का महत्व एक समाज की दृष्टि से रहा ही है। यह इंसान के सामाजिक जीव होने से ही जुड़ा है और कई सारे विद्वानों ने इस पर अध्ययन भी किए हैं। पर वह थोड़ा अलग-सा विषय है। परन्तु विज्ञान में व्यक्ति का पदार्पण एक खास मुकाम लगता है। जैसे, जब हम पाषाण युग की कला, संस्कृति, विज्ञान की बात करते हैं, तब किसी व्यक्ति से उनका संबंध नहीं जुड़ता और न ही हम इस तरह का संबंध देखने को उतावले होते हैं। वह तो हम मानते हैं कि एक पूरे समाज का, एक पूरे युग का योगदान है। परन्तु जैसे-जैसे हम लिखित इतिहास की ओर बढ़ते हैं तो हमारा नज़रिया बदलता है। आखिर क्यों?

हम सबने कुछ विचार इस पर किया। यह शुद्धतः हमारा अनुमान ही कहा जाएगा। पहली बात तो हमें लगी कि इसमें मौखिक परम्परा और लिखित परम्परा के बीच के अन्तर का कुछ हाथ ज़रूर है। लिखित परम्परा के कारण ज्ञान और जानकारी तक सबकी पहुंच बनी, उसका प्रजातांत्रीकरण हुआ लेकिन साथ ही साथ लिखित रचना पर रचनाकार का ठप्पा भी लगा। पहले तो इन रचनाकारों को एक समूह के प्रतिनिधि के रूप में पहचाना जाने लगा। पर धीरे-धीरे कहीं यह प्रतिनिधि मानने वाली बात रह गई और व्यक्ति ही बच गए। दूसरी बात दिमाग में यह आती है कि एक तरफ तो खेती में, कारीगरी में, भोजन पकाने में, याने जीवन के रोज़मर्रा से जुड़े क्षेत्रों में तरह-तरह के नवाचार हो रहे थे, नई-नई विधियां खोजी जा रही थीं, नए-नए औज़ार बन रहे थे। यह ‘विज्ञान’ तो समाज में सामूहिक रूप से विकसित भी होता था और इस्तेमाल भी होता था। लेकिन दूसरी तरफ कुछ लोग ऐसे प्रश्नों पर विचार भी करने लगे, जिनका जीवन के क्रियाकलापों से सीधा जुड़ाव नहीं था। इसकी वजह से दो बातें हुई होंगी। एक तो यह कि ऐसे विषय पर शोध करने के लिए किसी एक व्यक्ति या व्यक्तियों के एक सुपरिभाषित समूह को लंबे समय तक प्रयास करना होता है। इस कारण से ये प्रयास उस व्यक्ति या व्यक्तियों के उस समूह के नाम से जाने गए। दूसरी बात यह है कि ऐसे प्रयासों के लिए फुरसत की ज़रूरत होती है। यह फुरसत तभी मिल सकती है जब इस प्रयास को किसी तरह का आश्रय मिले— चाहे राजा का या किसी अमीर सामंत का। तो जब पूरा प्रयास इस आश्रय पर निर्भर हो गया, तो व्यक्तियों का निजि तौर पर जुड़ना स्वाभाविक और अनिवार्य हो गया होगा।

इसके बाद जैसे-जैसे समाज में कामकाज का विभाजन होता गया, हर काम एक पेशे के रूप में उभरा, तो व्यक्तियों का विशिष्ट पेशों में लग जाना स्वाभाविक था। साथ ही साथ यह भी होता गया कि व्यक्ति की आज की उपलब्धि उसके आने वाला कल का आधार बनी। तो अपनी हर उपलब्धि को नामजद करना ज़रूरी बन गया होगा।

और आधुनिक समाज में तो व्यक्ति की पहचान के संकट ने स्थिति को और भी जटिल बना दिया है। जैसे-जैसे व्यक्ति एक गिनती में तबदील होता जाता है, वैसे-वैसे अपने-आपको सबसे अलग करने की होड़ भी बढ़ती जाती है। इसमें कुछ लोग उभर आते हैं दूध में मलाई की तरह, नाम कमाते हैं और बाकी रह जाते हैं एक भीड़ की शक्ल में।

KAISERLICHES PATENTAMT.

AUSGEGEBEN DEN 2. NOVEMBER

PATENTSCHRIFT

— № 37435 —

KLASSE 46: LUFT- UND GASKRAFTMASCHINEN.

BENZ & CO. in MANNHEIM.

Fahrzeug mit Gasmotorenbetrieb.

Patentirt im Deutschen Reiche vom 29. Januar 1886 ab.

डेमलर- बेंज़ म्यूज़ियम, स्टुटगार्ट
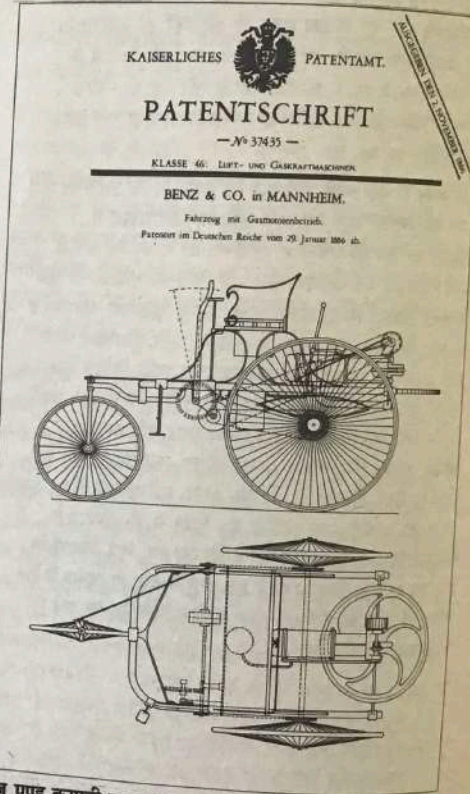
बेंज़ एण्ड कम्पनी का 1886 का पेटेंट दस्तावेज़

उपनिवेशवाद और औद्योगिक क्रांति

1800 से 1900 तक

1757 की प्लासी की लड़ाई ने आने वाले दौर का पूर्वाभास दे दिया था। धीरे-धीरे अंग्रेज़ इस उपमहाद्वीप में सर्वोच्च औपनिवेशिक ताकत के रूप में उभरने जा रहे थे।

किस तरह से ब्रिटिश माल से भारतीय बाज़ार को पाट दिए जाने के कारण यहां के दस्तकार और दस्तकारी के केन्द्रों की दुर्दशा हुई, एक उदाहरण हमें बंगाल के मुर्शिदाबाद में दिखाई देता है। तेलंगाना का फलता-फूलता स्टील उद्योग भी इससे अछूता न रहा। भारतीय वूट्ज़ और स्टील के डले (इंगट्स) जिन्हें गलती से दमिश्क का स्टील कहा जाता है— अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में विख्यात थे। हम हैदराबाद के सलारजंग म्यूज़ियम में इस स्टील की बनी तलवारें देखते हैं। एक विशेषज्ञ, क्रुसिबल के अवशेषों के विश्लेषण के आधार पर हमें इसके उत्पादन की प्रक्रिया समझाती हैं।

कलकत्ता के बिरला औद्योगिक व टेक्नॉलॉजी म्यूज़ियम की पृष्ठभूमि में एक दृश्य के माध्यम से हम ब्रिटेन की औद्योगिक क्रांति का जायज़ा लेते हैं। अब एक आदमी इतना उत्पादन कर सकता था, जो पहले कई आदमी मिलकर भी उतने समय में न कर पाते। इसके व्यापक सामाजिक व आर्थिक परिणामों की चर्चा की जाती है।

भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने यहां के प्राकृतिक संसाधनों का विस्तृत सर्वे करवाया। इसके निष्कर्षों के आधार पर यहां कच्चा माल तैयार करने के उद्योगों का विकास हुआ। साथ ही कुछ ऐसी फसलों को बढ़ावा दिया गया जो ब्रिटिश उद्योगों में इस्तेमाल हो सकती थीं।

1857 के संग्राम को गीत के रूप में दिखाया जाता है। हम लखनऊ रेसीडेन्सी पहुंचते हैं। यहां हम समझ पाते हैं कि 1857 के विद्रोह का पूरा दारोमदार पुराने नेताओं और बासी विचारों पर था। इसी बीच पश्चिमी दुनिया से संपर्क के फलस्वरूप एक नई जागरूकता भी आ रही थी। राजा राममोहन रॉय जैसे समाज सुधारकों और शिक्षाविदों के योगदान की चर्चा की जाती है।

भारत पर अंग्रेज़ों का राज पुख्ता करने में रेलों की खास भूमिका रही है। दिल्ली के रेल यातायात म्यूज़ियम में हमारे रिपोर्टर इस विकास को फिर से जिलाते हैं।

इसी दौर में उच्च शिक्षा संस्थाओं की मांग ने ज़ोर पकड़ा। अन्तत: महेन्द्रनाथ सरकार इण्डियन एसोसिएशन फॉर कल्टिवेशन ऑफ साइन्स की स्थापना करने में सफल हुए। आगे चलकर यहां भारतीय वैज्ञानिकों की नई पीढ़ी तैयार होने वाली थी।
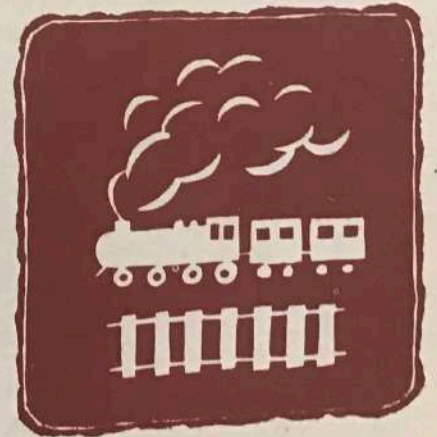
प्राकृतिक संसाधन : तब और अब

सन् 1947 में अंग्रेज़ तो यहां से चले गए लेकिन उनके राज के जो परिणाम थे, वे तो अंग्रेज़ चाहकर भी वापिस अपने साथ नहीं ले जा सकते थे। उनके आने से परिस्थितियों ने जो मोड़ लिया उससे कुछ ढर्रे बनते गए। प्रकृति के साथ रिश्ता भी बदलता गया। और उनके जाने के बाद भी यह सब कुछ हमारे साथ रहा और आज भी है। इसमें शायद सबसे ज्यादा गहरा असर पड़ा था हमारे प्राकृतिक संसाधनों पर और इन संसाधनों से हमारे रिश्ते पर। हम भी अपने आपको आधुनिक विज्ञान के प्रकृति की ओर देखने के नज़रिये में ढाल चुके थे। इस असर के उभरने की अवधि उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्ध था। इसी काल में यह असर बड़े पैमाने पर फैला और इससे जो दिशा बनी वह सन् 1947 तक बरकरार रही और यह असर धीरे-धीरे और फैलता गया। इसका सिलसिला दरअसल 18 वीं सदी के अन्त से ही शुरू हो जाता है, जब औद्योगिक क्रांति पूरा ज़ोर पकड़ चुकी थी और पूरी दुनिया पर प्रभाव डालने की स्थिति में आ चुकी थी। हमारे यहां इसका मतलब रहा कि बड़े पैमाने पर कारीगर तहस-नहस हुए और आगे भी होते रहे। मजबूरन वे खेती पर लौटे और खेती पर ही निर्भर होते गए। इसका एक आर्थिक नतीजा हम आपको फ़िल्म में भी सुना चुके हैं। यहां हम थोड़ी गहराई से देखेंगे कि प्राकृतिक संसाधनों के संदर्भ में इसका क्या अर्थ रहा।

कल्पना कीजिए कि बरसों से शहर में रहने वाले कारीगरों के परिवार अपने-अपने गांव में लौट आते हैं। वहां लगान-वगान के बोझ से दबे उनके भाई-बंद तो ज़मीन जोतकर किसी तरह गुज़ारा चला रहे हैं। अब इन नए लोगों को इसमें कैसे समाया जाए। इसके दो तरह के उपाय थे। एक तो था कि इन्हें भाई-बंदों की ज़मीन में ही शामिल कर लिया जाए हालांकि ऐसा करने पर उनके जोत की साइज़ छोटी-छोटी हो जाती। या फिर ज़मींदारों से कुछ ज़मीन बटाई पर भी ली जा सकती थी। परन्तु सरकारी लगान की बढ़ी हुई दर, खेती के बाज़ार से जुड़ जाने की वजह से पैदा हुई विपत्तियां और कर्ज़, इन तीनों की मिली-जुली पृष्ठभूमि में देखें, तो साफ हो जाता है कि समस्या का जो भी समाधान निकले परन्तु जीवन स्तर में गिरावट होना अनिवार्य था।

इसे कुछ हद तक ऊपर उठाने का एक ही उपाय था कि जो शेष ज़मीन बची हुई थी, खाली पड़ी थी उसे भी खेती में काम लाया जाए। उसमें खड़े झाड़झंखाड़ को साफ करके उसमें बीज बोया जाए। आखिर इसमें से कुछ-न-कुछ अनाज तो निकल ही आता। और बड़े पैमाने पर यही हुआ भी। और यह जब भी होता, तो सरकारी दस्तावेज़, खासकर कलेक्टरों के रिकार्ड झूम उठते, संतुष्ट हो जाते। उनकी दृष्टि से पड़ती ज़मीन के खेती में शामिल होने का मतलब था, एक बेकार पड़े संसाधन का उपयोग होना, आर्थिक तंत्र में जुड़ना और बेशक लगान में वृद्धि।

लेकिन आज जब हम इसी प्रक्रिया को विज्ञान की नज़र से देखते हैं, तो इसका कुछ और अर्थ समझ में आता है। एक तो आज यह माना जाने लगा है कि किसी भी प्राकृतिक लघु-क्षेत्र में लगभग एक-तिहाई हिस्से पर बारहों महीने वृक्षों का आवरण या ज्यादा सही कहा जाए, तो पर्णाच्छादन होना चाहिए। हमारे यहां की मानसूनी आबोहवा के संदर्भ में यह बात बहुत महत्वपूर्ण बन जाती है। गर्मियों में जब सब शुष्क हो जाता है, तब यही पर्णाच्छादन एक-तिहाई ज़मीन में कुछ नमी को रोके रखता है, मिट्टी की हिफाज़त करता है और उस पर निर्भर जैविक प्रक्रिया से उत्पन्न जैवापदार्थ को बनाए रखता है। चूंकि ऐसी ज़मीन प्रायः खेती की ज़मीन से थोड़ी ऊंचाई पर होती है, इसलिए बारिश में ये सारे पोषक तत्व बहकर खेतों में आ जाते हैं और उसकी उत्पादकता का आधार बनते हैं। दूसरी बात यह है कि प्रायः इस ज़मीन में मिट्टी (याने मृदा) की गहराई कम होती है और उथली जड़ों वाली मौसमी फ़सल के मुकाबले यह गहरी जड़ों वाली बारहमासी वनस्पतियों के लिए ज्यादा उपयुक्त होती है। ऐसी ज़मीन पर से जब बारहमासी वनस्पतियां हटाकर खेती की जाती है, तो गर्मियों में यह मिट्टी सूख जाती है और अंधड़ चलने पर और भी कम बच जाती है। सो इसकी उत्पादकता कम होती जाती है।

किसानों ने यह ज़मीन खुशी से नहीं, मजबूरन जोती-बोई थी। आज भी चर्चा के दौरान वे स्वीकार करते हैं कि फ़सल लगाना इसका सही उपयोग नहीं है परन्तु जब पेट भरने का सवाल पैदा हो गया, मरते

JOURNEY FROM MADRAS

MYSORE, CANARA, AND MALABAR,

THE MOST NOBLE THE MARQUIS WELLESLEY,

THE RAJAH OF MYSORE,

THE HONOURABLE EAST INDIA COMPANY.

BY FRANCIS BUCHANAN, M.D.

IN THREE VOLUMES.

VOL. III.

LONDON:

कनेमारा पब्लिक लाइब्रेरी, मद्रास
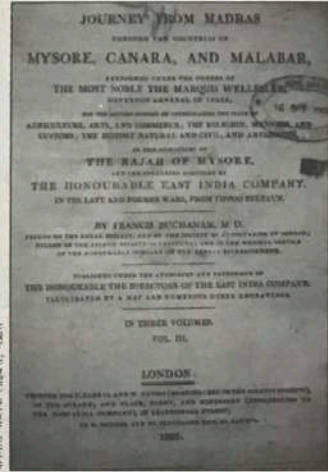
टिप्पु सुल्तान की पराजय के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी नें फ्रांसिस ब्युकॅनन को यह दायित्व सौंपा कि वह मैसूर की प्राकृतिक संसाधन और आर्थिक परिस्थिति का ब्यौरा तैयार करे। इसी 1807 के ब्यौरे का मुख-पृष्ठ और एक चित्र, ऊपर और नीचे दर्शाया गया है
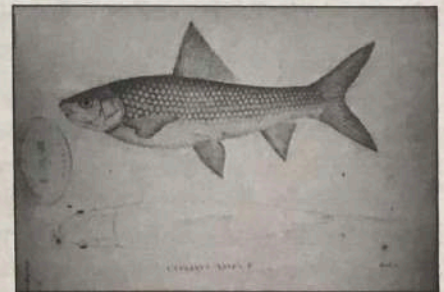
ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा तैयार सूती वस्त्र की एक रिपोर्ट पर कपास के पौधे का चित्र।

क्या न करते। इसका नतीजा यह हुआ कि मध्य युगीन दौर की तुलना में बीसवीं सदी के शुरू में औसत उपज कम हो गई। हमारे सबसे अहम संसाधन खेती में ये परिवर्तन ब्रिटिश ज़माने में हुए। 'काबिलकाश्त' खेती में लगभग एक-तिहाई या उससे भी ज़्यादा हिस्सा सही अर्थों में काबिलकाश्त नहीं बल्कि मौसमी फ़सलों की दृष्टि से ऊसर है।

ऐसी ही बात जंगलों के मामले में भी घटी। इसके भी गंभीर परिणाम हुए। अंग्रेज़ों की नज़र में जंगल, किसी भी दूसरे आर्थिक संसाधन की तरह ही संसाधन थे। अर्थात् जंगलों से सीधा आर्थिक लाभ उठाना ज़रूरी था। जंगल की लकड़ी बड़े पैमाने पर काटी गई शायद सबसे ज़्यादा रेलों के लिए। और वह भी सागौन जैसी लकड़ी, जिसे तैयार होने में 20 से 50 साल की अवधि लगती है। आज इसके बहुत सारे सबूत जमा हो चुके हैं। हम उनका विस्तृत ब्यौरा देने का मोह यहां टाल रहे हैं। दूसरी तरफ़ 1870 के दशक तक अंग्रेज़ों ने जंगल को अपने नियंत्रण में ले लिया। उन्होंने वैज्ञानिक वानिकी के भी कुछ प्रयोग किए जो काफी हद तक असफल रहे। वे इस संसाधन की हिफ़ाज़त का इरादा रखते थे और इसीलिए वनोपज के उपयोग पर कड़े प्रतिबन्ध लगाए गए। यह भी उसी वैज्ञानिक नीति का हिस्सा है और लगता भी वैज्ञानिक है, नहीं?

अलबत्ता इसमें विज्ञान की दृष्टि से भी कई खामियां हैं— जैसे कि अंग्रेज़ों की वानिकी की समझ विस्तृत शीतोष्ण जंगलों से जुड़ी हुई थी और हमारे यहां के विविधता से भरपूर जंगलों पर सीधे लागू नहीं की जा सकती थी। यह भी होता था कि उनका प्रशासनिक अंग, वैज्ञानिक अंग को मोड़ देता था। और इससे भी गंभीर एक खामी थी। विज्ञान जब नीति का आधार बनता है तो इसमें समाज को लेकर कई मान्यताएं भी होती हैं। इस वन नीति के पीछे सामाजिक मान्यता यह थी कि वन अंग्रेज़ी राज की संपत्ति थी। परन्तु सही मायने में वह वहां बसने वाले आदिवासियों के जीवन का आधार था। अंग्रेज़ों की इस नीति ने ये संसाधन उनसे छीनकर अपने बना लिए। इसके चलते आदिवासियों को या तो बड़े पैमाने पर खेती में उतरना पड़ा या फिर रोज़गार की तलाश में निकलना पड़ा। रोज़गार तो कई बार अर्ध-गुलामी का ही दूसरा नाम होता था। आज भी शायद हम जंगलों के बारे में इसी तरह से सोचते हैं— सामाजिक पहलू समझे बगैर, एक संकीर्ण वैज्ञानिक नज़रिये से। इस सबके परिणाम तो 1858 में ही दिखने लगे थे, जब कंपनी राज, एकछत्र साम्राज्यवादी शासन में तबदील हुआ।

किसानों और आदिवासियों की तंगहाली में और भी बहुत कुछ शामिल था। ब्रिटिश राज के साथ सबसे पहले आया पैसा और साहूकारों-ज़मींदारों के हाथ आए अधिकार। इनका बोझ भी किसानों-आदिवासियों के कंधे पर ही पड़ना था। बीसवीं सदी की शुरुआत तक हम देखते हैं किसानों-आदिवासियों के निरन्तर विद्रोह, और बिगड़ती हुई परिस्थिति, अकाल और महामारियों का बढ़ता सिलसिला। उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशक में यह सब कुछ अपनी चरम सीमा पर था। किसानों का कुछ स्पष्ट, कुछ अस्पष्ट संगठन, और इनके विद्रोह के डर से अंग्रेज़ों द्वारा बनाए गए कुछ ऐहतियाती कानूनों से स्थिति कुछ तो काबू में आई पर उसकी दिशा नहीं बदली।

आज भी हमारे ये दो महत्वपूर्ण संसाधन— खेती और जंगल उस वक्त की क्षति से उबर नहीं पाए हैं। आज भी काबिलकाश्त का बड़ा हिस्सा उसी तरह ऊसर है, जंगल उसी तरह से कट रहा है। और उसी तरह के समाधान भी पेश किए जा रहे हैं, जो सिर्फ़ ऊपरी स्तर पर वैज्ञानिक दिखते हैं। पेड़ लगाने को प्रोत्साहन देने के लिए सामाजिक वानिकी और जंगल पर कड़े से कड़े प्रतिबंध। किसानों को पेड़ों का महत्व समझाने की ज़रूरत नहीं है, न ही आदिवासियों को जंगल की। उनकी मजबूरी के कारणों को दूर किए बगैर क्या यह तथाकथित वैज्ञानिक नीति सचमुच कुछ बदल सकेगी?

आटे की चक्की और समुंदरी जहाज़

कोई बड़ी या ऐतिहासिक घटना हो तो उसके पीछे कई सिलसिले होते हैं, जो उस घटना की पृष्ठभूमि का अंग होते हैं। औद्योगिक क्रांति भी एक ऐसी घटना है। उससे जुड़ा हुआ घटना क्रम दूर तक अतीत में भी पहुंचता है। आजकल स्कूली स्तर पर भी इसके बारे में बहुत कुछ सिखाया जाता है। फिर भी इससे जुड़े हुए घटनाक्रम हमारे सामने स्पष्ट नहीं होते। वैसे तो सारे ही महत्वपूर्ण हैं परन्तु मैं यहां उनकी चर्चा कर रहा हूं जो मुझे दिलचस्प लगते हैं।

यह बात तो हम फ़िल्म में भी कह चुके हैं कि यूरोप में पुर्ज़े और यंत्र बहुत जल्दी इज़ाद कर लिए गए थे। इसके पीछे दो-तीन प्रकार की घटनाओं का सिलसिला हमें देखने को मिलता है। एक सिलसिले का ताल्लुक है आटे से और दूसरे का समुंदर से। अर्थात् एक है आम जनता की रोज़मर्रा ज़रूरत से जुड़ा हुआ और दूसरा है असाधारण रूप से साहसी खोजियों से।

आटे का किस्सा यह है कि यूरोप में, खासकर पश्चिम यूरोप और ब्रिटेन में, आटा घर-घर नहीं पिसता था। वह पिसता था अक्सर ज़मींदार या सामंतों की चक्कियों में। और वह भी सेर-दो सेर नहीं, बोरियों के नाप से पिसता था। ये चक्कियां या तो पानी से चलती थीं या घोड़ों से। लगता है कि वहां आटा सहेजकर रखा जाता था, गेहूं नहीं। क्यों? इसका उत्तर तो मेरे पास नहीं है पर शायद जिस कदर गर्मी और उमस हमारे यहां होती है, वैसी शायद वहां न होती हो। हमारे यहां तो आटा भरकर रखना मुश्किल था। खैर जो भी हो ये चक्कियां तो प्राचीन काल के बाद तब से चली आ रही हैं, जब से सामंतो को अधिकार प्राप्त हुए। ये चक्कियां यंत्र की बढ़िया मिसाल थीं। फिर इनकी देखभाल करने वाले 'चक्कीसाज़ों' का एक तबका यहां बना। इन्हें चक्की की कार्यविधि के बारे में पहले से कुछ ज्ञान था, अनुभव था। यह तबका अन्ततः औद्योगिक क्रांति में काफी महत्वपूर्ण बना।

अब आटे से दूर, समुंदर की बात। अरब में और पश्चिम एशिया में चल रही उथल-पुथल के चलते समुंदर की बात महत्वपूर्ण बन गई थी। इस उथल-पुथल के कारण भारतीय उपमहाद्वीप और चीन की तरफ़ जाने वाले ज़मीनी रास्ते बन्द हो गए थे। सो, पूरब की तरफ समुद्री रास्ता खोजने की कोशिश यूरोप में शुरू हो गई। ये बातें तो आपने स्कूल में पढ़ी ही होंगी। लेकिन इनका असर किन-किन क्षेत्रों में किस गहराई से हुआ, यह शायद आप नहीं जानते होंगे।

समुद्री रास्ता खोजने की इस कोशिश में समुद्र पर सफर करने की पद्धति भी बदल गई थी। पहले समुद्र के सफर में जहाज़ किनारे से बहुत दूर नहीं जाता था। किनारा पास होने के कारण स्थान पता करना आसान होता था। दूसरे शब्दों में स्थान पता करने के लिए किनारा एक संदर्भ रूप मे मौजूद रहता था। परन्तु जब महासागर पार करने की कोशिशें हुई तो महीनों तक किनारे के दर्शन न होते थे। स्थान निर्धारण के लिए कोई संदर्भ नहीं रहा। तब स्थान निर्धारण सिर्फ़ तारों

को देखकर ही हो सकता था। इसके कारण जिस ढंग का बढ़ावा खगोलशास्त्र और खगोलशास्त्रीय अवलोकन को मिला, वह बिलकुल अलग किस्म का था।

इसी अवलोकन में एक चीज़ कार्यविधि या प्रक्रिया से संबंध रखती है। उसका और भी ज्यादा महत्व था। इस अवलोकन में सिर्फ तारों का अवलोकन पर्याप्त नहीं था। समय का बारीक निर्धारण भी ज़रूरी था। तब तक समय मापन के लिए दोलक आधारित घड़ियां बनती थीं। परन्तु हिचकोले खाते जहाज़ में दोलक कहां से काम आता। इसी को लेकर उन दिनों घड़ीसाज़ों की प्रतियोगिताएं भी आयोजित की गई थीं। इन्हीं के चलते क्लॉकवर्क का अविष्कार हुआ। तालमेल की दृष्टि से क्लॉकवर्क की बारीकी मशीनों में कितना महत्व रखती है, यह कोई बताने की बात नहीं है।

जब मैंने आपसे खगोलशास्त्र की बात की थी, तो उसमें आए ठहराव को सामाजिक उद्देश्य से जोड़ा था। हमारा खगोलशास्त्र मुहूर्तदर्शन से ऊपर नहीं उठ पाया। महासागर पार करने की ललक हमने कभी दिखाई नहीं। और दिखाते भी क्यों? हमें क्या गरज थी महासागर पार करने की? गरज तो थी यूरोप की कि वे रास्ता खोजें। पिछड़े तो वे थे, हम नहीं। हमारे आज के पिछड़ेपन में हमारा उस काल में अगुआ होना भी ज़िम्मेदार है। हमारे यहां मशीनें नहीं बनीं तो यह दोष हमारे कारीगरों का कम, और सामाजिक ढांचे का ज्यादा है।

साइंस म्यूज़ियम, लंदन
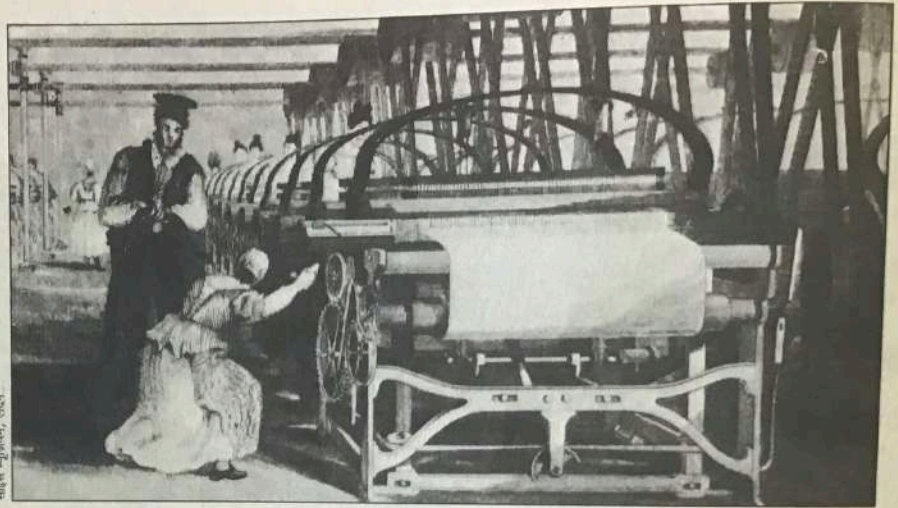
1786 के बाद कार्टराइट करघे (ऊपर) के प्रचलन से बुनकरों की कुशलता यंत्रवत हो गई। उसके उपरांत कपड़े की बुनाई एक कुशल कारीगर के हाथों से फिसल गई और मशीनों नें हज़ारों बुनकरों को बेरोज़गार कर दिया। फलस्वरूप ब्रिटेन मे मिलों के नगर (नीचे) बस गये, जहाँ हज़ारों मीटर सस्ता कपड़ा निर्माण होने लगा

यू. लॉगमेन असोसिएशन, यू. के.

टाइम्स ऑफ इंडिया, बम्बई

भारतीय कपास मंडियों में ब्रिटिश व्यापारी दिखाई देने लगे (ऊपर)। इसी समय ब्रिटिश कर-नीतियों ने भारतीय कुशल बुनकरों का बाज़ार बंद कर दिया (नीचे, दाईं ओर)। परिणाम-स्वरूप वे दरिद्र होते गएं। उन्हे दूसरे काम-धंधे खोजने पर मजबूर होना पड़ा और भारतीय समाज कई प्रकार की कारिगरियों से वंचित हो गया। 19 वीं सदी तक भारतीय पत्र-पत्रिकाओं में ब्रिटिश टेक्सटाइल मशीनों के विज्ञापन दिखाई देने लगे (ऊपर, दाईं ओर)। इस समय तक यहाँ भी मिलों का निर्माण प्रारंभ हो गया था (नीचे, बाईं ओर)

इंडियन टेक्सटाइल जर्नल, बम्बई

विज्ञान किसका साधन बने ?

हम यह बात बार-बार देखते आए हैं कि विज्ञान की क्षमता और उसके सामाजिक उपयोग में अन्तर हो जाता है। अपने तईं विज्ञान की क्षमता क्या है यह एक बात है और सामाजिक रूप से उपयोग होने पर क्या बन जाएगा, यह दूसरी बात है। विज्ञानप्रेमियों को विज्ञान की क्षमता तो मालूम रहती ही है क्योंकि वही उनके प्रेम का आधार है। परन्तु अगर दूसरी बात को अनदेखा कर दें तो शायद वे खुद किसी और के हित साधन बन जाएंगे, किसी और ही मकसद के लिए।

जैसे औद्योगिक क्रांति के संदर्भ में मशीनों की बात को ही लें। मशीनें आईं तो थी इन्सान की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए पर क्या वास्तव में ऐसा ही हुआ? इसका उत्तर पाने के लिए हमें मशीनों के सामाजिक संदर्भ को देखना होगा।

मशीनों के पहले हाथ के औज़ारों का विकास हुआ था। उन्हीं के अलग-अलग रूप और आकारों को जोड़कर मशीनों के पुर्ज़े बने थे। यह काम दस्तकारों के हाथ से ही हुआ था। फिर श्रम का विभाजन हुआ। इससे भी हस्तकलाओं के श्रम की बचत होती है, यह तो ठीक है परन्तु क्या मशीनों को लागू करने का मकसद यही था? थोड़ा सा और गहराई में जाना होगा।

कारखाना-पद्धति से उत्पादन के पहले अकुशल (या हुनरहीन) मजदूर नाम की कोई चीज़ नहीं होती थी। अगर कोई व्यक्ति हुनर नहीं जानता था, तो वह किसी उस्ताद कारीगर का चेला बन जाता था। धीरे-धीरे वह हुनर सीखकर कुशल मज़दूर बन जाता। अकुशल मजदूर होना उसका पेशा नहीं होता था। जब कारखाना उत्पादन आया तो श्रम का विभाजन हुआ याने काम के टुकड़े किए गए। हर टुकड़े को एक स्वतंत्र पेशे का दर्जा मिला। अब दिन-रात एक स्थिति में बैठकर हथौड़ा ठोंकना, यह एक पेशा था। मैं इसे श्रम-विभाजन की बजाय श्रमिकों का विभाजन कहना ज्यादा उचित समझता हूं क्योंकि इसमें सिर्फ श्रम के अलग-अलग टुकड़ों को अलग-अलग लोग अंजाम देते हों, ऐसा नहीं है। इसमें तो श्रम करने वालों के, उनकी क्षमताओं के टुकड़े किए जाते हैं। हरेक पेशे बन जाते हैं और इनमें इन्सानों को अलग-अलग खांचों में बैठा दिया जाता है। बहरहाल, इस तरह के काम करने वाले अकुशल मज़दूर कहलाए और उनका वेतन कम हो गया।

लेकिन, इसी प्रक्रिया में कुशल या हुनरवान मज़दूरों का महत्व भी बढ़ा क्योंकि श्रम विभाजन के बाद भी काम के कुछ टुकड़े तो बच ही जाते हैं जिनमें हुनर की ज़रूरत होगी। बाकी के मजदूर अकुशल बन जाने के कारण कुशल मज़दूरों का महत्व और बढ़ गया। ये जो कुशल मज़दूर थे, वे नाते-रिश्ते, परिवार मुल्क आदि के ज़रिये अकुशल मज़दूरों से जुड़े हुए तो थे ही। सो, उन्होंने इस समूचे रवैये का विरोध करना शुरू किया। दूसरी तरफ, मशीनों के विस्तार से पहले के समय में, मालिकों के हिमायती कारीगरों को कोसते नज़र आते हैं। उनका खयाल यह था कि मशीनें कारीगरों के तथाकथित गर्व को चूर-चूर कर देंगी और इन्हें इनकी औकात समझा देंगी। साथ ही साथ मालिक भी इस निर्भरता से मुक्त हो जाएंगे। मशीनों में ये सारी क्षमताएं उन्हें नज़र आ रही थीं।

और जब मशीनें आईं तो उनसे किसी की मेहनत में कोई कमी नहीं आई बल्कि कहीं-कहीं तो मेहनत की तीव्रता बढ़ गई। मशीनों में क्षमता तो थी कि वह मज़दूर के श्रम की बचत कर सके परन्तु वास्तव में श्रम की बचत की बजाय, मशीनों ने मज़दूरों के हाथ से उनका बचा खुचा हुनर भी छीन लिया। यदि श्रम की बचत हुई भी तो वह

द कम्प्लीट डिक्शनरी ऑफ आर्ट्स एण्ड साइंसेस, लंदन, 1764-66
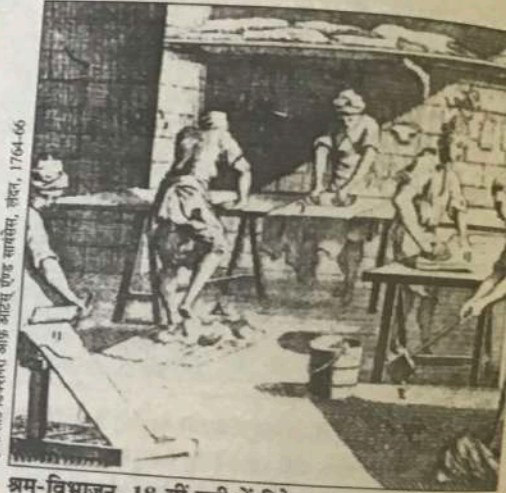
श्रम-विभाजन, 18 वीं सदी में ब्रिटेन का एक चर्मोद्योग

इस तरह से कि प्रति इकाई उत्पादन में कम श्रम लगने लगा परन्तु मज़दूर के कुल श्रम में इससे फ़र्क नहीं पड़ा। यह बचत मालिक के मुनाफ़े में जुड़ गई। ज्यादा से ज्यादा मज़दूर 'अकुशल' की श्रेणी में आने लगे। इस पूरी प्रक्रिया को बार-बार दोहराया गया है। इसकी ताज़ा मिसाल हमें कम्प्यूटरीकरण में देखने को मिलती है। तो, मशीनों की घोषित क्षमता और वास्तविक उपयोग के बीच ज़मीन-आसमान का अंतर रहा। यही फ़र्क दिमाग में रखना होगा, जब हम विज्ञान की क्षमताओं का आकलन करते हैं।

विज्ञान की कायापलट

रंजन ने वैज्ञानिक क्रान्ति पर जो नोट्स बनाए थे उन्हें पढ़कर और साथ में औद्योगिक क्रान्ति के बारे में सोचकर एक बात बहुत तल्खी से महसूस हुई कि इसी दौर में प्रकृति के साथ हमारे संबंध में कही बुनियादी बदलाव हुआ है। जो विज्ञान पनप रहा था, वह एक मशीनी युग को जन्म दे रहा था— मानव निर्मित मशीनें तो अपनी जगह थीं ही किन्तु उस विज्ञान ने एक मशीनी सोच को भी जन्म दिया। हर घटना को एक मशीनी नज़रिये से समझने का रवैया उसी विज्ञान की देन थी। इसके मूल में था विज्ञान का पूर्णतया निश्चयवादी रुझान।

इसी में प्रकृति को देखने का एक दृष्टिकोण भी पैदा हुआ। यह दृष्टिकोण इस मान्यता पर आधारित था कि यह समूचा संसार एक मशीन है और इसकी सारी गतियां, सारे क्रम पूर्वनिर्धारित हैं। इस मशीननुमा प्रकृति के सारे पुर्ज़े कुछ निश्चित नियमों के अधीन बने हैं व संचालित किए जाते हैं। मान्यता यह थी कि अगर हम इन नियमों को पहचान लें, तो प्रकृति के हर घटक की वर्तमान स्थिति के आधार पर भावी स्थिति के बारे में निश्चित तौर पर बता सकेंगे। नियम तो सनातन हैं, उन्हें नहीं बदला जा सकता। किन्तु आज की मौजूदा स्थिति को इंसानी हस्तक्षेप से बदला जा सकता है। इस तरह से हम प्रकृति में अपनी ज़रूरत के मुताबिक फेरबदल कर सकते हैं।

इससे पूर्व के वैज्ञानिक प्रयासों की मान्यता यह रही थी कि प्रकृति अपनी मर्ज़ी से चलती है और इसका पूर्वानुमान असंभव है। यह भी माना जाता था कि प्रकृति का संचालन कुछ ऐसी शक्तियां करती हैं जो मानव नियंत्रण से परे हैं। अत: प्रकृति के प्रति एक तरह के आदर और सम्मान का भाव था (शायद इसके मूल में कही एक भय का अहसास भी रहा होगा)। प्रकृति के व्यवहार को समझने की कोशिशें इस लिहाज़ से की गईं थी कि इसमें होने वाले अचानक परिवर्तनों से जूझने में सहूलियत हो। सारी कोशिशों का मकसद यह था कि प्रकृति के इरादतन बर्ताव के साथ तालमेल बैठाया जा सके।

विज्ञान के नए नज़रिये ने इस को एकदम उलट-पलट कर दिया। अब प्रकृति एक ऐसी चीज़ हो गई, जिसमें फेरबदल किया जा सकता था। चाहे वह किसी इलाके की वनस्पति हो, मिट्टी, पानी या जलवायु हो या फिर कृत्रिम पदार्थों का निर्माण हो या प्राकृतिक पदार्थों में फेरबदल हो, या सजीवों पर वर्चस्व हो या प्रजनन पर नियंत्रण की बात हो— हर चीज़ का अवलोकन, हर चीज़ में फेरबदल विज्ञान के दायरे में आ गया। यह विज्ञान घटकवादी हो चुका था। अर्थात् हर चीज़ को हिस्सों में बांटकर देखना और नियंत्रित करना तथा इसके ज़रिये समूचे पर नियंत्रण स्थापित करने की लालसा। प्रकृति पर हावी होने का यह नज़रिया ही इस विज्ञान का सबसे चिन्ताजनक पहलू था।

विज्ञान की मुख्य धारा के नाम से जो कुछ भी चुना गया, विकसित हुआ और मंज़ूर हुआ, यही आक्रमक वर्चस्व का रवैया था। आगे चलकर विज्ञान का मकसद यही प्रचारित किया गया कि न सिर्फ प्रकृति को जानना-समझना बल्कि उसपर पूरा नियंत्रण, कब्ज़ा स्थापित करना।

यह विचार ईश्वर और विश्व के प्रति धार्मिक (खासकर इसाई) सोच के लिए एक चुनौती बनकर सामने आया। इस नए विचार ने एक सर्जनहार के अस्तित्व को नकारा नहीं था जिसने पहले पहल यह पूरी मशीन बनाई थी और इसके नियम तय किए थे। परमात्मा के हस्तक्षेप की बात भी कुछ हद तक ज़ारी रही। सर्जनहार द्वारा निर्मित अपरिवर्तनीय रचना के विचार को असली चुनौती जैविक विकास के सिद्धान्त ने दी। इसके तहत पृथ्वी पर जीवन के स्थिर श्रेणीबद्ध चित्र को ललकारा गया। इस सिद्धान्त में पृथ्वी पर जीवन का एक गतिशील चित्र प्रस्तुत किया गया जिसमें प्रजातियां विकसित होती हैं, बदलती हैं, लुप्त हो जाती हैं, आदि। और यह सब कुछ पर्यावरण में उनकी भूमिका और उनकी ज़रूरतों के मुताबिक होता है।

एक तरह से देखें, तो जैविक विकास का सिद्धान्त प्रचलित धार्मिक आस्थाओं के लिए ज़्यादा बुनियादी चुनौती के रूप में सामने आया। किन्तु फिर भी इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों को उतने भयानक परिणाम नहीं भुगतने पड़े। वास्तव में तब तक विश्व का एक यांत्रिक नज़रिया काफी हद तक अपना लिया गया था। इस वजह से ज़्यादा बुनियादी विचारों व मतों की अभिव्यक्ति के रास्ते खुल गए थे।

विडम्बना यह है कि वही यांत्रिक विश्व दर्शन आज खुद एक रुकावट बन गया है। आज ऐसे कई वैज्ञानिक संकेत मिल रहे हैं जो बताते हैं कि प्रकृति पर असीमित नियंत्रण का मार्ग संकट का रास्ता है। किन्तु यांत्रिक विश्वदर्शन में जकड़ी हमारी मानसिकता इन संकेतों को अनदेखा अनसुना कर रही है। कैसा दुर्भाग्य है कि जिस प्रवाह ने बदलाव के लिए एक खुला माहौल तैयार किया था, आज वही प्रवाह जड़ होकर, बदलाव, नए विचारों और खुलेपन के मार्ग का रोड़ा बन गया है।

नि रसी म
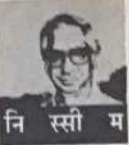
आधुनिकता के विरोधाभास

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के भारत को देखता हूं तो एक रोमांच का अनुभव होता है और थोड़ी दुविधा भी। उस ज़माने को मैं आज के सन्दर्भ में देखता हूं, तो लगने लगता है कि हमारी वर्तमान उलझनों के बीज उस समय बोए गए थे। आज जनविज्ञान, पर्यावरण, स्वास्थ्य, मशीनीकरण, बेरोज़गारी, स्त्रियों के सवाल, कम्प्यूटरीकरण, आदि कई मुद्दों को लेकर आन्दोलन-अभियान हमारे आसपास चल रहे हैं। इनमें से कई आंदोलन तो आधुनिक विज्ञान तथा टेक्नॉलॉजी के विरोध में भी खड़े हैं।

मुझे लगता है कि इन सारे आंदोलनों के बीज उसी ज़माने में बो दिए गए थे। आधुनिकता के विरोधाभासों को मैं इसी नज़रिये से देखना चाहूंगा। आज के ये आंदोलन इसी विरोधाभास का एक स्वरूप हैं।

मसलन औद्योगीकरण को ही लें। अंग्रेज़ों का रवैया यह था कि यहां से कच्चा माल ले जाकर ब्रिटेन के कारखानों में वस्तुओं का उत्पादन करना और उन्हें वापिस यहां लाकर बेचना। कारखाने में बनी वस्तुओं के साथ प्रतिस्पर्धा में यहां के कारीगर, घरेलू व कुटीर उद्योग टिक नहीं सके। लोग बेरोज़गार होने लगे। इसी दौरान एक मांग उठी कि यहां भी कारखाने बनना चाहिए ताकि यहां के कच्चे माल का यहीं उपयोग हो सके। काफी जद्दोजहद के बाद यहां के कुछ उद्यमी अपने कारखाने लगाने में कामयाब हुए। औद्योगीकरण शुरू हो गया। कारीगर अपनी रोजी-रोटी से हाथ धोते रहे। आज़ाद भारत ने भी औद्योगिकरण का यही मॉडल अपनाया। इसके साथ ही चला मशीनीकरण का सिलसिला जो हर क्षेत्र को, यहां तक कि खेती को भी, निगलता चला गया।

आज पलटकर देखते हैं तो लगता है कि पर्यावरण, प्रदूषण, बेरोज़गारी, संसाधनों का ह्रास आदि कई समस्याएं उसी दौर में पनपी थीं। हम इसके लिए उस समय उद्योगों की मांग करनेवालों को दोषी ठहरा सकते हैं परन्तु वैसा करने से पहले एक और पहलू पर विचार करना ज़रूरी है। क्या उस समय इन सब बातों का पूर्वानुमान किया जा सकता था? या शायद कुछ हद तक आभास होने के बावजूद भी, उस समय के सन्दर्भ में यह उचित ही जान पड़ा हो।

आज हम पहचान पा रहे हैं कि आधुनिकता ने कई तरह की समस्याएं पैदा की हैं। फिर रास्ता क्या है? क्या यह कहा जा सकता है कि आधुनिक चिकित्सा प्रणाली की दिक्कतों से निपटने के लिए हम वापिस लौट चले किसी ऐसी विधि की ओर जो किसी और ही समाज के संदर्भ में बनी थी? क्या इस सारे जंजाल से निकलने का रास्ता पुनरुत्थान ही है? प्राय: आजकल की परेशानियों का समाधान यही बताया जाता है। इतिहास से प्रेरणा लेने और पुनरुत्थान में भेद करना बहुत ज़रूरी है।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली, आधुनिक शिक्षा, आधुनिक कानून-कायदे, आधुनिक विज्ञान... कुल मिलाकर हर क्षेत्र में आधुनिकता पर ज़ोर उस समय था। समाज-सुधारक इन्हीं की तलाश में जुटे थे। आज हम इनके विरोधाभासों को समझकर नई बातें कर रहे हैं। पर क्या उस समय ये चीज़ें भी मुक्ति के रूप में न देखी गई होंगी?

शिक्षा प्रणाली का उदाहरण भी बहुत प्रासंगिक है। आज जिसे 'बाबू' पैदा करने वाली शिक्षा कहते हैं वह वास्तव में आधुनिकता के रूप में ही हमारे यहां आई थी। तत्कालीन शिक्षा की जकड़न को तोड़ा और शिक्षा को उसने सर्व सामान्य के दायरे में ला दिया। यह अलग बात है कि कितने लोग, किस तरह के लोग इस शिक्षा से फायदा उठा पाए। यह भी एक अलग मसला है कि इस शिक्षा को किस नीयत से लागू किया गया था। पर यह तो मानना ही होगा कि शिक्षा का एक नया ढांचा खड़ा हो रहा था, जिसमें एक हद तक खुलापन था। परन्तु साथ ही साथ इसी शिक्षा प्रणाली में वे 'गुण' भी मौजूद थे जिनके परिणाम हमें आज भुगतने पड़ रहे हैं। यह लोगों को पराश्रित, निकम्मा, तंग दिमाग, और स्वतंत्र चिंतन हीन, बना देती है। परन्तु इस मूल्यांकन के महत्व को स्वीकार करने के बावजूद भी क्या हम उस ऐतिहासिक दौर में इस शिक्षा की भूमिका को नज़रअन्दाज़ कर सकते हैं?
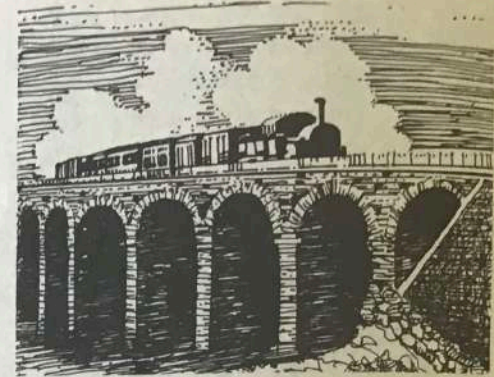
1853 में भारत की पहली रेलगाड़ी? बम्बई से ठाणे तक। भारत में रेलों के आगमन के साथ ही आया आधुनिकता का एक विरोधाभास भी

उस दौर में रेलों का बहुत विकास हुआ। उनसे हमारे कच्चे माल, हमारी प्राकृतिक संपदा की लूट हुई परन्तु मेलजोल भी बढ़ा। एक राष्ट्रीय स्तर पर विचार-विमर्श की संभावनाएं बढ़ीं। इसका विरोध भी हो सकता है कि रेलों के विकास ने संसाधनों की लूट को बढ़ावा दिया। पर क्या रेलें न होती तो लूट न होती? हम रेलों की तुलना दक्षिणापथ से कर सकते हैं जिसने किसी और दौर में राष्ट्र निर्माण में योगदान दिया था— सवाल यह है कि क्या यह जुड़ाव बराबरी के स्तर पर हुआ था ऊंच-नीच के आधार पर?

कुल मिलाकर बात यह है कि आधुनिकता, विकास, आदि के मसले बहुत उलझे हुए होते हैं। आज जो हम निर्णय करते है, उनको आने वाला कल कुछ नई कसौटियों पर परखेगा और कुछ नए निष्कर्षों पर पहुंचेगा। मुख्य बात यह है कि आज निर्णय कैसे लिए जाते हैं। क्या हम खुलेपन से, हर कसौटी पर परखकर, खुले दिमाग से निर्णय करते हैं या एक ढर्रे को आगे बढ़ाए चले जाते हैं। दुखदायी बात यह है कि इतिहास का इतना रोना रोने के बाद निर्णय के क्षणों में फिर वही निहित स्वार्थ, सत्ता के समीकरण, बाज़ी मार ले जाते हैं।

स्वतंत्रता संग्राम और वैज्ञानिक समूह

1900 से 1947 तक

हमारे रिपोर्टर एक लायब्रेरी की किताबों में से बीसवीं सदी में विज्ञान के प्रमुख पड़ाव ढूंढते दिखाई देते हैं। एक गीत में हम रूसी क्रांति और विश्व युद्धों का वर्णन सुनने के बाद भारत के स्वतंत्रता संग्राम की ओर लौट आते हैं। यह बीसवीं सदी की शुरूआत है।

ब्रिटिश शासन के अधीन बम्बई की एक बानगी के ज़रिये मालूम पड़ता है कि किस तरह से बन्दरगाहों को व्यापारिक केन्द्र के रूप में विकसित किया गया था। हम गोदियों (डॉक्स), कारखानों और एक कपड़ा मिल की सैर करते हैं और लोगों के शहर आने, उद्यमी वर्ग के विकास और मशीनों के विकास का पुनरावलोकन करते हैं।

शिक्षा के प्रसार ने राष्ट्रीयता (राष्ट्रवादी विचारों) के विकास में योगदान दिया। स्वदेशी आंदोलन ने वैज्ञानिकों को भी इस लड़ाई में खींच लिया।

जे. सी. बोस, पी. सी. रॉय, सी. वी. रामन, मेघनाद साहा और एस. एन. बोस जैसे वैज्ञानिकों के योगदान की चर्चा की गई है। इसके लिए उनके द्वारा स्थापित संस्थान, उनकी काम करने की जगहों, उनके उपकरणों और पुराने फोटोग्राफों की मदद ली गई है। हम रामन शताब्दी के उपलक्ष्य में आयोजित प्रदर्शनी में भी जाते हैं और ध्वनिविज्ञान तथा रामन प्रभाव के संदर्भ में रामन के काम का जायज़ा लेते हैं।

उदयपुर की सौर वेधशाला में हम साहा के ताप आयनीकरण सिद्धान्त का खगोल भौतिकी में महत्व समझने की कोशिश करते हैं। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि ये प्रारंभिक वैज्ञानिक कई संस्थानों तथा कई उद्योगों की स्थापना में भागीदार रहे हैं। इसके अलावा इन्होंने आज़ाद भारत की कल्पना में भी योगदान दिया है। 1938 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की योजना समिति के गठन के बाद से कई वैज्ञानिक इसके सदस्य रहे।

इसी समय हमारे प्राकृतिक संसाधनों की लूट जारी रही। कोयला इसकी एक मिसाल है। धनबाद की खदानों में हम देखते हैं कि किस तरह से अवैज्ञानिक तरीके से खनन कार्य के चलते खदानें धसक गईं और उनमें अन्दर आग लग गई, जो आज तक सुलग रही है। रिपोर्टर बताएंगे कि कैसे भूवैज्ञानिक और खदान इंजीनीयर एक साथ बैठे और सारी अड़चनों के बावजूद भारतीय कोयले को धोने का तरीका खोज पाए। इस तरह कोयला धोने की तकनीक जुटा पाना भी एक राष्ट्रवादी उपलब्धि थी। और अन्ततः 1947 आया, हम आज़ाद हुए। विभाजन के दर्द और भविष्य की उम्मीदों का मिला-जुला अहसास छाया रहा।

अ मृ ता

युद्ध

परीक्षा के लिए जो इतिहास पढ़ा, उसमें लड़ाइयों की तारीखें, लड़नेवालों के नाम और कारण याद करते-करते नाक में दम हो गया। इतिहास तो मानो एक के बाद एक आक्रमणों और युद्धों का सिलसिला ही था। ऐसा लगता था कि हमारे पहले हमारे पूर्वजों ने एक दूसरे से सिर्फ लड़ाइयां ही की। जो कुछ 'तरक्की' हुई वह तो संयोगवश हो गई।

इस श्रृंखला के लिए विज्ञान का इतिहास पढ़ते हुए, उसके बारे में सोचते हुए यह तो ज़ाहिर था कि इंसानों ने इस सारे दौर में जो हासिल किया, जीवन जीने के तरीकों के रूप में जिसे विकसित किया, वही सही मायने में हमारा इतिहास है। यह समझ में आया कि इतिहास जीवन और जीजिविषा का नाम है, युद्ध और हत्याओं का नहीं। परंतु फिर भी यह भी उसी तरह से महसूस होता है कि युद्ध महत्वपूर्ण मोड़ रहे हैं जिन्होंने एक तबके, एक समाज के इतिहास का रूख बदला है। यह सब और तल्खी से महसूस होता है इस सदी में जब हमने दो विश्व युद्धों को तो झेला पर उसके बाद से लगातार तीसरे विश्व युद्ध के साये तले जीने का तरीका भी सीखा।

आपसी मुठभेड़; पत्थर, लकडी के हथियार; घोडे, ऊंट, हाथी का इस्तेमाल कर धातु से बने हथियारों से लैस बल सेनाएं; बारूद और रॉकिट्स का इस्तेमाल; बढ़ते व्यापार के साथ नौवहन की उन्नत प्रणाली और इन के साथ तैयार होती नौ सेनाएं; हवा में उड़ान लेने में सक्षम इंसानों का हवाई हमले की ओर रुख और इसके साथ ही औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप पाए गए अनगिनत आधुनिक, सक्षम व सटीक हथियार; ये मुख्य मुकाम हैं प्रागैतिहास से लेकर विश्व युद्ध तक के दौर के। विज्ञान और टेक्नॉलॉजी के समान ही पूर्णत: मानवनिर्मित सिलसिला युद्ध का।

अपने राज्य में अपनी ताकत को बनाए रखने के लिए; अपने राज्य को फैलाने के लिए, अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए, अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए; ही करवाए गए हैं युद्ध। इसके लिए इस्तेमाल किया गया धर्म की, राष्ट्रीयता की, जातीयता की भावनाओं का। श्रेष्ठता और अधिपत्य स्थापित करने के लिए एक मापदण्ड की तो ज़रूरत है ही। वह पाई गई इंसानों की इन भावनाओं में। लेकिन मूलत: युद्ध रहे हैं टकराव दो ताकतों के; दो शक्तिशाली किन्तु परस्पर उल्टी विचारधाराओं के। महाभारत जैसे महायुद्ध के बारे में भी एक इतिहासज्ञ ने कहा है कि यह चित्रण है मातृसत्तात्मक जीवनशैली और पितृसत्तात्मक राजशाही के बीच होने वाले संघर्ष का। नैतिकता के आधारपर टिकी एक जीवनशैली के नष्ट होने और नए मूल्यों से बन रही दूसरी शैली के बीच का यह टकराव था।

मोटे तौर पर सारी लड़ाइयों का एक मुख्य कारण समाज में बढ़ती असुरक्षा है। एक द्वंद्व हमारे स्वभाव का अंग बना हुआ है। एक तरफ़ एक व्यक्ति के नाते हम अपनी पहचान की खोज में हैं और दूसरी तरफ़ इस समाज में अपने स्थान की भी खोज में। दोनों का dynamics हमारे कुटुंब, जाति, गांव, भाषा, धर्म, वर्ग, प्रदेश, देश इत्यादि पर निर्भर करता है। जब तक इन बुनियादी इकाइयों में आपसी टकराव नहीं है तब तक तो ये सभी अपने-अपने तरीके से मायने रखते हैं। लेकिन स्पर्धा मानो हमारे जीवन का हिस्सा बन गई है और इन सबों का अपने आप में कोई मतलब नहीं बचा है। इनका आकलन अब किसी और से तुलना के आधार पर ही होता है। और स्वाभाविक है कि इस तरह की तुलना में श्रेष्ठता साबित करने की कोशिश होती है। यह विश्वास बन चला है कि एक का अस्तित्व दूसरे की कीमत पर ही हो सकता है। हमारी सार्थकता किसी दूसरे से तुलना में ही सिम्मट गई है। इसलिए दूसरे के मुकाबले खुद को श्रेष्ठ साबित करना, उस पर हावी होना ही जीवन का अर्थ बनने लगा है। और इस को प्राप्त करने का एक ही तरीका नज़र आता है— अपनी ताकत का प्रदर्शन।

भौगोलिक इलाकों और राज्य या देश की सीमाओं को पुन: निर्धारित करने के लिए, अपने सत्ता या राज्य का ज़ोर बढ़ाने के लिए, अपने संसाधान, आय, मालमत्ता को बढ़ाने के लिए तो युद्ध हुए ही। पर इसीके साथ दूसरों को अपने से कमज़ोर बनाने के लिए, उनका राज्य, आय, मालमत्ता, व्यापार कम करने के लिए; उनको अपने ऊपर निर्भर कर के अपना वर्चस्व बढ़ाने के लिए लगातार युद्ध किए गए— आज भी किए जा रहे हैं। केवल अपनी शक्ति जताना काफ़ी नहीं है, दूसरों की शक्ति कम कर के अपनी ताकत को बनाए रखने का इंतज़ाम करना भी उतना ही ज़रूरी रहा है।

म्यूज़िओ नासिओनाल देल प्राडो, मैड्रिड

स्पेनिश सिविल वॉर के दौरान बनाए पाब्लो पिकासो के चित्र 'गेर्निका' का एक अंश। इसमें युद्ध की विभीषिका और क्रूरता का प्रतिरोधक चित्रण है।

इस सबमें हर ताकत का उपयोग किया गया। विज्ञान और टेक्नॉलॉजी तो शारीरिक शक्ति को दर्शाने में बहुत सहायक हुए।अपरोक्ष रूप से भी उन्नत खेती, उद्योग और व्यापार में योगदान दे कर एक आर्थिक, सामाजिक ताकत स्थापित करने में भी इनका योगदान अवश्य रहा। इतिहास के इस अध्ययन में हमने पाया कि हर बार बेहतर सैन्य तकनीक योद्धा मैदान मार गए। फिर वह अच्छे, नाल लगे घोड़े और रकाब का इस्तेमाल करते घुड़सवार हों या रासायनिक हथियार और अणु बम के ज्ञान और आधुनिक सैन्य, टेक्नॉलॉजी के साथ हमला करनेवाली.सेनाएं हों।

विज्ञान द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का भी युद्ध की मानसिकता बनाने के लिए मनचाहा, ज़रूरतानुसार इस्तेमाल और विकास हुआ है। प्रतिपादन करने वाले के नज़रिये और दृष्टिकोण पर यह निर्भर होता है कि कौनसा पक्ष उभारा जाए। जैविक विकास के सिद्धांतों को ही लें। जैसा हमने एकदम शुरू में कहा था, कि हमारे जैविक विकास की प्रक्रिया से इंगित होता है कि हम मूलरूप से शांतिप्रिय हैं। हममें आक्रामक शारीरिक लक्षणों, जैसे नाखून वगैरह का अभाव है। इसकी भरपाई हमने ज़िन्दा बच पाने के लिए अन्य तरीकों से कर ली है, जो कहीं कम आक्रामक और हिंसक हैं। परन्तु हम देखते हैं कि इस सिद्धांत का उपयोग अपनी आक्रामक और युद्ध को उचित ठहराने के लिए किया जा रहा है। "सर्वश्रेष्ठ ही जिएगा" के सिद्धान्त के नाम पर युद्ध और हत्याओं को उचित बताया जा रहा है। जब श्रेष्ठता या उपयुक्तता की परिभाषा ही हम उन ताकतों के आधार पर करेंगे जो युद्ध में दर्शाई जाती हैं तो फिर श्रेष्ठतम को जीने के लिए ज़ाहिर है युद्ध करना ही पड़ेगा क्योंकि वही तो श्रेष्ठता का मापदण्ड बन चुका है!

ऐसा ही एक और दुधारा औज़ार बन कर आया औद्योगिक और वैज्ञानिक क्रांति का यह दौर जिसने विज्ञान को सर्वव्यापी बना दिया, व्यापार को विश्व व्यापी बनाया और दुनिया में सभी को एक-दूसरे से बांधकर करीब लाया। अब इस धरती पर जीने वाले सारे तबके एक-दूसरे से यों जुड़ गए कि एक में होनेवाले उतार-चढ़ाव दूसरे पर सीधा असर करते थे, भले ही उनमें हर किस्म की दूरी कई हज़ार कोस क्यों न हो। इसीके कारण अब युद्ध का भी एक विश्वव्यापी असर होने लगा और विश्वयुद्ध भी छिड़ गए। सेनाओं का एक-दूसरे के साथ जुड़ना, एक-दूसरे की सहायता करना यह सब तो होता था पर इस तरह से सभी देशों को युद्ध में अपनी पूरी ताकत लगा कर खुले आक्रमण में जुड़ जाना हो पाया इस काल में। कोई अछूता नहीं रह सका। सिर्फ देश की सत्ता ही नहीं, उसकी सेना ही नहीं पर हर इंसान पर इसका प्रभाव पड़ा और पड़ता रहा है।

विश्वयुद्ध के दौर के बाद अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के दांवपेच, राष्ट्रों के बीच के रिश्ते और खुद उनकी अपनी नीतियां और योजनाएं सब इसी संभावना के तहत बनते बिगड़ते हैं कि फिर ऐसा युद्ध छिड़ सकता है। हथियारों की दौड़ मे लगने को हर देश अपने आप को मजबूर मानता है। इसमें कीमती संसाधन खर्च किए जा रहे हैं, लोगों को वंचित किया जा रहा है। ताकि सत्तानशीं लोग ताकत के इस खेल में शरीक हो सकें। और फिर भी युद्ध टलते नहीं। खाड़ी युद्ध भी हो ही गया और विनाश का एक और दौर स्थापित कर गया। केवल विनाश नहीं पर साथ ही कुछ सत्ताओं और ताकतों की धाक भी। क्या हम इसी धाक से ग्रस्त जीवन जीना चाहते हैं और इसके विनाशकारी अवशेषों से मुंह मोड़े रहना चाहते हैं?

आज के 'विकसित' संचार माध्यमों और मिलिट्री टेक्नॉलॉजी की बदौलत खाड़ी युद्ध हमारे घर के टी. वी. स्क्रीन पर दिखाया गया। आतिशबाजी के खेल सा दिखता यह सारा दिखावा छुपा रहा था उन अनगिनत इंसानों को जिनके जीवन को तहस नहस कर रही थी यह आतिशबाजी। हमारे विज्ञान और टेक्नॉलॉजी की तरक्की इतनी हो गई है कि युद्ध एक नज़ारा बन गया है जिसमें से लोगों के दुख दर्द और चीख पुकार को जानबूझकर छुपाने की कोशिश की जा रही है।

खाड़ी युद्ध के दौरान तेल तो जल कर खत्म होते हमने देखा; उसके गिरकर बिखरकर समुद्री जीवन को खत्म करना भी हमने देखा; इराक, कुवैत के ज़ख्मी इंसानों को भी देखा पर साथ ही अमन की आवाज़ों को भी उभरते सुना। कहीं मुझे लगता है कि इन्हें और बुलंद करना हम सभी का फर्ज़ है। और इन्हीं में समाया है वह इतिहास जिसका संबंध जीने और ज़िंदगी से हो।

यथार्थ के नए आयाम

बीसवीं सदी विज्ञान के लिए बहुत महत्वपूर्ण रही है। इसमें विज्ञान की 'तरक्की' तो हुई ही, साथ में कई सारी वैज्ञानिक खोजों की बदौलत उद्योग भी बहुत आगे बढ़े। इस बढ़ते ज्ञान का ही नतीजा है कि आज हमारे जीवन में पल-पल काम आने वाली चीज़ें उन्हीं क्रांतिकारी वैज्ञानिक खोजों की देन हैं। इस सबके बावजूद एक बात मुझे परेशान सा करती है। वह बात यह है कि क्वांटम मेकेनिक्स (या क्वांटम यात्रिकी) सरीखे विषय ने इस विज्ञान की बुनियादपर ही जो सवाल खड़े किए हैं, उनके बारे में खुले तौर पर बात क्यों नहीं की जाती? क्वांटम यांत्रिकी द्वारा उठाए गए विवादों और सोच की एकदम नई दिशाओं पर यह चुप्पी खलती है।

समाज का सांस्कृतिक माहौल आज विज्ञान द्वारा निर्धारित होता है। एक तरह से हर घटना, हर चीज़ की एक नई व्याख्या पेश की जा रही है। हर चीज़ को परखने की कसौटियां बदल गई हैं। किन्तु क्वांटम सिद्धान्त ने विज्ञान का जो एक नया नज़रिया दिया है, वह सामाजिक स्तर पर हमारे सोच या चिन्तन का हिस्सा नहीं बन पाया है। मुझे ऐसा लगता है कि मेरे दिमाग में बहुत कुछ खदबदा रहा है। क्या विज्ञान में यह क्वांटम क्रांति बस इसी हद तक थी कि $E = mc^2$ का सूत्र हमारे हाथ लग गया और हम समझ गए कि पदार्थ और ऊर्जा का एक-दूसरे में परिवर्तन संभव है? क्या इतनी उठापटक का मकसद मात्र इतना समझना था कि सवाल यह नहीं है कि इलेक्ट्रॉन एक तरंग है या कण— सवाल यह है कि वह इन दोनों रूपों में प्रकट होता है।

बेशक विज्ञान और खासकर भौतिक शास्त्र की प्रगति में इस पूरे सिद्धान्त का बहुत महत्व रहा है। विज्ञान को एक मुकाम से अगले मुकाम तक पहुंचाने में यह कदम अपरिहार्य था। परन्तु मुझे जो बात परेशान कर रही है वह थोड़ी अलग है। विज्ञान के सोच और उसके दर्शन पर इस सबका क्या असर था? यह सवाल मुझे विज्ञान के इतिहास के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण लगता है और इसका ज़िक्र मैं यहां करना चाहूंगा।
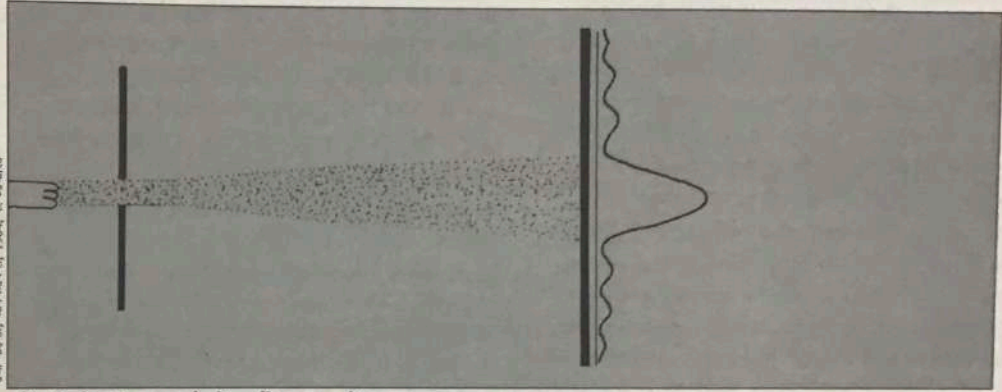
इलेक्ट्रॉन के तरंग गुणधर्म को दर्शाने वाला प्रयोग

बीसवीं सदी से पहले की तीन सदियों में विज्ञान ने जिस दर्शन को अपनाया उसकी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। उस सारे चिन्तन को झकझोरने वाली और उसकी नींव तक को हिला देने वाली क्वांटम सिद्धान्त की बातें विज्ञान के अन्तर्गत हो रही थीं। जो दो-तीन मुद्दे विशेष तौर पर उभरे वे पहले के विज्ञान के निश्चयवादी और घटकवादी दृष्टिकोण पर सीधी चोट करते थे।

किसी भी पदार्थ को छोटे-छोटे टुकडों में तोड़ते हुए सूक्ष्मतम हिस्से प्राप्त या ज्ञात करना, उनका अध्ययन करना, उन्हें समझना, फिर इन टुकडों को जोड़-जोड़कर पूरी वस्तु बनाना अर्थात इन छोटे टुकडों के गुणों के आधार पर पूरी वस्तु के बारेमें जानकारी हासिल करना। विज्ञान का यह घटकवादी तरीका क्वांटम यांत्रिकी के आ जाने से डगमगा गया। अव्वल तो सूक्ष्मतम टुकड़ों की प्रकृति या फितरत ही अजीबो गरीब निकली। जिस तरह से हम स्थूल विश्व की वस्तुओं को समझते हैं, उसी तरह हमने इन टुकड़ों को भी चित्रित करने की कोशिश की—अर्थात् छोटे-छोटे ठोस कण के रुप में। पर ये कण तो हमें चकमा दे गए। प्रचलित विज्ञान के ढर्रे में सोचने वालों को एक सदमा लगा कि हमें यथार्थ जैसे प्रतीत होता है, वह वास्तव में उससे काफी भिन्न भी हो सकता है। दूसरे शब्दो में, यथार्थ की हमारी अनुभूती, हमारी समझ पर ही सवाल खड़े हो रहे थे।

दूसरी बात यह उभरी की निश्चित तौर पर कोई बात कह पाना विज्ञान के लिए भी संभव नहीं है।दूसरे शब्दो में ज़रुरी नहीं कि विज्ञान में किसी बात का एक निश्चित उत्तर हो। इलेक्ट्रान तरंग है या कण? इस बात का एकदम निश्चित तौर पर एक जवाब देना ही विज्ञान माना गया था। वही विज्ञान अब यह कहने पर मजबूर था कि इलेक्ट्रॉन दोनो में से कुछ भी हो सकता है या दोनों हो सकता है। दोनों में उसका 'असली' रूप कौन सा है, यह सवाल ही जैसे गौण व निरर्थक हो गया था। अब तो बहुत आगे के सवाल उठने लगे थे।

यह सिध्द किया जा चुका था कि इलेक्ट्रान का हम वही रूप देखेंगे जो चाहेंगे। मसलन, यदि हम (यानी प्रयोग करने वाले) प्रयोग इस तरह करें कि उसका कण रूप दिखे तो हमें वही दिखेगा। और तरंग रूप देखना चाहें तो वही दिखेगा। भौतिक शास्त्रियों की अत्यंत तकनीकी व पेचीदा बातों को इस तरह कहने में शायद कई लोगों को आपत्ति होगी। परन्तु मुझे लगता है कि विज्ञान, इतिहास और दर्शन के बारे में नए सिरे से सोचने के लिए क्वांटम यांत्रिकी की मूल बातों को इस तरह से रखना कतई गलत नहीं है। मैं तो यहां तक कहूंगा कि उन लगड़े समीकरणों की बैसाखी से उलझे शोधकर्ताओं को भी ज़रा रुककर सांस लेना चाहिए और सोचने का वक्त निकालना चाहिए।

हमारे प्रयोग का निष्कर्ष क्या निकलेगा यह इस बात पर टिका है कि हमने क्या सोचकर, किस मकसद से, कैसा प्रयोग किया था। जिस विज्ञान ने डंके की चोट पर वस्तुनिष्ठ या व्यक्ति-निरपेक्ष होने का दावा किया था, उसे खुद की परिभाषाएं बदलने को मजबूर होना पड़ रहा था। जो व्यक्ति किसी घटना क्रम को देख रही है, अवलोकन कर रही है, उसका उद्देश्य ही एक हद तक यह तय कर देता है कि उसे क्या नज़र आएगा, क्या दिखेगा। इस तरह से व्यक्तिनिष्ठता उस विज्ञान का अभिन्न अंग बन गई है जो एक समय में खालिस वस्तुनिष्ठता का दावा करता था।

विज्ञान के उन सारे विचारों को जांचने-परखने का समय आ गया है जो हमारे जीवन के हर क्षेत्र में और सोचने के तरीकों पर छा गए थे। घटकवाद, निश्चयवाद और वस्तुनिष्ठता नामक विज्ञान के आधार-स्तम्भ अपर्याप्त साबित हो रहे हैं। उनकी और उनके इस्तेमाल की सीमा आ चुकी है। इसका मतलब यह नहीं है कि आज तक सीखा, खोजा विज्ञान बेमानी है या गलत है या अनुपयोगी है। क्वान्टम यान्त्रिकी का बुनियादी सबक यह है कि कोई 'एकमेव' सत्य हो यह ज़रूरी नहीं है। सच्चाई वास्तव में बहुस्तरीय है और इन स्तरों में कोई ऊंच-नीच नही है।

कोई एक स्तर का 'सत्य' दूसरे से ज्यादा या कम सही नहीं होता। अपने-अपने संदर्भ और अपनी-अपनी सीमाओं में ये सारे उतने ही सही होते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि हर निष्कर्ष, हर सत्य का संदर्भ और उसकी सीमा को समझकर उनमें तालमेल बैठाया जाए। किसी एकमेव सत्य की मृगतृष्णा का पीछा करते हुए कहीं बहुआयामी सत्य भी खो न जाए।

यह सवाल ज़रूर उठता है कि विज्ञान के इतिहास से इसका क्या लेना-देना। चंद सवाल जो मेरे दिमाग में उठ रहे हैं, वे इस प्रकार हैं : यह तो सही है कि इस नए विचार के माध्यम से विज्ञान ने अपनी सीमाएं पहचानी और नई दिशा में कदम उठाया। परन्तु प्रश्न यह है कि वे कौन सी सामाजिक स्थितियां थीं जिनमें इन नए विचारों को सोच पाना और कह पाना संभव हुआ। वह कैसा घटना-क्रम था जिसने हमें इस मोड़ पर ला खड़ा किया? क्या इस तरह की सोच उसी माहौल में संभव थी?

जो प्रश्न इससे भी ज्यादा मेरे दिमाग को कुरेद रहा है वह यह है कि क्वांटम यांत्रिकी के इन सारे सवालों से विज्ञान के प्रति हमारे सोच में, हमारी जीवन-शैली में, हमारी संस्कृति में और यहां तक कि विज्ञान की अन्य शाखाओं व भौतिक शास्त्र तक की बनावट व अध्ययन में कोई मूलभूत बदलाव क्यों नहीं आया? या शायद यों कहें कि हम इस परिवर्तन को अपनाने से कतरा क्यों रहे हैं? क्यों हम एक लीक में फंसे, लकीर के फकीर बनकर एक निहायत ताज़ा दृष्टिकोण विकसित करने, एक परिपूर्ण नज़रिया अंगीकार करने में झिझक रहे हैं, हिचक रहे हैं? कहीं ऐसा तो नहीं कि हम यह भी मानने से इन्कार कर रहे हैं कि यह विचार अब भौतिक विज्ञान और उसके दर्शन का अंग बन चुका है? इन सवालों के जवाब खोजना तो विज्ञान का ही हिस्सा है। यह नई दिशाएं समझने व खोजने का ज़रूरी कदम भी है। इस खोज में हमें उन सारे मत मतान्तर का समावेश करना होगा जो एक प्रचलित मुख्यधारा के साथ-साथ पनपते रहे हैं, विकसित होते रहे हैं।

ऐसा तो हो नहीं सकता (और न हुआ है) कि बहुमत की विचारधारा ही एकमात्र विचारधारा हो। हमेशा अन्य विचार भी मौजूद रहे हैं। ये कभी एक चेतावनी के रूप में, कभी प्रचलित विचारधारा के विपरीत दृष्टिकोण के रूप में, स्थापित मूल्यों को चुनौती के रूप में, नई दिशाओं को खोजने की कोशिश के रूप में, गोया विभिन्न रूप में मौजूद रहे हैं। अनेक आवाज़ें हमेशा उठी हैं, आज भी उठ रही हैं। समय-समय पर इन्हीं आवाज़ों की बदौलत समाज में बदलाव आया है। इन सबका एक खुशनुमा मेलजोल किस तरह से हो, यह एक बड़ी चुनौती हमारे सामने है। कोई एक सच सब पर थोपने की बजाय, अपनी विविधता बरकरार रखते हुए एक सुसंगत नज़रिये की तलाश ही भौतिक शास्त्र के इस नए विचार का पैगाम है। इन सब विचारों को प्रस्तुत करने वाले इंसान और उसकी मंशा को स्वीकार करते हुए, उसे एक सही स्थान देकर ही हम एक समग्र दृष्टिकोण बना पाएंगे और शायद उसी झरोखे में से हमारे एक अलग, संभावित कल की झलक मिलेगी। कल जिसमें इतनी कलह न हो, इतनी टूटन न हो, एक-दूसरे को ज़लील करने की नीयत न हो।

आज के शहर : बढ़ते फ़ासले

शहरी सभ्यता हड़प्पा के ज़माने से हमारे साथ चली आ रही है। तब से लेकर आज तक शहर के मूल तत्व तो वही रहे हैं पर उनमें फर्क भी कई किस्म के आए हैं। हड़प्पा के ज़माने के मोहन्जो-दाड़ो, हड़प्पा, लोथल, ढोलावीरा जैसे शहर निर्भर थे नदियों पर और नदियों की घाटियों पर— मूल रूप से पानी के स्रोतों पर। उसके बाद दौर आया व्यापारिक केन्द्रों का। लौह युग के समय से बस रहे शहरों का आधार था व्यापार। एक केन्द्रीकृत व्यवस्था जिसमें हर किस्म की सुविधा की वस्तुएं उपलब्ध हों, ज़रूरत के सारे समान की लेनदेन हो। खरीदने-बेचने का सिलसिला केवल गांवों और शहरों के बीच ही नहीं पर दो दूर-दूर के शहरों के बीच, दो एकदम अलग इलाकों के बीच भी।

इन्हीं सभ्यताओं ने कई सारे हुनर और हस्तकलाओं को पनपने का मौका दिया, विज्ञान को नए मोड़ दिए और सोच की नई दिशाएं निर्धारित कीं। शहरों में व्यवस्था रखने के लिए, उन्हें सुचारु रूप से संचालित करने के लिए, निश्चित ही कई नई तकनीकों की, व्यवस्थाओं की खोज आवश्यक थी। और यह हमेशा से होता भी रहा। बीसवीं सदी के शहर बस रहे थे एक नये आधार पर। अब व्यापार के साथ आधार था उद्योग।

उद्योग, मशीनों, कारखानों ने जगह ले ली थी दस्तकारों की। सो अब दस्तकारों और कारीगरों की जगह ले रही थीं मशीनें और मशीन चलाने वाले। औद्योगीकरण ने एक और नए किस्म के शहर बसाना शुरू किया। जो पुराने शहर उद्योग ते लिए उपयुक्त थे, मसलन जिनके करीब थे कच्चा माल प्राप्त करने की जगह या फिर व्यापार को बढ़ावा देने के अन्य कारण — वे इस नए दौर में और पक्की तरह से बनते चले गए। पुराने शहरों को नए हिस्से जोड़े गए। उद्योग और उससे जुड़ी सारी व्यवस्था को बनाए रखने के लिए उनमें फ़ेरबदल किए गए; या फिर एकदम नए सिरे से शहर बसाए गए। कुछ शहरों ने अपना पूरा चेहरा मोहरा ही बदल दिया; कुछमें सिर्फ एक हद तक के ऊपरी बदलाव भर हो पाए। पुराने शहर कई जगह यों ही बने रहे अपनी संकरी गलियों, सटे मकानों और बाज़ार हाट की दूकानों के
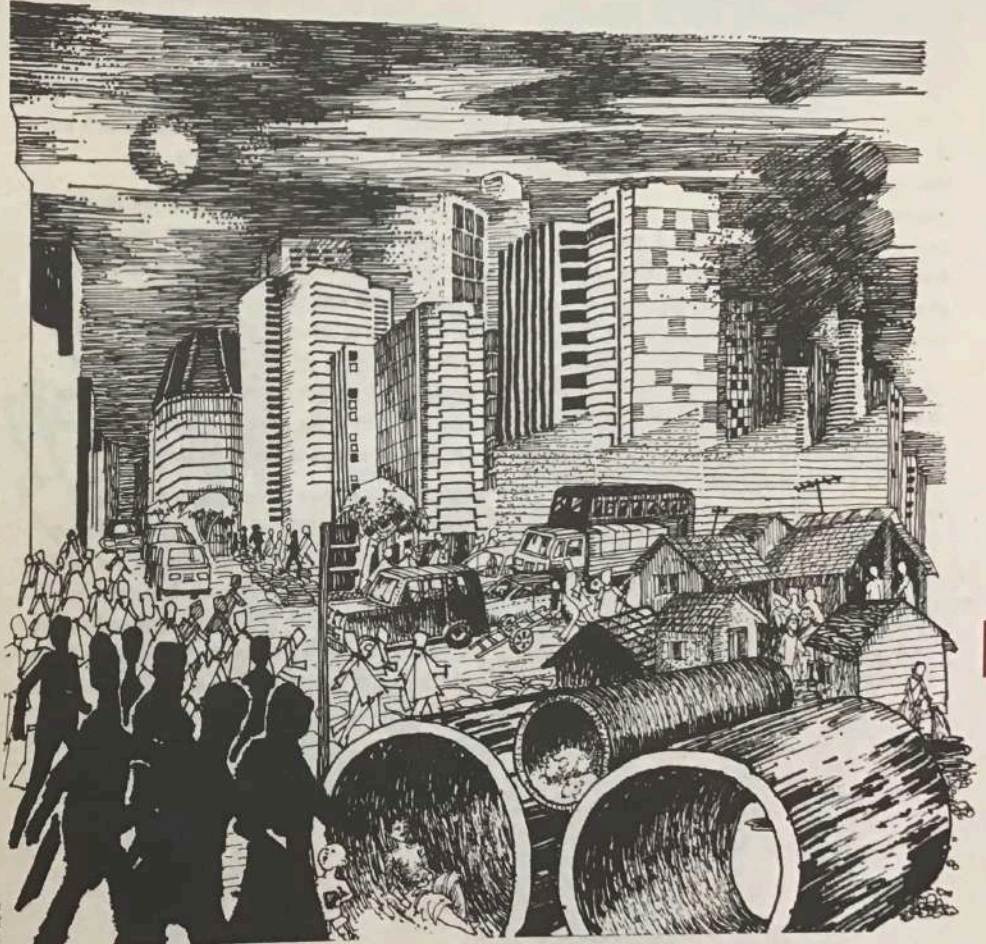
साथ। उनसे लगे ही बने 'टाऊन प्लेनिंग' के विशिष्ट सिद्धांतों के आधार पर बसे नए शहर। पुराने उद्योग भी हटाए गए। उनकी जगह ली आधुनिक नए व्यवसायों ने।

एक चीज़ जो बहुत अलग थी इन नए शहरों में वह है बदलाव की गति। शहर बढ़ते जा रहे हैं; हर शहर की आबादी कई गुना बढ़ रही है; शहरों में आमदनी होने की संभावनाएं बढ़ती नज़र आ रही हैं — और यह सब हो रहा है एक ऐसी गति से जिससे कदम मिला पाना शायद कइयों के बस का रोग नहीं है। मशीनी लय और गति में डूबती ज़िंदगी मानो शहरी इंसानों को पीछे छोड़ आगे को बढ़ते हुए। रफ्तार इतनी तेज़ है कि इंसान अपने जीवन में ही शहर के न जाने कितने रूप देख पाते हैं। दस साल के बच्चे भी कह पाते है कि, "जब हम छोटे थे तब यह चीज़ ऐसी नहीं थी"। पीढ़ियों होने वाले बदलाव अब मानो सिमट कर एक ही व्यक्ति के जीवनकाल में समा गए हैं।

एक दौर था जब यूरोप में हो रहे औद्योगीकरण का सीधा प्रभाव पड़ा था हमारे जैसे समाज पर जो तब इन उद्योगों और मशीनों से परे था। मशीन, कारखाने हमारे शहरों, गांवों में नहीं थे पर उनके प्रभाव से हम अछूते न थे। औद्योगिक फसलों की कीमतों के आधार पर हमारी अर्थव्यवस्था टिकी हुई थी। हमारे शहरों के बाज़ारों और व्यापारियों से कच्चा माल लेकर मशीन से बनी चीज़ें हम तक पहुंचाई जा रही थीं।

पर इसका यहां ज़िक्र क्यों? हमारे शहरों में उद्योग-कारखाने आने के बाद शहरों और गांवों के बीच का रिश्ता भी कुछ ऐसा ही होने लगा। शहरों की वृद्धि और वहां रोज़गार के अवसर बढ़ने तथा गांवों में संसाधनों की कमी होने से गांव से शहर की ओर काफ़ी पलायन हुआ। कौन जाने पहले के शहरों में यह हलचल क्या रही। अब तो मानो शहरों में ही सबकी संपन्नता की चाबी थी।

शहरों में रहनेवाले सारे लोगों के आराम का सपना, उनकी अपनी सुख समृद्धि की आशा तो सब खत्म हो चली है। जो आज दिखता है शहरों में वह है ज़मीन-आसमान का अन्तर। शहर का अर्थ आज केवल अच्छी सुविधाएं, सुनियोजित बस्तियां और सत्ता के केन्द्र नहीं है। आज शहर का अर्थ है विरोधाभासों का पुलिंदा और इनकी चरम सीमा है आज के बड़े शहरों में — महानगरों में।

विषमता तो हड़प्पा के शहरों से ही नज़र आती है। एक हिस्सा शहर का जहां घर बड़े हों, अन्य सुविधाएं भी ज्यादा हों ताकत के केन्द्र हों, वहीं दूसरी ओर छोटे एक दूसरे से सटे मकान जहां शायद समाज के निर्धन लोग रहते होंगे। पर जो शहर उद्योगों के साथ इस सदी में बसे उसमें तो विषमता भी अपनी चरम सीमा पर लगती है। झुग्गी झोपड़ियों का डेरा और बड़ी कोठी, हवेलियां, आलीशान अट्टालिकाएं, सब एक दूसरे से लगी हुई— पास-पास। एक तरफ भरपेट खाने को तड़पते लोग और दूसरी तरफ ऐशो आराम में मस्त रहने वाले। ये सब मामूली बातें बन गई हैं, अपवाद नहीं।

विज्ञान का आधार लिए बनी इस सभ्यता में एक तरफ तो बहुत नवीनता है। आधुनिकता भी आ गई है यातायात, संचार और अन्य माध्यमों के ज़रिये। कारखानों में काम करते मजदूरों के साथ होते हैं आधुनिकतम विज्ञान और टेक्नॉलॉजी के नमूने बतौर मशीनें। पर पता नहीं क्यों ऐसा लगता रहता है कि इस आधुनिकता से इंसानों की सोच में, उनके जीने के तरीके में कोई खास परिवर्तन नहीं आ पाया है। इस औद्योगीकरण के कारण होना चाहिए था एक किस्म का प्रजातांत्रीकरण। सस्ती व मजबूत वस्तुओं के माध्यम से बेहतर साधन संपन्न इन्सान बनना चाहिए। पर यह होता नज़र नहीं आता। समता मूलक बंटवारा तो सपना ही रह गया और उल्टे गैर बराबरी बढ़ती चली जा रही है। लालच और मुनाफे के मारे कारखानों के मालिक आज केवल उसमें काम करने वाले इंसानों को दबा कर रुकते नहीं। आज खात्मा हो रहा है पर्यावरण का, अंधाधुंध लूटने के इस दौर में। पीने का पानी, खेती की ज़मीन, हमारे आसपास की हवा— कुछ भी नहीं छूटा है प्रदूषण के शिकंजे से। काम के बोझ से दबे इंसानों के शरीर और खत्म हो रहे हैं इस दूषित वातावरण में। हमारे आज के विकसित शहरों, महानगरों के इस ज़हरीले असर में खत्म हो रहे हैं जीवन और ज़िंदगी।

आज के विज्ञान को अपनाया गया था इसलिए कि हमारा जीवन ज्यादा सरल हो। ताकि यह ज्यादा समृद्ध और संतोषदायक हो सके। पर इसकी बदौलत आज के शहरों में छाई है एक अजीब किस्म की अशांति। भीड़भाड़ में और भागदौड़ में अपने आप को अकेले पा इंसान मानो खो गए हैं। उस पहले सटीक क्रमबद्ध यंत्र, घड़ी के कांटे के साथ भागते हुए, नई से नई तकनीक से बनाई वस्तुओं का इस्तेमाल करते हुए, भीड़भाड़ में से अपने आप को बमुश्किल सहेज कर निकालते हुए मानो हम खुद ही अपने आप से अजनबी होते जा रहे हैं। तभी तो लगातार होते हैं ये दंगे फसाद जिनमें हम आगे बढ़ना छोड़, हर कदम कुछ पीछे की ओर ही खींचते लगते हैं। अपनी खोई हुई पहचान ढूंढने की कोशिश को ही तो कौमवाद, जातीयवाद, भाषावाद इत्यादि का वीभत्स रूप दिया जा रहा है।

आज आशा की किरण है तो लौह युग के शहरों के इतिहास में। ऐसे ही अशांति के दौर में तो वहां पनपे और विकसित हुए थे ऐसे दर्शन जिन्होंने इतिहास की दिशा पर असर किया। शायद आज हमारी इस अकुलाहट और अशांति में से भी उभरेंगे एक तरह के नए विचार।
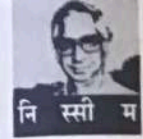
नि स्सी म

वो सपने विकास के

वि ज्ञान की दिशा में बदलाव की बात और इस सदी में उसकी प्रगति का ब्यौरा हमने फ़िल्म की शुरुआत में ही दिया है। इस प्रगति का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि विज्ञान हमारे सामने सुविधा के एक साधन के रूप में आता है। हड़प्पा संस्कृति से बीसवीं सदी तक की यात्रा हमने की। इसमें विज्ञान और संस्कृति का रिश्ता भी हमने देखा। जहां तक आधुनिक विज्ञान की बात है, तो हमने अपना एक अवलोकन पेश किया था कि इसमें एक व्यक्ति महत्वपूर्ण इकाई के रूप में उभरा। इसी के साथ एक भौगोलिक राष्ट्र, राष्ट्र के बदलते स्वरूप, धर्म के आधार पर, फौज के आधार पर, फिर शासकों की भिन्नता, प्रजातंत्र, राजतंत्र, समाजवाद, इत्यादि के विचार भी बनते-बिगड़ते रहे। विज्ञान की प्रगति को हमने संस्कृति के अविभाज्य हिस्से के रूप में देखने की कोशिश की।

भारत के स्वतंत्रता संग्राम के दौरान भी कई लोग अलग-अलग नज़रियों से इसमें जुड़ें परन्तु सबसे मिलकर एक सामूहिक विद्रोह बना। इसका कारण यह था कि सबको अपनी-अपनी समस्या की जड़ें गुलामी के बंधन में नज़र आती थी। यही इस देश को जोड़ने का बहुत बड़ा कारण बना। चाहे वे औद्योगिक मजदूर हों, जातिप्रथा का विरोध करने वाले आम लोग हों, गुलामी की जकड़न महसूस करते उद्योगपति हों। या एकदम अलग नज़रिये से सोचने वाले राजनीतिज्ञ हों। मसलन महात्मा गांधी का नज़रिया जिन्होंने गुलामी को एक अलग ढंग से महसूस किया। इसमें से उभरा अहिंसा जैसी नीति का विचार, जो इस देश के दर्शनों से जुड़ा हुआ भी था। आज की जंगखोर दुनिया में इसका एक नया अर्थ सामने आ रहा है। दूसरी तरफ विदेशी आधुनिकता के खिलाफ स्वदेशी की मांग। इसमें ग्राम स्वराज्य की आत्मनिर्भरता की कल्पना भी मौजूद थी, जो गुलामी के साये में कमज़ोर पड़ रही थी। इसी स्वदेशी की मांग का एक पहलू था देश के संसाधनों पर अपने हक की बात, जो दांडी के नमक सत्याग्रह से रेखांकित हुई। इसके पीछे सारा सोच यह था कि गुलामी के कारण हमारे संसाधनों का इस्तेमाल अंग्रेज़ सरकार की इच्छानुसार वहां के औद्योगीकरण के लिए किया जा रहा है। इसके कई
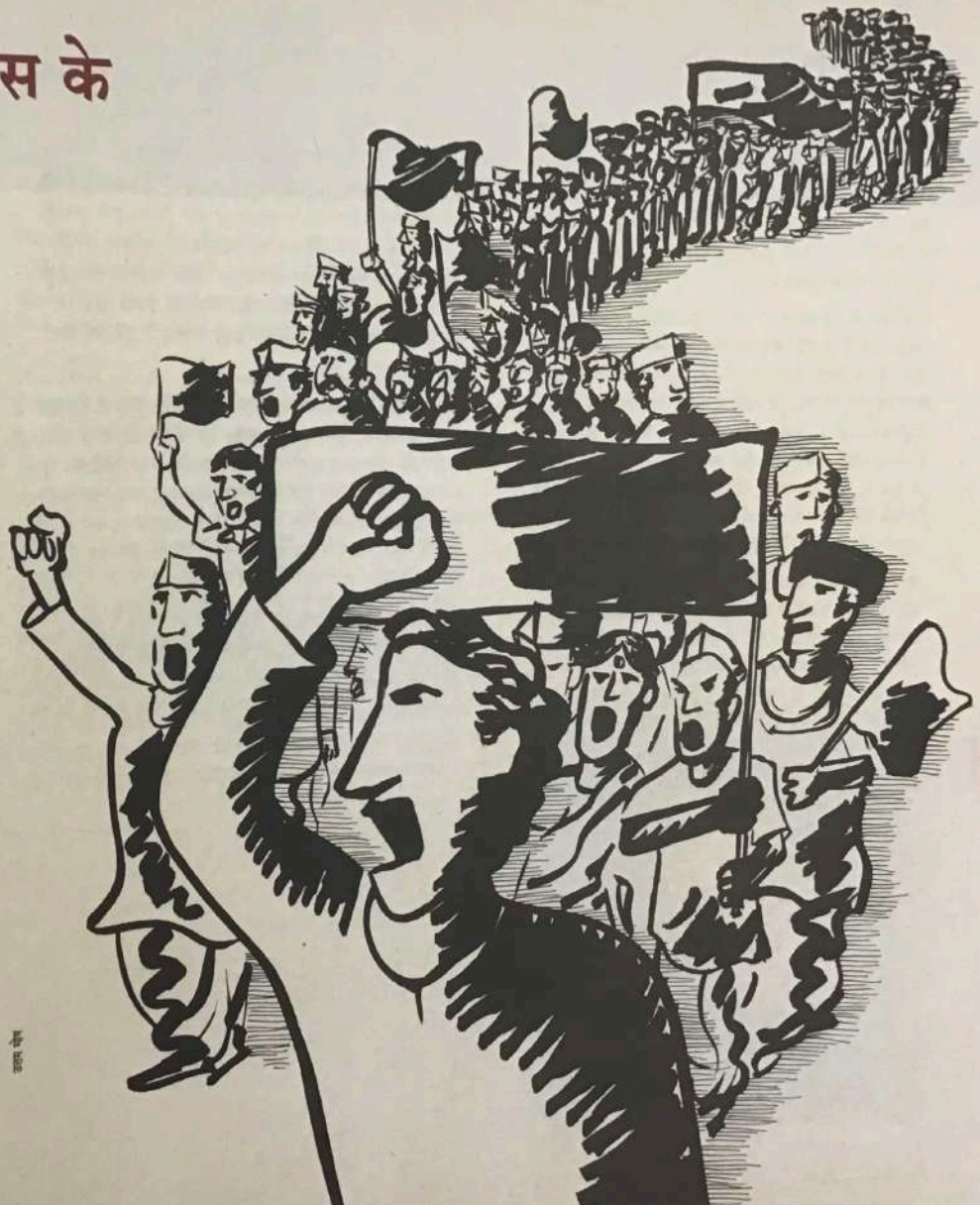
दुष्परिणाम हमें भुगतने पड़ रहे हैं, जैसे कारीगरों का तबाह होना या खेती का रूप बदल जाना इत्यादि।

दूसरी तरफ था आधुनिकता का दर्शन। और हमने आज़ाद भारत में इसी को अपनाया— आत्म-निर्भरता के ही मकसद से। हमने जो ढांचा अपनाया वह सारे प्राकृतिक संसाधनों के केन्द्रीकृत नियोजन और विज्ञान, शोध व अध्ययन के केन्द्रीय ढांचे पर आधारित था। इसकी नींव स्वतंत्रता से पहले ही डल चुकी थी। कुल मिलाकर इसे नेहरू के मॉडल के नाम से पुकारा जाता है।

हमने नेहरू के इस ख्वाब का ब्यौरा फ़िल्म में दिया भी है। भारत कोई एकरूप राष्ट्र तो है नहीं। इस समाज में कई विविधताएं-विभिन्नताएं मौजूद हैं। आधुनिकता की बात हो या स्वतंत्रता की कल्पना किन्तु इस विविधता पूर्ण देश को एक कड़ी से जोड़ने के लिए, एक केन्द्रीय एकरूप शृंखला का होना अनिवार्य सा लगता है। और इतने लंबे अरसे के संघर्ष में यदि हमने देश की कल्पना को स्वीकार किया है, तो कुछ हद केन्द्रीय संस्थानों, एकरूप विचार प्रणाली की पृष्ठभूमि निहायत ज़रूरी है, जिससे एक ऐसा ढांचा बने जो विविधताओं को अक्षुण्ण रखते हुए उनमें मेलजोल के आधार पर एक तंतु बन सके।

यह तो हमने ऊपर कहा ही है कि विज्ञान और नियोजन के इन दोनों नज़रियों में आत्मनिर्भरता का विचार प्रमुख स्थान रखता था। किन्तु इन दोनों में आत्मनिर्भरता का अर्थ अलग-अलग था। स्वदेशी-ग्रामस्वराज की कल्पना में आत्मनिर्भरता का अर्थ होता है कि इस देश के छोटे-छोटे इलाकों की अपने-आप में आत्मनिर्भरता और उस पर आधारित पूरे देश की आत्मनिर्भरता। जबकि केन्द्रीय नियोजन वाले विचार में राष्ट्र की एक इकाई के रूप में आत्मनिर्भरता महत्वपूर्ण है अर्थात् अन्य राष्ट्रों के सापेक्ष इस देश की आत्मनिर्भरता।

आज विज्ञान और नियोजन का यह केन्द्रीय स्वरूप बहुत सारे सवाल खड़े कर रहा है। बजाय विविधता को आपस में जोड़ने के इस ढांचे ने विविधता को समरूपता में बदलने का काम किया। इसी तरह के केन्द्रीय नियोजन के चलते कई सारे सामाजिक, पर्यावरण संबंधी सवाल खड़े हो गए हैं। इस तरक्की का प्रकृति से रिश्ता भी टूटता जा रहा है। इसके कई उदाहरण हमारे सामने हैं। इनका ज़िक्र इन फ़िल्मों में भी हुआ है और अगली कड़ी में इनमें से कुछ पर और विस्तार से चर्चा भी की है।

विज्ञान के इस ढांचे का एक लक्ष्य यह था कि प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों को शोधकार्य की सुविधाएं मिल सकें। इस संस्थान आधारित केन्द्रीयकृत ढांचे का एक परिणाम यह हुआ कि हमारे वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में धंसते गए और समाज से कटते गए। आम समाज की समस्याएं हमारे वैज्ञानिक शोध में या तो झलकना ही बन्द हो गई या फिर बहुत अलग ढंग से झलकने लगी। विज्ञान और समाज की दूरी बढ़ती गई।

किन्तु हाल ही में एक कुष्ठ रोग वैज्ञानिक ने इस संबंध में अपने संस्थान की आलोचना की है। उनका कहना है कि उनकी प्रतिभा कुंठित हो रही है, उन पर पाबन्दियां लगाई जा रही हैं। उनका मानना है कि इस देश पर, विदेशों से आयातित, ऐसी चीज़ें थोप दी जा रही हैं जो यहां के पर्यावरण व सामाजिक स्थिति के अनुकूल नहीं है जबकि इनके देसी (याने देश की प्रयोगशालाओं में विकसित) विकल्प मौजूद हैं। विज्ञान व उसके लागू किए जाने की ऐसी खुली आलोचना का स्वागत किया जाना चाहिए। परन्तु इसका एक और पक्ष है। आज वैज्ञानिक इस बात को उठा रहे हैं कि किसी भी वस्तु को लागू करने से पहले उसको हमारे पर्यावरण में परखना चाहिए क्योंकि शायद उन्हें लगता है कि उनके खुद के शोधकार्य की उपेक्षा हो रही है और उन्हें तवज्जो नहीं दी जा रही है। परन्तु हमारे ही देश की कई प्रयोगशालाओं में हुए किसी शोध के परिणामों को बिना परखे समूचे देश पर लागू करना भी तो ठीक उसी तरह की बात है आखिर इस देश का पर्यावरण और सामाजिक परिस्थितियां हर जगह एक सी तो नहीं है। केन्द्रीकृत ढांचों का यह विरोधाभास आज कई जगह नज़र आने लगा है। और यही आलोचना वैज्ञानिक शोध के हर क्षेत्र पर लागू होती है।

आज भी हमारे सामने कई अंतर्विरोधी प्रवाह हैं। हमने पूरे इतिहास में बार-बार देखा कि इस तरह के प्रवाहों का आपसी मेलजोल, आदान-प्रदान, नए विचारों, नई संस्कृतियों को जन्म देता है। आज विज्ञान एक स्वतंत्र स्वायत्त संस्थान सा नज़र आता है। परन्तु जब तक यह इन प्रवाहों का सामना नहीं करता तब तक आगे प्रगति के रास्ते बंद से दिखते हैं।

र घु

हरित क्रांति से आगे

हरित क्रांति एक बहुचर्चित विषय है। इसके समर्थक और आलोचक स्पष्ट खेमों में बंटे हुए हैं। इनकी मुठभेड़ में यदि कोई तीसरा फंस जाए, तो उस पर बुरी बीतती है। वह यदि अपने मन की बात भी कहे, तो उसे 'इस पार या उस पार' की नज़र से देखा जाता है। हमारे साथ ऐसा ही कुछ हुआ। जब हमने ये फ़िल्में कहीं-कहीं दिखाईं तो हरित क्रांति के समर्थक तो असंतुष्ट हुए ही, आलोचक भी नाराज़ हो गए। और यह बात सिर्फ़ हरित क्रांति को लेकर हुई हो, ऐसा नहीं है। परन्तु अभी तो बात हरित क्रांति की है। इस पर कुछ कहने की ज़िम्मेदारी मुझे सौंपी गई है। शायद इसलिए भी कि मैं बहस ज्यादा करता हूँ और ज्यादा तीखी करता हूँ। आपको इस बारे में पहले ही सावधान कर दूं।

मैं एक और बात से भी आपको आगाह कर देना ज़रूरी समझता हूँ। हालांकि हम हरित क्रांति की वैज्ञानिक समीक्षा करेंगे, और वह महत्वपूर्ण भी है, परन्तु यह मानना गलत होगा कि हरित क्रांति को हमने इस देश में उसके वैज्ञानिक गुणों के आधार पर अपनाया था। उसके चुनाव के पीछे कई सारे राजनैतिक आर्थिक कारण थे, जो टेक्नॉलॉजी के चुनाव में हमेशा ही रहे हैं।

एक बात पहले ही कह दूं, जो फ़िल्म में भी स्पष्ट है। कुल मिलाकर हमारा मत हरित क्रांति से उभरी प्रक्रिया की आलोचना की है। हरित क्रांति की ये प्रक्रिया एक पूंजी व उर्जा आधारित पैकेज के रूप में आती है— संकर बीज, काफी मात्रा में रासायनिक खाद, भरपूर पानी, काफी मात्रा में कीटनाशक और इन सबके परिणाम स्वरूप बड़ी जोत। इसका हर अंग अतिरेक पूर्ण है। इसका हरेक पहलू ऐसा है कि हरित क्रांति कुछ क्षेत्रों तक और कुछ आर्थिक तबकों तक ही सीमित रह जाती है। यह पर्यावरण की दृष्टि से हानिकारक भी है। तो विकल्प क्या हो?

यहीं से एक दूसरी बात शुरू होती है— अपने आप एक विकल्प बन जाता है कि संकर बीज या किसी भी बाहरी प्रजाति को पूरी तरह नामंजूर करना, रासायनिक खाद का कतई उपयोग न करना, सिंचाई के पानी का उपयोग न करना, रासायनिक कीटनाशकों का पूरी तरह बहिष्कार करना। बगैर जुताई की जैविक खेती। एक पूरी तरह संतुलित खेती। हमने फ़िल्मों में ऐसा नहीं कहा है और यही बात हरित क्रांति के आलोचकों की नज़र में एक बड़ी खामी बन जाती है। दूसरी तरफ समर्थक भी हम पर दोगलेपन का आरोप लगा सकते हैं। इसलिए कुछ बातें स्पष्ट करना मैं ज़रूरी समझता हूँ।

किसी वनस्पति से हमारा कोई झगड़ा नहीं है— चाहे वह 'विदेशी' ही क्यों न हो। नारियल, हरी मिर्च, आलू, वगैरह विदेशी ही थे— ये यहां आए और यहीं के होकर रह गए। इसी तरह से हम संकर बीजों के खिलाफ भी नहीं हैं। हमारा विरोध है जिस तरह से और जिन बीजों का संकरण किया जा रहा है उससे। संकरण और सुधार में यदि विविधता के आधार पर सुधार का सिलसिला चलता रहे तो उसमें संकरण की भी एक भूमिका हो सकती है।

यही बात मैं कहूंगा रासायनिक खाद के बारे में। इस पूरी धारणा में से एक बात को गोल कर दिया गया है। वह बात है प्राथमिक या बुनियादी उत्पादन क्षमता की। यदि हम आज के बाहरी तामझाम हटा दें तो जो मिट्टी की उर्वरता रहेगी उसे हम मूल उर्वरता कह सकते हैं। खाद के उपयोग का मकसद होना चाहिए इस मूल उर्वरता को बनाए रखें और बढ़ाएं। हरित क्रांति के मामले में इस मूल उर्वरता को मारकर सिर्फ बाहरी संसाधनों के आधार पर सेकण्डरी उर्वरता को आधार बनाया गया जो क्षणिक और मिथ्या है। खाद का इस तरीके से

हरित क्रांति का पिटारा– पानी, संकर बीज, रासायनिक खाद और कीटनाशक दवाइयां

उपयोग करने से हमारा झगड़ा ज़रूर है। किन्तु रासायनिक खाद का उपयोग मूल उर्वरता बढ़ाने की दृष्टि से भी किया जा सकता है। इसके दो उदाहरण तो मैं स्पष्ट रूप से दे सकता हूं। एक है रीसायक्लिंग के ज़रिये जैव पदार्थ बढ़ाने का प्रयास करना और दूसरी है फ़ास्फ़ोरस के संदर्भ में। इस उपमहाद्वीप में मिट्टी में फ़ास्फ़ोरस की कमी है और कचरे को रीसायकल करने से मिट्टी में फ़ास्फ़ोरस नहीं पहुंचता क्योंकि ज़्यादातर फ़ास्फ़ोरस बीजों व अन्य खाने योग्य हिस्सों में होता है जो हम निकाल लेते हैं।

यही बात रासायनिक कीटनाशकों की भी है। सिर्फ़ हमें अपने सोच में बदलाव लाना होगा। कीटनाशकों को कीट— उन्मूलन या कीड़ों के सफ़ाए का साधन न मानकर, उन्हें कीट— नियन्त्रण का साधन मानना होगा। हम शायद नहीं जानते कि एक अंतर्राष्ट्रीय टिड्डी नियंत्रण कार्यक्रम चलाया जा रहा है (टिड्डी उन्मूलन का नहीं)। इसका तरीका यह है कि दुनिया भर में टिड्डियों की आबादी पर नज़र रखी जाती है। जब भी यह आबादी एक हद से ऊपर जाती है तो इसको काबू करके वापिस कम कर दिया जाता है — टिड्डियों का सफ़ाया नहीं किया जाता। यह आज सबसे सफल कार्यक्रम है। दूसरी तरफ़ कपास कीट सफ़ाया कार्यक्रम कपास सफ़ाया कार्यक्रम बनता जा रहा है। दोनों ही में रासायनिक कीटनाशकों का उपयोग होता है पर उनके आधार बिलकुल अलग-अलग हैं।

और आखिर में पानी। खेती के लिए पानी आज एक राजनैतिक वस्तु है। राजनैतिक तौर पर एर बार हासिल कर लेने के बाद इसकी कोई कीमत नहीं। हरित क्रांति में और गन्ने जैसी फ़सलों में इस कदर पानी के उपयोग की यही वजह है। आज खेती में कितना पानी बरबाद होता है यह सिद्ध करना और उसके आधार पर बड़े बांधों की अनुपयोगिता सिद्ध करना बहुत आसान है। लेकिन इसी पानी को एक अलग दृष्टिकोण से देखना भी तो संभव है। हमारे यहां बारिश का वितरण ऐसा है कि सिंचाई के सीमित साधन हुए बगैर उत्पादन की गारन्टी नहीं है। आज इन बांधों का पानी एक छोटे से तबके के खेतों में बरबादीपूर्ण तरीके से इस्तेमाल हो रहा है। इसके बजाय यदि इसी पानी का उपयोग बांध के ऊपरी व नीचले दोनों तरफ के खेतों में सारे किसानों के लिए समान रूप से लिया जाए, तो उनकी जीविका की गारन्टी होगी। और वह भी बहुत से किसानों के लिए उनके आनिकट क्षेत्र के आधे रकबे में। तब शायद किसानों का एक बड़ा तबका ऐसी स्थिति में आ जाए कि वह बाकी ज़मीन पर कुछ पेड़ लगाने, पर्यावरण को नुकसान पहुंचाए बगैर जीविका की बात सोच सकें। और अब ऐसे कार्यक्रम सोचे भी जा रहे हैं जैसे कि बलवाडी-तांदूलवाडी में जो हमने फ़िल्मों में दिखाया है।

खैर, मुझे लगता है कि मैं जरा ज्यादा ही तैश में आ गया हूं। हरित क्रांति के अधिकांश आलोचक ऐसे अतिवादी नज़रिये को नहीं मानते। पर एकाध पहलू पर ऐसे अतिवादी विचार बहुत लोगों के हैं। अपने स्वभाव के मुताबिक मैं कई बार उनसे खीझ उठता हूं। क्योंकि मुझे लगता है कि विज्ञान के सहारे एक नया भविष्य बनाने की बजाय, विज्ञान को अपनी ज़रूरतों के मुताबिक ढालने की बजाय, वे दिखने में आसान किन्तु आम लोगों के लिए असंभव रास्ता ढूंढ निकालते हैं।

शायद मेरी खीझ भी थोड़ी अनुचित है। मैंने एक अर्थ में विज्ञान को अंदर से देखा है। लेकिन कई लोगों तक — विज्ञान पढ़ने वालों तक भी, विज्ञान एक उत्पाद, एक तैयार माल की तरह पहुंचता है। तो उनका भी दोष नहीं कि वे विज्ञान को एक तैयार माल के रूप में देखकर, माल के साथ-साथ विज्ञान को भी नकार देते हैं।

“विकास चाहिये, विनाश नहीं”

नर्मदा घाटी की प्रस्तावित योजना। यह मान चित्र सांकेतिक है, सटीक नहीं

होशंगाबाद में नर्मदा के घाट पर शाम गुज़ारना मुझ जैसे बंबईया के लिए एक अनूठा अनुभव था। शहर के लोग घाट पर घूमने आते, औरतें छोटे-छोटे दिये जला नदी पर तैरा देतीं, नदी की पूजा होती, उसमें स्नान किया जाता। जीवन का एक अंतरंग हिस्सा ही थी वह नदी, उसका घाट और उस पर बिताई गई शाम। अचरज इस बात पर होता है कि कुछ लोग फिर भी मानते हैं कि नर्मदा का पानी फालतू बहकर समुद्र में मिल जाता है। दूर तक तैरते, टिमटिमाते दियों को देखते हुए एक सवाल मेरे कानों में गूंजता रहा, 'नदियों के ईर्द-गिर्द बसे जीवन से लोगों को अलग करना संभव भी है क्या?' ऐसे ही क्या प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित जीवन व्यतीत करने वाले आदिवासियों पर एक बाहरी संस्कृति थोपने का हक किसीको है?

यही सवाल और उसके साथ उठने वाले मुद्दों पर ही तो बात कर रहे थे 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' में सक्रिय लोग। विकास, प्रगति, राष्ट्रहित, उत्पादन... हर एक पर सवाल खड़ा कर देने वाला यह आंदोलन आज हमें आधुनिक जीवन, विज्ञान और समाज को पुनः परिभाषित करने पर मजबूर कर रहा है। "विकास चाहिए, विनाश नहीं" के नारे के तहत जुड़े लोगों ने पहला मुख्य सवाल खड़ा किया है कि विकास क्या है?

विशालकाय योजनाओं को टेक्नोशाही या टेक्नोराज का खिताब देते हुए आंदोलन के एक कार्यकर्ता ने एक मौजूं सवाल उठाया कि "महज़ बड़ी योजना बांध कर ही हम विकसित हो सकते हैं क्या? क्या इन्हें बनाना मात्र हमारा लक्ष्य हो सकता है?" बड़े बांध बना कर अपना विकसित हाई-टेक ज्ञान दिखाना यह तो लक्ष्य नहीं होता। लक्ष्य होता है सिंचाई और बिजली पाना ताकि उत्पादन बढ़ सके और लोग खुशहाल हो सकें परंतु ज्यादा उत्पादन का मतलब ज्यादा से ज्यादा लोगों की ज़रूरतें पूरी हों इतना सीधा तो नहीं है।

"इस विषय को अभी के लिए नज़रअंदाज़ कर दें तब भी एक और सवाल तो सिर उठाता ही है, कि क्या सिंचाई और बिजली पाने के लिए यही उपाय है? क्या इसके लिए यही ज़रूरी है कि सरदार सरोवर जैसे बांध बांधे जाएं, जो लाखों लोगों को बेघर कर दें, हज़ारों हेक्टर जंगल और उपजाऊ ज़मीन डूबो दें, मिट्टी भर जाने के कारण अकाल मौत मर जाएं और जब तक जिएं तब तक एक आसन्न भूकम्प का खतरा पूरे इलाके पर मंडराता रहे?" उत्तेजित हो वह कार्यकर्ता बोले जा रही थी। मुझे मालूम है कि उसका यह सवाल तथ्यों पर आधारित है। बड़े बांधों के अनुभवों और अध्ययन के आधार पर ही तो ये सवाल उठाए जा रहे हैं। बड़े बांधों की आयु को लेकर काफ़ी शंकाएं पैदा हो चुकी हैं। अधिकांश बड़े बांधों में मिट्टी भरने की दर पहले आंकी गई दर से कहीं ज्यादा रही है।

सवाल जो मेरे मन में उठा वह यह कि विकास और इस तरह की परियोजनाओं के संदर्भ में हमारी दूरदर्शिता का दायरा क्या है? दस साल, बीस साल, सौ साल...? किस आधार पर हम यह तय करें कि फ़लां साल टिकने वाली योजना से हमारा विकास संभव है? जानता हूं कि कोई एक तय परिभाषित आधार नहीं हो सकता पर किन कारकों से यह आधार तय हो सकता है इस पर चर्चा तो कर ही सकते हैं।

दूरदर्शिता के इस प्रश्न से और दूरगामी प्रभावों से जुड़ा एक अहम् सवाल है पर्यावरण का। इस तरह के बांध में कटने वाले जंगल, नष्ट

होने वाली उर्वरता की भरपाई कैसे की जा सकती है? लंबे अरसे के बाद इनके कारण होने वाले अन्य पर्यावरण संबंधित प्रश्नों का हल कैसे हो सकेगा? प्राकृतिक बदलाव के कारण मौसम और भौगोलिक परिवर्तन हमने काफ़ी कुछ सहे हैं। पर हमारे द्वारा किए गए हस्तक्षेप के कारण प्रकृति और इस पृथ्वी को होनेवाली क्षति को हम कैसे पूरा करेंगे? इन समस्याओं का निराकरण कैसे करेंगे?

इन योजनाओं के हिमायती तो इन पेचीदे सवालों का सरल सा उत्तर ढूंढने में माहिर हैं। सबसे पहले तो उपभोगवाद से उपजी उनकी समझ के अनुसार सभी चीज़ों और भावनाओं को रुपए में तबदील किया जा सकता है। सो लाभ हानि का ब्यौरा रुपयों में ही होता है। जंगलों को काटना तो योजना के लिए ज़रूरी है। यह करने के बाद भी उनके अनुसार योजना लाभदायक ही रहती है। अब ऐसा सुन रहे हैं कि जितने जंगल डूबे हैं उतने ही और किसी जगह पर लगाने की योजना हैं। चूंकि एक जगह पर इतनी सारी ज़मीन मिलना मुश्किल है इसलिए विकल्प यह है कि थोड़े-थोड़े पेड़ कई जगहों पर लगाए जाएं। प्लान्टेशन और जंगल में भेद न कर पाना यह इस घटकवादी विकास की मजबूरी और विशेषता है।

इन प्लान्टेशननुमा जंगलों के लिए फिर एक बार ज़मीन ली जा रही है आदिवासियों को विस्थापित करके, उन्हें बेदखल करके! यह जानकारी भी मुझे आंदोलन के लोगों से ही प्राप्त हुई। हाल ही में आंदोलन में जुड़े नर्मदा घाटी के लोगों ने सरकार के खिलाफ़ आंदोलन को एक नया मोड़ दिया है।

"हम स्वास्थ्य और शिक्षा को छोड़ किसी भी सरकारी डिपार्टमेन्ट के लोगों को हमारे गांवों में घुसने नहीं देंगे। हम जनगणना में हिस्सा नहीं लेंगे और ना ही चुनाव में। जब यह सरकार हमारी कद्र ही नहीं करती, जब हमारे जीने-मरने से उसे कोई फर्क नही पड़ता तब हम क्यों उससे कुछ सरोकार रखें। उनके लिए तो हम ऐसे ही ज़िंदा नहीं है, अब हमारे लिए भी उनका अस्तित्व नहीं रहेगा।" ऐसी ही कुछ भावनाएं बलियापाल के लोगों ने भी मिसाइल रेन्ज बनने के खिलाफ छेड़े गए संघर्ष के दौरान व्यक्त की थीं।

मैं सच बहुत परेशान हो जाता हूं। सरकार तो राष्ट्र के हित की दुहाई देते नहीं थकती। कुछ लोगों का इन बांधों और योजनाओं से फायदा

विकास का एक वैकल्पिक उदाहरण। महाराष्ट्र के बलावडी का बली राजा स्मृति धरण। सूखाग्रस्त क्षेत्र में यर्ला नदी पर छोटा-सा बांध जो बनाया गया है स्थानीय संसाधनों और सामुहिक प्रयासों से

होता भी हो तब भी और इतने सारों के नुकसान को कैसे नज़रअंदाज़ किया जा सकता है? एक तबके का फ़ायदा ही यदि राष्ट्रहित ठहराया जाए और बाकियों का नुकसान इस 'तथाकथित राष्ट्रहित' के लिए दी गई कुर्बानी, तो हमारा सारा नज़रिया ही गड़बड़ाया हुआ लगता है। एक राष्ट्र में, जो तहज़ीब की, भूगोल की, जीवनशैली की, हर किस्म की विविधता से भरा हुआ है, वहां विकास से जुड़ा हुआ पहला सवाल है, "किसका विकास और किसकी कीमत पर?"

आज नर्मदा योजना में लोगों को एक दूसरे के खिलाफ़ ला खड़ा किया है। कच्छ जैसे सूखे प्रदेशों में और गुजरात के अन्य क्षेत्रों में जहां पीने के पानी की बहुत कमी है वहां पानी पहुंचने का एक सपना सा नर्मदा परियोजना बुन रही है। उसके साकार होने में बाधा पहुंचाते से लगते घाटी के लोग, इन सूखे प्रदेशों के लोगों के दुश्मन के रूप में पेश किए जाते हैं। परंतु इस आंदोलन के ज़रिये उठाए गए सवाल तो हम सभी के हैं। इस परियोजना में नुकसान हो रहा है घाटी के लोगों का। पर किसी और योजना में कोई दूसरे ही दो समूहों के हित यों एक दूसरे से टकराते हुए लगेंगे। बिहार का कोयलकारो, टिहरी, मध्य प्रदेश में बोधघाट, उड़ीसा में बलियापाल, कर्नाटक में कुसनूर, महाराष्ट्र का इंचमपल्ली, केरल में खामोश घाटी, राजस्थान में रावतभाटा, गुजरात में उकाई... न जाने कितनी बड़ी सूचि है इस तरह से विकास योजनाओं में एक दूसरे से टकराते लोगों की।

इन सब जगहों में लोग विरोध में खड़े हुए हैं। क्या इन सबको राष्ट्रविरोधी, विकास-विरोधी, पर्यावरण के दीवाने, विदेशी साज़िश के शिकार वगैरह उपाधियां दे कर मुद्दों को टाला जा सकता है? विकास की अन्य परिभाषाओं को खोजना, निहायत अलग ढंग की योजनाएं बनाना मुझे बहुत ज़रूरी लगता है। फ़िल्मों के दौरान ही बलीराजा बांध भी देखा था। अकाल पीड़ित लोगों द्वारा इकट्ठा आकर बनाया गया यह बांध, यह भी तो विकास का ही प्रतीक है। लोगों की भागीदारी के साथ, जनविशेष को मद्देनज़र रख बनाई गई ये योजनाएं इनसे तो हमें सीखना ही है। आंदोलन में जुड़े इन हज़ारों लोगों और उनके द्वारा उठाए गए सवालों से भी सीखना है। उनके सवालों के उत्तर ढूंढना है, एक समग्र नज़रिया अपना कर।

इस खोज में हम सभी लोगों की एक भूमिका है। विज्ञान में रुचि रखने वाले, उससे संबंधित हर व्यक्ति की तो और भी ज्यादा। क्योंकि आज विकास परिभाषित किया जा रहा है आधुनिक विज्ञान और टेक्नॉलॉजी के तहत प्रकृति के हर पहलू पर अधिकतम नियंत्रण पाने की इस होड़ में। और सब चीज़ें नकारी जा रही हैं। हम कहीं अपने घटकवादी दृष्टिकोण में फंस जाते हैं। एक लक्ष्य पर नज़र केन्द्रित कर अन्य सारे पहलुओं को भूल से जाते हैं।

पर अपनी सोच और समझ की सीमाओं को पहचानना, अपने अनुभवों से सीखना और अपने दायरों को विस्तृत करना यह भी तो कहीं विज्ञान का ही अंग है ना? आज कुछ गिने चुने इंजीनियरों को भी जब इस सारे उहापोह में बड़े बांधों से संबंधित अपने तकनीकी ज्ञान पर ही पुनर्विचार करते सुनता हूं तो एक आशा बंधती है। इन सारे 'सिरफिरे' आंदोलनकारियों का विज्ञान के इस विकास में योगदान बहुत ही महत्वपूर्ण लगता है।

श ह ना ज़

प्रजनन पर नियंत्रण

विज्ञान और टेक्नॉलॉजी की बातें करते रहे हम इतनी फ़िल्मों में। प्रकृति की प्रजनन क्षमता पर हमने किस तरह से काबू पाया, किस तरह से उसके साथ विज्ञान का संबंध बदला, इसकी चर्चा तो हम लगातार करते रहे। पर मानव प्रजनन की बात जाने क्यों जुड़ ही नहीं पाई। पैदावार घटाने-बढ़ाने के मकसद से समय-समय पर बनाए गए औज़ारों की चर्चा बहुत अहम रही है। साधारणतया production या पैदावार पर इतनी चर्चा हुई पर reproduction या प्रजनन पर बिलकुल भी नहीं।

ऐसा तो नहीं है कि प्रजनन, विज्ञान का लक्ष्य नहीं रहा। प्रकृति की सारी प्रक्रियाओं में सबसे गूढ़ रहा है प्रजनन का विषय, खासकर इंसानों का प्रजनन। स्त्री-पुरुष संबंधों का यह स्वरूप, इसे समझने और हस्तक्षेप करने के विज्ञान के तरीके हमारी खोज का हिस्सा बनना बहुत ज़रूरी लगता है मुझे। खास कर आज के माहौल में जब प्रजनन और उसमें हस्तक्षेप आज वैज्ञानिक शोध का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है।

औरतों के मासिक चक्र की बातें, विज्ञापनों के ज़रिए ही सही, पर आज खुले आम हो रही हैं। वैसे तो यौन के संबंध में यों खुलेपन से बातें करना हमारी 'संस्कृति' में फ़िट नहीं होता। परन्तु क्या यह संस्कृति हमेशा ही इस मामले में चुप्पी साधे यों अनभिज्ञ बनी बैठी रही? प्रकृति के इस 'चमत्कार' ने क्या इंसान को आकर्षित न किया होगा? प्रजनन शक्ति की पूजा, मंदिरों की मूर्तियां, शैल चित्रों में दिखने वाले चक्र, सभी आधुनिक 'संस्कृति' की चुप्पी से पहले के सबूत हैं। ऐसा भी नहीं है कि आज हम इन चीज़ों पर बात नहीं करते। एक खुलेपन की कमी ज़रूर है। परन्तु समाज के इस रवैये का विज्ञान पर क्या असर पड़ा? इस इतिहास की खोज भी हम पूरी तरह नहीं कर पाए हैं। यह भी शायद इसीलिए क्योंकि विज्ञान के इतिहासकारों के लिए भी प्रजनन और उसके प्रति रवैया इतना महत्वपूर्ण नहीं रहा जितना औद्योगिक उत्पादन।

मैं केवल बतौर उदाहरण एलौपैथी के रवैये की बात करूंगी, जो आज की प्रमुख व प्रचलित चिकित्सा प्रणाली है। औरत के मासिक चक्र के दौरान शरीर में होने वाले रासायनिक परिवर्तनों की पूरी-पूरी

जानकारी 1950 के लगभग ही प्राप्त हो सकी। शायद तब तक यह जानना इतना ज़रूरी भी न लगा हो। बहरहाल, इस सारी जानकारी के हासिल हो जाने के बाद भी समाज में माहवारी को अशुद्ध मानना, नापाक मानना वगैरह कम हुआ हो, ऐसा तो नहीं लगता। औरतों के मामले में ऐसा दोहरा नज़रिया हमेशा से ही अपनाया गया है। जैसे एक तरफ तो उनके शरीर के इस महत्वपूर्ण कार्य को पूजा गया है (प्रजनन से जुड़े अनुष्ठान आज भी होते हैं) या दूसरी तरफ इन्हीं के कारण उनको अशुभ मानकर सताया गया है। विज्ञान के निहायत तर्क संगत तरीकों से मिली जानकारी ने इन बेतुकी प्रथाओं और उस पूरी समझ को कतई प्रभावित नहीं किया, जिसके आधार पर औरतों का शोषण होता है। दरअसल, 1950 के बाद के वैज्ञानिक शोध इस सामाजिक नज़रिये को मद्देनज़र रखकर ही हुए हैं।

विज्ञान की इस ऐतिहासिक खोज के दौरान यह बात तो बार-बार नज़र आई थी कि समाज अपनी ज़रूरत के मुताबिक विज्ञान को एक हद तक अपनाता है। पर अपनाए गए हैं केवल अन्तिम समाधान, अन्तिम उत्पादन। उन तक पहुंचने के तरीके को, उसके साथ पनपे दर्शन को अपनाना कभी इतनी जल्दी न हो सका। क्वान्टम यांत्रिकी संबंध में भी तो यही नज़र आता है। उसके आधार पर प्राप्त उत्तरों का तो आज विज्ञान और टेक्नॉलॉजी के हर क्षेत्र में धड़ल्ले से उपयोग हो रहा है पर उसके तहत विकसित दर्शन को वैज्ञानिक भी आत्मसात् नहीं कर पा रहे हैं। ऐसा ही कुछ प्रजनन के मामले में भी हुआ। औरत के शरीर के बारे में जानकारी मिलने पर, यह समझ लेने पर कि प्रजनन का अर्थ क्या है, यह तो नहीं हुआ कि समाज में औरतों का दर्ज़ा बदला हो। परन्तु हर चीज़ पर नियंत्रण पा लेने की मनुष्य की हवस इतनी हद तक बढ़ गई कि प्रजनन की प्रक्रिया के हर चरण पर आज हस्तक्षेप संभव हो गया है और किया भी जा रहा है। जनन क्षमता याने हमारी रोज़मर्रा की ज़िंदगी का महत्वपूर्ण हिस्सा— महज 40 सालों में हर प्रकार के खिलवाड़ का शिकार बनता नज़र आ रहा है।

प्रजनन क्षमता पर इस तरह ध्यान केन्द्रित तब किया गया, जब बढ़ती ज़रूरतों और प्राकृतिक संसाधनों की समस्या के सवाल को बढ़ती

आबादी के सवाल के रूप में देखा जाने लगा। दुनिया के कुछ हिस्सों में बढ़ती गरीबी की वजह बढ़ती आबादी बताई गई। फिर बढ़ती आबादी को कम करने के प्रयास ज़ारी हुए। इसका एकमात्र तरीका यह माना गया कि बच्चों का जन्म रोका जाए। चूंकि बच्चे पैदा होते हैं औरत के शरीर से, इसलिए औरत के शरीर पर नियंत्रण और उसके कामकाज में दखलंदाज़ी। यह हल था हमारे जैसे 'पिछड़े' या विकासशील देशों के लिए।

विकसित देशों में स्थिति कुछ अलग थी। वहां आबादी कम हो रही थी। इसके लिए ज़रूरी था कि जन्म दर बढ़ाई जाए। फिर से किया गया प्रजनन की प्रक्रिया में हस्तक्षेप। शादीशुदा किन्तु निसंतान दंपतियों के लिए परखनली शिशु जैसी तकनीकें इस्तेमाल की गई। यह सारा हस्तक्षेप भी औरतों की प्रजनन क्रिया और उनके शरीरों में ही हुआ।

घटती-बढ़ती आबादी की गुत्थियों को समझे बगैर यह था समाज और विज्ञान की साज़िश में से निकला 'समाधान'। स्त्री-पुरुष संबंधों का एक आसान सा समीकरण— प्रजनन पर नियंत्रण। नियंत्रण और हस्तक्षेप की हद यह है कि आज 'सामान्य' प्रजनन की गुंजाइश खत्म होती जा रही है। लगभग हर कदम पर कोई न कोई तकनीक मौजूद है। विज्ञान को यह कतई मंज़ूर नहीं कि प्रकृति को अपने ढंग से चलने दिया जाए। विज्ञान में एक प्रमुख धारा यह लगती है कि 'अपने-आप' जो कुछ होता है, वह कमोबेश गलत ही होगा। उसमें टांग अड़ाकर ठीक करना ज़रूरी है। इस नियंत्रण की सबसे ताज़ा मिसाल यह है कि प्रजनन क्षमता को एक रोग मान लिया गया है। इस 'रोग' से औरतों का बचाव करने के लिए प्रतिरोधी टीके बनाए गए हैं। इस शोध में भारतीय वैज्ञानिक एक अग्रणी भूमिका निभा रहे हैं। बहुत नाम भी कमा रहे हैं, अपने लिए, 'देश' के लिए।

विज्ञान के इस हस्तक्षेप को एक तरह से सामाजिक मान्यता भी मिल रही है। आज मातृत्व का अर्थ गर्भवती होकर बच्चे को जन्म देना नहीं रह गया है। आज मातृत्व का अर्थ है कदम-कदम पर ढेरों तकनीकों
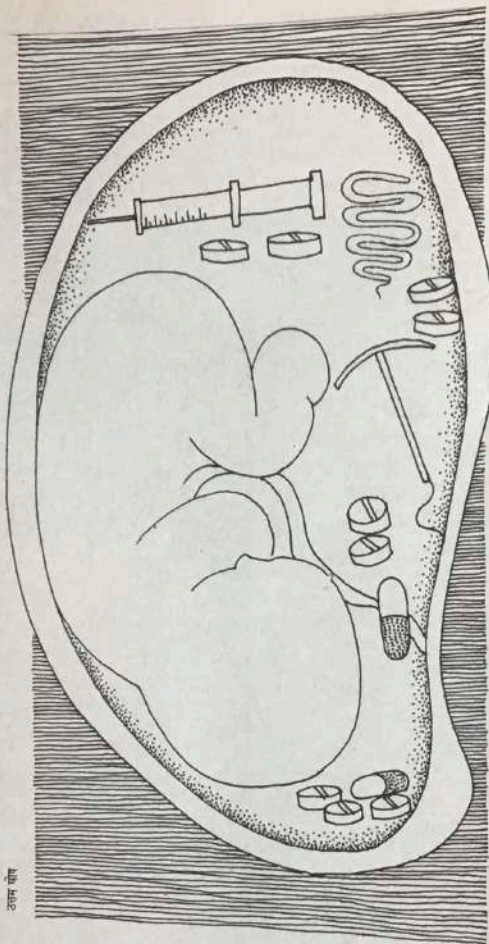
की भूलभुलैया में से गुज़रना। इसे एक सामान्य बात माना जाने लगा है। यदि कोई औरत इससे इन्कार करे तो उसे असामान्य माना जाता है। विज्ञान ने 'सामान्य'— 'असामान्य' की परिभाषा ही जैसे बदल दी है।

आज विज्ञान विश्वव्यापी है। पूर्व और पश्चिम का विज्ञान जैसे विभाजन करना बहुत मुश्किल है। अलग-अलग माहौल में उसका भेष ज़रूर अलग-अलग होता है पर उसका सोच, उसका नज़रिया लगभग एक जैसा ही है। जैसे प्रजनन के संबंध में ही देखें। हर जगह विकसित किए जा रहे विज्ञान का नज़रिया घोर घटकवादी है। प्रजनन की क्षमता रखने वाले औरत के पूरे शरीर में से केवल उसके प्रजनन तंत्र पर गौर करना और उसमें भी उसके सम्पूर्ण प्रजनन को गर्भाशय में केन्द्रित करके समझना, यह विकास पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण की सीमाओं को नकारता सा है।

अलबत्ता, औरत दुनिया के किस हिस्से की है, किस वर्ग की है, किस जाति या नस्ल की है, इससे खिलवाड़ कम-ज्यादा ज़रूर होता है। इसीलिए तो दुनिया के एक हिस्से में हानिकारक करार दिए गर्भनिरोध के तरीके, अन्य हिस्सों की औरतों पर खुले आम इस्तेमाल किए जाते हैं। तभी तो कुछ औरतों का गिनी पिग की तरह इस्तेमाल किया जाता है और तभी तो कुछ औरतों के गर्भ भाड़े पर लिए जाते हैं, औरों के लिए।

हमारे शरीर के साथ इस खिलवाड़ से मैं कभी-कभी इतनी बौखला जाती हूं कि अपने गुस्से पर काबू नहीं रख पाती। शहरों की सड़कों पर चलते हुए मुझे महसूस होती एक असुरक्षा— किन्हीं अनजानी आंखों का मुझे घूरना सिर्फ एक नारी शरीर के रूप में। मेरे शरीर के मासिक क्रम से जुड़े इस समाज के बेमानी तर्क। एक घटकवादी विज्ञान का मेरे शरीर और उसकी प्रजनन शक्ति का खण्डित नज़रिया और उस पर नियंत्रण का सिलसिला। इन सबको जोड़ने वाले जाल की जकड़न से छूटने की हर कोशिश करने का हमारा सामूहिक संकल्प ही इस गुस्से की एक सकारात्मक अभिव्यक्ति बन सकेगा।

स्वयंपूर्णता और आत्मनिर्भरता

कभी-कभी मैं कोई बात सैद्धांतिक रूप से पढ़ लेती हूं, समझ भी लेती हूँ। फिर कोई घटना हो जाती है या चर्चा के दौरान कोई कुछ कह देता है, तो मैं हैरान रह जाती हूँ कि अरे, इतना भी नहीं सोच पाई मैं! असल में होता यह है कि हम उतना ही समझते है, जितना हम चाहते हैं।

ऐसा ही एक वाकया मुझे याद है जब पिछले साल मैं शहनाज़ से मिलने उसके घर गई थी। घर में पैर रखा, तो वातावरण भारी और गंभीर था। शहनाज़ के कुछ वैज्ञानिक दोस्त मौजूद थे और चर्चा हो रही थी 'ब्रेन-ड्रेन' याने दिमागी लोगों के पलायन की।

चर्चा शुरू हुई थी एक अखबारी रपट से। किसी राष्ट्रीय संस्थान में काम करने वाली जीव विज्ञान की एक शोधकर्ता ने अपने संस्थान के रवैये की भरपूर आलोचना करते हुए कहा था कि अगर यों ही चलता रहा तो भारतीय वैज्ञानिकों को 'भारत छोड़ो' आंदोलन छेड़ना पड़ेगा।

किसी को यह पसंद तो नहीं था परन्तु सभी अपने-अपने संस्थानों से असंतुष्ट भी थे। अजीब सी उलझन का माहौल था। यह तो उन्हें मालूम ही था कि एक-एक वैज्ञानिक तैयार करने की सामाजिक लागत कितनी बड़ी होती है। एक तरह से वैज्ञानिक तैयार करने का बोझ तो हम सहते हैं, पर लाभ किसी और को मिलता है। याने लागत पर लाभ सिफ़र।

दूसरी वे यह भी कह रहे थे कि यहां शोध सुविधाएं कम हैं, पैसा नहीं होता, शोध संस्थाओं का प्रशासन का ढांचा शोध के अनुकूल नहीं है, वगैरह।

ऐसे मौकों पर मेरी हैसियत एक बाहरी व्यक्ति की हो जाती है। न तो मेरा किसी विज्ञान में औपचारिक दखल है और न ही मैं 'भारत की छाप' के वैज्ञानिक साथियों के अतिरिक्त किसी बड़े वैज्ञानिक को जानती हूँ। तो मुझे लगने लगा कि यहां एक उत्तर धीरे-धीरे बुना जा रहा है, एक सहमति उभर रही है— जैसे किसी उपन्यास में वार्तालाप के दौरान हल्के-हल्के होता चलता है।

ब्रेन-ड्रेन पर सहमति यह बन रही थी कि ज्यादा शोध सुविधाएं उपलब्ध होनी चाहिए, शोधकर्ताओं को ज्यादा छूट होनी चाहिए,

Incentive package to boost software exports approved

The Union government has approved a p... import of computer systems at concessi... the user against professional lapses... sector and excise relief to software

Thrust on technological strength, says Vengala

Industrial tech data bank to be set up

India should abandon self-reliance: IBRD

उनकी तरक्की की राह समतल होनी चाहिए, उनकी आर्थिक स्थिति बेहतर होनी चाहिए।

लेकिन इस सहमति के पक्का होने से पहले ही शहनाज़ ने उस पर अपने तरीके से पानी फेर दिया। बीच में ही वह हंसने लगी। हंसी रोककर बोली, "यह सब तो होना चाहिए परन्तु समस्या सिर्फ़ इतने से हल नहीं होगी। आप यहां जितनी गति से सुविधाएं बढ़ाएंगे, तरक्की के साधन बढ़ाएंगे, आर्थिक स्तर बढ़ाएंगे, उससे दुगनी-तिगुनी रफ्तार से यही चीज़ें बाहर के मुल्कों में बढ़ जाएंगी— फिर?"

उसके इस सवाल से एक क्षण के लिए तो सन्नाटा छा गया पर दूसरे ही क्षण वातावरण हल्का हो गया। जो एक घुटन भरा, असंतोष का माहौल था वह छंट गया। एक बाहरी व्यक्ति होने के नाते मुझे लगा कि उन्होंने इस दौरान एक बात जान ली थी कि किसी भी अन्य तबके के समान ही वे भी साझा हितों से बंधे एक समूह के सदस्य थे। थोड़ी देर बाद जब वे घर लौटे होंगे, तो अपनी यह पहचान शायद साथ ले गए होंगे।

उसी दिन बाद में हम शहनाज़ की पहचान के एक अफ्रीकी विद्यार्थी से मिले। मैं असल में इसी मकसद से शहनाज़ के घर गई थी। वह अफ्रीकी विद्यार्थी अफ्रीकी और भारतीय साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहता था।

शहनाज़ दो घंटे पहले किसी बहस में शामिल हो और यहां उसका ज़िक्र न करे, यह तो असंभव था। तो आत्मनिर्भरता और ब्रेन-ड्रेन को लेकर बात चली। वह विद्यार्थी कुछ देर तो सुनता रहा। फिर उसने हमें रोका और कहा, "देखिए, जब आप लोग आत्म निर्भरता की बातें करते हैं, तो मुझे बड़ा अलगाव और परायापन सा लगता है। यह बात मैं भारत और चीन दोनों देशों में पाता हूँ। आपके देश बड़े हैं। औद्योगिक तथा कुटीर कारीगरी की परम्परा है। आत्मनिर्भरता की बातें करना आपके लिए आसान है।"

फिर थोड़ा तैश में आकर कहने लगा, "दुनिया के अधिकतर देश छोटे हैं। मेरा देश तो समुद्र-तट पर एक पट्टी भर है। हम लोग आपकी तरह आत्मनिर्भरता के सपने नहीं देख सकते। हमें तो एक समतामूलक विश्व व्यवस्था चाहिए।"

शायद वह आत्मनिर्भरता याने self-reliance और स्वयंपूर्णता याने self-sufficiency में भेद नहीं कर पा रहा था। या फिर शायद हम नहीं कर पा रहे थे। आखिर इन दोनों के मूल में तो एक ही धारणा है— राष्ट्र नामक इकाई या nation state।

दक्षिण-पूर्व एशिया में मेकांग नदी तीन राष्ट्रों का आधार है: लाओस, कॉम्बोडिया और वियतनाम। अब क्या ये तीन देश एक-दूसरे से स्वतंत्र रूप से आत्मनिर्भर हो जाएंगे? या फिर, जैसे कि वही अफ्रीकी विद्यार्थी एक बार बता रहा था कि देखिए, अफ्रीका और एशिया, दोनों जगह औपनिवेशिक शासन रहा। लेकिन दोनों में फ़र्क है। मसलन नक्शे को ही लें। अफ्रीका के नक्शे में बहुत सी सरहदें सरल रेखाएं हैं। क्योंकि विदेशी शासकों ने सचमुच टेबल पर बैठकर नक्शों पर लकीरें खींचकर अफ्रीका के अज्ञात हिस्सों को अलग-अलग राष्ट्रों में बांट दिया। ये राष्ट्र किस तरह की इकाइयां हैं?

जब मैं सोचने लगी, तो समझ में आया कि आत्मनिर्भरता और स्वयंपूर्णता का रिश्ता शायद ठीक वैसा ही है जैसा आत्मसम्मान और मुगालते का। आत्मसम्मान को खोए बगैर यदि मुगालते से बचना है, तो दूसरों का सम्मान करना बहुत ज़रूरी है। उसी प्रकार आत्मनिर्भरता खोए बगैर स्वयंपूर्णता से बचने के लिए, शायद दूसरों से जुड़ना भी ज़रूरी है, एक-दूसरे पर निर्भर होना भी ज़रूरी है, बशर्ते कि वह बराबरी की हैसियत से हो। आत्मनिर्भरता सिर्फ एक साधन है, साध्य नहीं।

पूर्वावलोकन और उत्तरावलोकन

१३

इस कड़ी की शुरूआत होती है राष्ट्रीय सुदूर संवेदन प्रयोगशाला, हैदराबाद, से, जहां हम सुदूर संवेदन या रिमोट सेंसिंग की तकनीक पर एक नज़र डालते हैं। उपग्रह चित्रों से पानी तथा खनिज संसाधन का पता चल सकता है, वन उजड़ने की निगरानी की जा सकती है और मौसम की भविष्यवाणी की जा सकती है। परन्तु जिन लोगों को इस टेक्नॉलॉजी से फ़ायदा हो सकता है, उन्हें पहले इसके बारे में जानकारी होनी चाहिए।

जन विज्ञान आंदोलनों के क्रियाकलापों की झलकियों से जागरुकता बढ़ाने की ज़रूरत को उभारा गया है। एक रिपोर्टर उदयपुर के कुछ गाँवों का भ्रमण करता है जहां एक स्वैच्छिक संस्था स्थानीय लोगों को जंगल लगाने, प्रौढ़ साक्षरता कक्षा और सामुदायिक स्वास्थ्य सुधार का प्रशिक्षण दे रही है।

जैसे-जैसे हमारी यात्रा समाप्ति की ओर बढ़ती है, वैसे-वैसे रिपोर्टर अतीत के सबक को दोहराने की ज़रूरत महसूस करने लगते हैं। वे इस पूरे विकास का पुनरावलोकन करते हैं और पिछले एपिसोड के दृश्य हमें याद दिलाते चलते हैं, कि पाषाण युग से आज तक की इस यात्रा में किन स्थानों पर गए, किन लोगों से मिले, रास्ते में कौन से गीत गाए।

जैसा हम पहले कह चुके हैं, कि अपने अतीत को जानकर हम अपना वर्तमान समझ सकते हैं और भविष्य बना सकते हैं। यहां स्कूली शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका है। मध्य प्रदेश के होशंगाबाद ज़िले में विज्ञान और सामाजिक विज्ञान शिक्षण के प्रयोग चल रहे हैं। वनस्पति और मिट्टी के नमूने इकट्ठे करने के लिए परिभ्रमण और नागरिक शास्त्र तथा इतिहास की उत्साहजनक कक्षाओं के ज़रिये हम देखते हैं कि इन पाठ्यपुस्तकों में और शिक्षण विधि में किस तरह से नई विधि अपनाई गई।

संचार माध्यमों की भी ज़िम्मेदारी है। पी.सी. जोशी हमें बताते हैं कि विक्रम साराभाई की कल्पना— सामुदायिक टी. वी., विकास कार्यक्रमों— और हकीकत में कितना फ़ासला है। आज टी. वी. एक शहरी अभिजात्य खिलौना बन गया है जो उपभोगवाद और पोंगापंथी को बढ़ावा दे रहा है।

मेरठ में बार-बार साम्प्रदायिक उफान उठता है। ऐसी घटनाओं के पीछे कौन से हालात, रवैये और स्वार्थ छिपे होते हैं। इसकी जांच-पड़ताल हम करते हैं। इसके लिए शहर के ताने-बाने का विश्लेषण भी किया जाता है और शहर के बाशिन्दों और पीड़ितों से साक्षात्कार भी।

यदि हम चांद से चित्र खींचें तो हमारा ग्रह कितना नाज़ुक दिखाई देता है। जाति, धर्म, भाषा के विभाजन बेतुके लगते हैं। स्टार-वॉरस् जैसी टेक्नॉलॉजी को मद्देनज़र रखते हुए हमें वास्तव में स्थायी अंतर्राष्ट्रीय शांति चाहिए, घृणा और संकीर्ण विभाजन का टकराव नहीं।

एक सूत्रधार और कुछ रिपोर्टर प्रो. यशपाल से बातचीत करते हैं। प्रो. यशपाल उस सलाहकार समिति के अध्यक्ष थे, जो "भारत की छाप" के निर्माण पर निगाह रखने के लिए बनी थी। उनकी बातचीत भविष्य के प्रति उम्मीदों से भरपूर है। उस भविष्य में भारत विज्ञान का उपयोग आत्मविश्वास और कल्पनाशीलता से करेगा।

खोज जारी है...
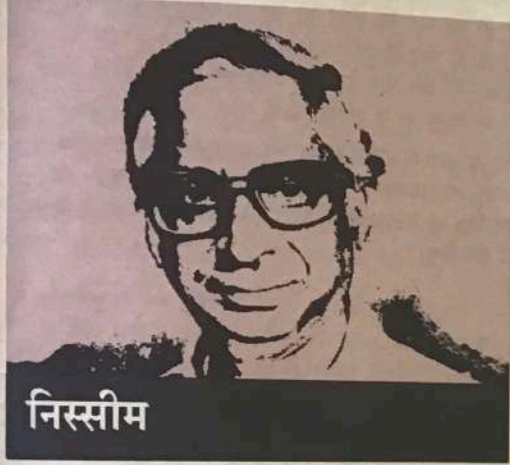
नाटक में मेरी हमेशा से रुचि रही है। स्टेज पर मैंने कई किरदार अदा किए हैं। लेकिन मेरे निजि जीवन दर्शन की जड़ें जमी हुई हैं मेरे इतिहासज्ञ होने में और इतिहास की ट्रेनिंग में। और इसके कारण कई बार दिक्कतें भी खड़ी हो जाती हैं।

मेरे एक युवा दोस्त ने फ़िल्में देखीं, इन पुस्तिकाओं के अंश पढ़े तो वह मुझे हंसते हुए बोला, "साम्प्रदायिकता को तुम इतना महत्व क्यों देते हो? सच तो यह है कि हमारे यहां जिस कदर बेरोज़गारी है, उससे नशीली दवाइयों के दलाल, चोर, अपराधी सभी फायदा उठाते हैं। वैसे ही साम्प्रदायिकता भी है!" यह तो था ही कि उसने जो अंश पढ़े थे उसमें इस प्रश्न पर ज्यादा ग़ौर किया गया था। फिर भी मैं सोचता रहा और मुझे लगा कि यह कहीं मेरे इतिहासज्ञ होने से जुड़ा हुआ है।

एक तो यह है कि विज्ञान का इतिहास हमें दिखाता है कि चाहे सांप्रदायिकता हो, पुरुषसत्ता हो, नस्लवाद हो, विज्ञान खुद-ब-खुद इनका सामना नहीं कर पाता। विज्ञान को तोड़-मरोड़कर उसे ढाला जा सकता है, उसका एक उपकरण के रूप में सीधे उपयोग किया जा सकता है — जैसे कि नाज़ी जर्मनी ने किया, जैसे सामाजिक जीव विज्ञान में औरतों को लेकर सोच बनाया गया और पूरा विक्टोरियन जीव विज्ञान एक किस्म के नस्लवाद से ग्रस्त रहा। इतिहास की सीख है कि जब तक विज्ञान एक प्रगतिवादी परिप्रेक्ष्य से नहीं जुड़ता तब तक उसका मुक्तिपरक उपयोग नहीं किया जा सकता। और इतिहास के अध्ययन में सबसे बड़ी बाधा सांप्रदायिक नज़रिया है, फिर चाहे सामाजिक इतिहास की बात हो या विज्ञान के इतिहास की।

मैं जब साम्प्रदायिकता के विषय में सोचता हूँ तब मेरे सामने इतिहास के कई दौर उभरने लगते हैं— मुझे दूसरे महायुद्ध का जर्मनी दिखने लगता है या मध्यकाल की डायनों की हत्याएं, या जेहाद की लड़ाइयां, या करबला का हत्याकांड। मुझे भय और बौखलाहट का मिला-जुला अहसास होता है। जैसे कि हमारा भविष्य भी ऐसा ही दौर बनने वाला हो या बनाया जा रहा हो, यह कहकर कि हमारा अतीत एक ऐसा ही दौर था, हालांकि ऐसा था नहीं। इन सबकी तुलना में रखें, तो हमारा अतीत बहुत ही सौम्य और मेल-मिलाप पर आधारित था।

जब मैं इन फ़िल्मों की कल्पना तक पहुंचा, तब मैं विश्वविद्यालय में पढ़ाता था, अब भी पढ़ाता हूँ। अपने विद्यार्थियों को मैंने इतिहास की एक अलग दृष्टि देने की कोशिश की। लेकिन ये प्रयास बहुत ही सीमित रहे। शायद इसलिए कि उन प्रयासों का संदर्भ इतिहास के विषय तक सीमित रहा। उसमें आज के जीवन का संदर्भ आया भी, तो घुमा-फिराकर अप्रत्यक्ष तौर पर। इसके चलते अपने प्रयासों को लेकर मेरे मन में एक संशय और कुछ हद तक एक हताशा भी थी।

फिर ये फ़िल्में बनाते और ये पुस्तिकाएं लिखते समय मैंने युवा लोगों से एक सहकर्मी के रूप में संबंध जोड़ा— अब तक यह विद्यार्थी के नाते होता था। तब मुझे महसूस हुई एक आशा। परिस्थितियों के बावजूद कुछ खोजने की, जूझने की शिद्दत। विद्यार्थी के तौर पर ऐसा महसूस नहीं हुआ था। और यह सिर्फ हमारे रिपोर्टरों की बात नहीं थी, यह तो हमारी पूरी टीम और उसके सम्पर्क में आने वाले सभी लोगों पर लागू होती है। एक राहत का अहसास हुआ। नए सिरे से शुरुआत की संभावना नज़र आने लगी।

यह भी अहसास हुआ कि एक इतिहासज्ञ होने का नतीजा सीमित नज़रिया भी हो सकता है। जैसे उसी दोस्त की बात को लें कि साम्प्रदायिकता को इतना महत्व क्यों। या फिर राही मासूम रज़ा की अपील "अल्लाह मियां और रामजी के नाम" पढ़कर लगा कि इतिहास के अध्ययन से जो एक दृष्टिकोण मैं अपना पाया हूँ, उसके लिए शायद 'इतिहासज्ञ' होना ज़रूरी नहीं है। कितनी सहजता से उन्होंने वह दृष्टिकोण, वह परिप्रेक्ष्य पेश कर दिया है जो शायद हम इतिहासज्ञ उतनी सशक्तता से कभी नहीं पहुंचा पाए।

इसी काम के दौरान मैंने मौखिक स्रोतों पर आधारित इतिहास का महत्व भी जाना। मसलन खेती। यहां कैसी खेती हो रही होगी, उसके बारे में जानकारी मुख्यत: मौखिक स्रोतों से मिलेगी, यह विश्वास भी हो गया है। दस्तावेज़ों में तो कई चीज़ों का ज़िक्र तक नहीं है। गैर-किसानों के लिखे हुए दस्तावेज़ कितने अधूरे साबित होते हैं इस बारे में।

और फिर मैं प्रभावित हुआ होशंगाबाद प्रयोग में बनी सामाजिक अध्ययन की पुस्तकों से। एक नया प्रयोग, मौखिक व वार्तालाप के तरीकों से इतिहास पेश करने का एक अनूठा प्रयोग। मेरे शिक्षक-व्याख्याता मित्रों का कहना है कि ऐसी पाठ्यपुस्तकों के लिए इतिहास की एक अलग पहचान बहुत ज़रूरी है, जो देश-काल से जुड़ी हो। यह सिर्फ प्रयोगधर्मिता की बात नहीं है। इसमें आने वाली दिक्कतों के बारे में आप फ़िल्मों में देख चुके हैं। परंतु मुझे लगता है कि इसी तरीके से इसमें सामाजिक, सामूहिक सोच जुड़ती रही, तो यह पाठ्यक्रम एक अनुभव बन सकता है। एक सचमुच का सबक—एक परिवर्तनवादी दृष्टिकोण का भाग, सामाजिक गतिविधियों को अपने में शामिल करता हुआ परिप्रेक्ष्य।

और यही तो महत्व की बात है। इन फ़िल्मों-पुस्तिकाओं की रचना के दौरान मेरे निजि जीवन दर्शन में कुछ बदलाव आ गया है। अपने पेशेवर सोच के सीमित दायरे में सिमटे रहने की बजाय अब उसमें औरों से जुड़ने की शक्ति आ गई है।

अमृता

वापस कलकत्ता...। एक शहर जो मुझे आधुनिकता और विकास के हर चरण की पहचान एक साथ देता है। वही ट्राम, मेट्रो, रिक्शा... यातायात के सभी साधन एक साथ एक ही सड़क पर अपना संतुलन बनाते देख सकूंगी मैं। मेरा अध्ययन और यह माहौल— मैं लंबे अरसे से इसकी कमी महसूस कर रही थी।

वैसे तो मैंने विज्ञान के इतिहास की खोज के इस प्रवास में बहुत कुछ सीखा है। जैसे मैं संवाद के माध्यम के नाते भाषा से बहुत प्रभावित थी। लेकिन इस प्रवास के दौरान कितने सारे रोमांचकारी अनुभवों से मैं गुज़री हूँ कि मुझे ज़रूरत महसूस हो रही है कि मैं अपने अनुभवों को फिर से देखूं और एक बार फिर इस रचनात्मक अहसास का आनन्द लूं।

मैं भीमबैठका की गुफाओं में चित्रकारी देखते हुए घूम रही थी। संवाद का वह अनूठा तरीका मुझे मोहित कर गया। मानो मैं उसी समूह की एक स्त्री बन गई हूँ। इसी प्रकार से हड़प्पा सभ्यता की रहस्यमय भाषा, जिसे पढ़ने के लिए पुरातत्वशास्त्री बहस कर रहे हैं। परंतु क्या उसके बगैर भी मैं हड़प्पा सभ्यता को जान नहीं पाई? उन चूड़ियों से, खिलौनों से, सिक्कों से, और शहर के उन अवशेषों से? हाँ, ज़रूर जान पाई। और मैंने ही नहीं सभी सहकर्मियों ने एक अनोखा अनुभव किया, एक निरन्तरता के अहसास का। लिखित भाषा, चित्रकारी या विज्ञान टेक्नॉलॉजी में झलकती है मानवीय संस्कृति, जो मानव की खासियत है। यह तो मैं मानती हूँ। लेकिन मेगालिथिक ढांचों में से जो जीवन दर्शन मुझ तक पहुंचा वह भाषा के माध्यम से तो नहीं पहुंचा। वह मुझ तक पहुंचा भावनाओं से, जो मरणोपरान्त जीवन के विषय में सोचती हैं, और शायद मृत्यु को जीवन का एक स्वाभाविक अंग मानती हैं। मैं संवाद की इस भाषा से भी प्रभावित होती हूँ। यह संवाद उन बर्तनों द्वारा, खेती के साधनों द्वारा, अनाज के बीजों द्वारा मुझ तक पहुंचा, वह भी तो एक महत्वपूर्ण मानवीय आविष्कार है।

फिर 'संध्या भाषा' जैसा प्यारा नाम लेकर आया रसशास्त्र। खुद अपनी कहानी कह दें, ऐसे शब्दों के गठन पर आश्चर्य तो ज़रूर होता है परंतु साथ ही साथ गहरे में परेशान करता एक प्रश्न हल हो जाता है।

भाषा एक प्रतीक है, जीवन दृष्टिकोण का— मुझे यह बात कभी समझी नहीं थी। यह मानो अचानक साफ समझ में आने लगी। आखिर भाषा तो कई माध्यमों में से एक है। विश्व के प्रति दृष्टिकोण तो अनगिनत माध्यमों से अभिव्यक्त होता है। कला, साहित्य, विज्ञान सभी तो संस्कृति के अविष्कार है लेकिन भाषा विषयक इस सिद्धांत ने मुझे काफी आकर्षित किया।

एक तरफ़ मैं अपने सवाल सुलझा सकी और दूसरी तरफ़ नए सवाल पनपने लगे। देशभक्ति की चरम सीमाओं के बीच का टकराव, युद्ध का सिलसिला... मैं अपने देश के बारे में सोचती हूँ, तो बेचैन हो जाती हूँ। जैसे भाषा पर आधारित राज्यों का बंटवारा। इन भाषा आधारित राज्यों से कितने सारे सवाल खड़े हो जाते हैं। भाषा एक पहचान बन जाती है और कई सारी दिक्कतों का सिलसिला शुरू कर सकती है।

नहीं, इस बारे में नहीं सोचना चाहती क्योंकि जब भाषा विद्रोह को मुखर करने का माध्यम बनती है, अपने शोषण में से अंकुरित होती है, तो उस भाषा का सौंदर्य मुझे बहुत ही मोहित करता है। और इस विद्रोह की भाषा के अनगिनत स्वर उभर रहे हैं इस अशांति के माहौल में। और भाषा के दायरों को तोड़ती हुई रचनाओं को देखती हूँ, जो विश्व भर के शोषितों को छू रही हैं, तो हौसला बढ़ता है। वैसे तो आज के माहौल में कई सारे संचार-संवाद माध्यम, विश्व की सरहदों को तोड़कर लोगों को नज़दीक ला रहे हैं। ये माध्यम और एक विश्व की कल्पनाओं का दर्शन मुझे प्रेरित करता है कि मैं भविष्य की ओर देखूं। •

फ़िज़िक्स बहुत पढ़ा था परंतु आज फ़िल्मों के दौरान अपने अनुभवों के बारे में लिखते हुए लग रहा है कि अब उसकी ओर देखने का मेरा नज़रिया बहुत ही अलग है। वस्तु को उसके अणु, परमाणु, न्यूक्लीयस... तक पहचान कर उसकी उलझी हुई रचना को समझने के बीच थोड़ा रुककर पूरे विज्ञान को एक समग्र नज़रिये से देखने का मानो समय ही न मिला। फ़िज़िक्स में कैरियर बनाने का एक मतलब तो यह है कि अन्य पेशों की तरह यहां भी रुककर सोचने का समय कम होता जा रहा है। पर इससे ज्यादा तो जिस तरह हमें विज्ञान पढ़ाया गया और जिस तरह हमने उसे सीखा, उससे एक खुलेपन का नज़रिया संभव ही नहीं लगता।

न्यूक्लीयर शक्ति और न्यूक्लीयर रिसर्च पर सवाल तो मुझे सता ही रहे थे। साथ ही वैज्ञानिकों का समाज से कट जाना, अपने काम के सामाजिक पहलू से मुकर जाना, यह भी परेशान करता था। इसी कारण तो मैं इन फ़िल्मों से आकर्षित हुआ और बीच में जुड़ने को भी तैयार हो गया। और इस सफर ने जो कुछ सिखाया, उसकी तो मैंने कल्पना भी नहीं की थी।

पुराने भारतीय दर्शन में 'भौतिकवाद' और 'मायावाद' का अस्तित्व रहा—याने प्रकृति और जीवन की ओर देखने के एकदम विपरीत दृष्टिकोण। वहां से आज तक का हमारा सफ़र, जहां सारी दुनिया ही मानो एक आधुनिक विज्ञान का नज़रिया अपनाने को मजबूर सी है। इतिहास की इस खोज का एक महत्वपूर्ण पहलू था समाज और विज्ञान के इन परिवर्तनों को पहचानना। परन्तु दिमागी खुलेपन के कारण यह खोज हमें कई और मुकामों पर भी ले गई ।

क्वांटम सिद्धांत के बारे में लिखते हुए मुझे कुछ ऐसा ही अनुभव हुआ। मेरी एक सहेली ने मुझे एक किताब दी थी जिसका विषय था "फ़ेमिनिज्म एण्ड क्वांटम मेकेनिक्स" (नारीवाद और क्वांटम यांत्रिकी)। जब खुलेपन से लिखने बैठा हूँ, तो यह कहना ज़रूरी लगता है कि कुछ साल पहले, जब मैं रिसर्च में डूबा हुआ था, तब इस तरह के विषय वाली किताब का मैं मखौल बनाता, पढ़ने का तो सवाल ही नहीं उठता। पर इस दौरान आए बदलाव के कारण मैंने उसे पढ़ा और सच कहूं, तो बात मन को छू गई। रॉबिन मॉर्गन की "एनेटोमी ऑफ फ्रीडम", क्वांटम सिद्धांतों में निहित एक समग्र नज़रिया, जीवन को देखने का एक अलग दृष्टिकोण— इस नए अहसास से मेरे विचारों को भी एक दिशा मिली।

आज तक वस्तुनिष्ठ, एक सही उत्तर देने वाले, निश्चयवादी विज्ञान की नींव पर खड़े क्वांटम सिद्धांतों से तो इस नींव को पूरा हिलाया जा सकता था। लेकिन इसके सिद्धांतों को यांत्रिक तरीके से इस्तेमाल करने के हमारे रवैये ने हमें इस तरह के परिवर्तन से हमेशा दूर रखा। सोचता हूँ कि विज्ञान में और कितनी ऐसी संभावनाएं मौजूद होंगी। मैं फिर फ़िज़िक्स में शोध करने को तैयार हूँ। काफ़ी उत्सुक भी हूँ क्योंकि ऐसा लग रहा है कि उसके एक बहुत ही महत्वपूर्ण पहलू से मेरी पहचान हो चुकी है। उसको देखने समझने का एक नया तरीका मैंने पाया है।

विज्ञान की व्यक्तिनिष्ठता को मैंने हमेशा नकारा। अपने ही किस्म के एक वस्तुनिष्ठ, यांत्रिक तरीके को 'सही' वैज्ञानिक तरीका मानता आया हूं। इस चुनाव के पीछे जो मेरी व्यक्तिनिष्ठता या पूर्वाग्रह छुपा है, उसको जैसे मैं देख ही नहीं पाया था। विज्ञान को वस्तुनिष्ठ नियमों का संकलन मानकर उससे जुड़ना आसान था। अब लगता है आगे का सफर ज्यादा कठिन है परंतु साथ ही ज्यादा रोचक भी।

मैं चाहता हूँ कि अब न्यूक्लीयस को सबसे काटकर अलग से न देखूं। देखूं उसे उसके पूरे संदर्भ में। विज्ञान को अलग-थलग रखकर न देखूं। उसे समाज और सामाजिक लय के साथ जोड़कर देखूं। और साथ में अपने खुद के गतिशील निजित्व के साथ जोड़कर देखूं— यह मानकर कि उसमें एक व्यक्ति-सापेक्ष वस्तुनिष्ठता निहित है। मेरे जैसे व्यक्ति के लिए इस तरह से अपनी छबि के विपरीत ढंग से यह सब कर पाना, एक नए सफ़र की शुरूआत लगती है। यह शुरूआत संभव हो सकी विज्ञान के इतिहास की इस खोज के ज़रिये और इस सफ़र में साथ-साथ राह टटोलते साथियों की बदौलत।

रघु
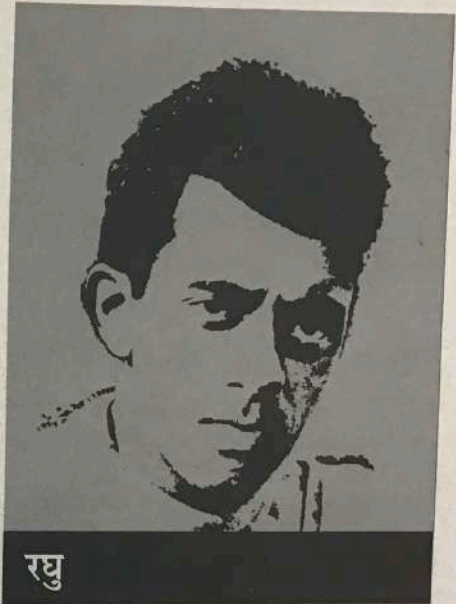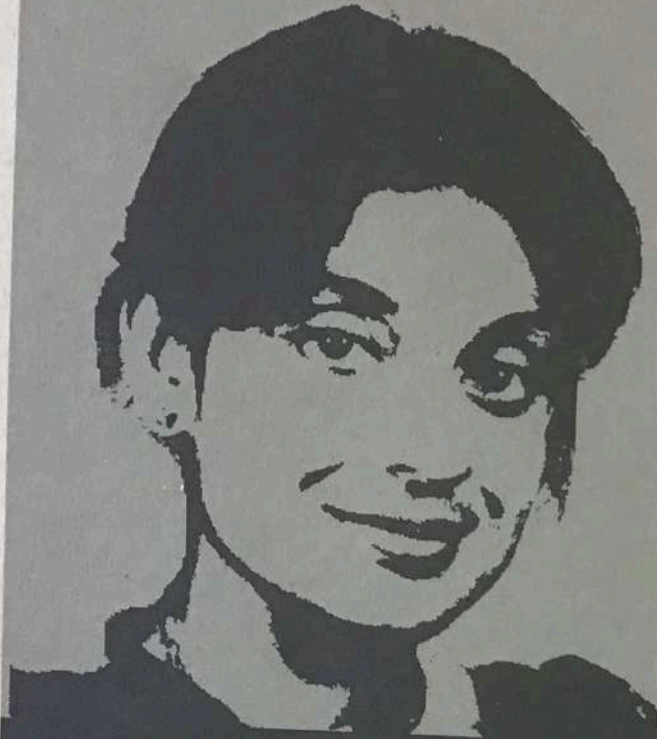
अंकों से मैं दूर भागती हूँ परंतु कुछ अंक ऐसे होते हैं कि उनको मैं ज़रा रुककर देखती हूँ। इन अंकों ने मुझे लगातार डराया है। ऐसा ही एक अंक है भारत में स्त्री-पुरुष आबादी का आंकड़ा। यह अभी कच्चा अनुमान है। भारत में प्रति एक हज़ार पुरुष पर 929 स्त्रियां हैं। 1981 में यह संख्या 934 थी। विज्ञान की इस खोज में मैंने अपनी तरफ़ से एक खोज करने की इच्छा रखी थी। वह थी औरतों की सामाजिक स्थिति।

खेती की खोज के बाद औरतें गायब होती गईं। इस खोज के दौरान मुझे जैसे उनके अस्तित्व का अहसास हुआ लेकिन आज यह आंकड़ा उस अहसास को झुठलाता सा लग रहा है। इस प्रकार का सदमा मेरी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी का हिस्सा ही है। जब से मैंने जीवविज्ञान का अध्ययन करने की ठानी, उसमें कैरियर बनाने की सोची, तब से मैं ऐसे अनगिनत सदमे झेल चुकी हूँ।

जब मैं किसी खास जीवाणु को खास खुराक देती हूँ, उसका खास खयाल रखती हूँ, तो मुझे ही अफसोस होता है। भूख से मरते अनगिनत लोगों का खयाल मुझे परेशान करता है। कभी-कभी अपनी भावुकता पर हंसी भी आ जाती है। मुझे क्या मालूम नहीं है कि कार्य-कारण के सिद्धान्त से स्वास्थ्य के क्षेत्र में क्रान्तिकारी बदलाव आया था। आयुर्वेद जैसे परिप्रेक्ष्य सीमित दिखाई पड़ने लगे थे और स्वास्थ्य विज्ञान का एक नया परिप्रेक्ष्य पनपा था।

लेकिन मानव विचारों की इस नई उड़ान की सीमाएं भी मैंने अपने शोध के दौरान जानी। जैसे नियंत्रण का नया सिलसिला— प्रजनन पर नियंत्रण, प्रकृति पर नियंत्रण, जैसे मुहावरों में झलकने लगा। विविधता को नकारते वाला, उसे नष्ट करने वाला यह नज़रिया मुझे बहुत परेशान करता है क्योंकि इस तरह से विकास के नाम पर एक कृत्रिम एकरूपता थोपी जाने का प्रस्ताव है।

विज्ञान की इस खोज में मेरी दिलचस्पी का यह एक कारण था। क्योंकि इसमें विज्ञान को एक ज्ञान का भंडार न मानकर, एक संस्कृति का हिस्सा मानकर समझने की कोशिश हो रही थी। इसलिए मुझे इसमें विविधता को संजोकर आगे चलने की आशा दिखी। आम तौर पर विज्ञान का अर्थ उसके द्वारा उपलब्ध कराई गई सुविधाओं से ही लगाया जाता है। और फिर सुविधाओं की, उपभोग सामग्री की होड़ लग जाती है। यह होड़ हमें कहां ले जाएगी इसका ख़याल भी करने की फ़ुरसत नहीं रहती।

नहीं, मैं यह नहीं कह रही हूँ कि इस यथार्थ को नकारना है। मेरा आशय यह नहीं है कि आज की टेक्नॉलॉजी को नकारकर मानव समूह को वापिस जंगल की ओर ले जाना है। किन्तु मैं मानती हूँ कि विकास टेक्नॉलॉजी की क्रांति को रोककर, एक समग्र परिप्रेक्ष्य में परखना अनिवार्य है। और मैंने अपने साथियों के साथ इस खोज के दौरान महसूस किया है कि मैं अकेली नहीं हूँ। कई सारे और लोग हैं जो विविधता को एकरूपता में न बदलकर, विविधता में मेलजोल की तमन्ना रखते हैं।

पेशे से मैं एक सिविल इंजीनीयर हूँ और मुझे ऐसी कोई उम्मीद नहीं थी कि इसका गणित की उत्पत्ति से कुछ लेना-देना होगा। परंतु फ़िल्म के लिए अध्ययन करते हुए कई बार मुझे दंग रह जाना पड़ा है। ऐसा ही एक मौका तब आया जब हड़प्पा के वास्तुशिल्प में मुझे इंग्लिश बॉण्ड दिखाई दिया। मैंने भवन निर्माण के पाठ्यक्रम के दौरान नक्शों में इसका क़ाफी उपयोग किया था। और तब तो मेरे आश्चर्य की कोई सीमा न रही जब मैंने पाया कि गणित की उत्पत्ति का सीधा संबंध कंस्ट्रक्शन या निर्माण के काम से जुड़ता है। और यह कड़ी भी शुल्बसूत्र के ज़रिये हड़प्पा सभ्यता से ही जुड़ी थी।

बेशक उन दिनों में सिविल इंजीनीयर नहीं हुआ करते थे। सिर्फ़ masons और ईंट बनाने वाले होते थे। और उन्हें काफ़ी जानकार बनना पड़ता था। जैसे कुछ ज्यामिती और बढ़ईगिरी तक उन्हें आती थी। मुझे सबसे दिलचस्प बात तो यह लगती है कि गणित जैसे अमूर्त विषय की जड़ें इतनी ठोस व्यवहारिक गतिविधि में हैं। अर्थात् गणित का उद्गम स्थल भाषाई परम्परा न होकर हस्तकला और कारीगरी की परम्परा में है।

और फिर मैं वर्तमान में पहुंच जाता हूँ— अपने इंजीनीयरिंग के अध्ययन को जारी रखते हुए। शायद अब मेरा नज़रिया बदल चुका है। जब मैं फ़िल्म बनाने के काम में जुटा था, तब इतना तो मुझे पता था कि मेरा पेशा समाज के दो कुख्यात धंधों के साथ हाथ में हाथ डाले चलता है— अपराध की काली दुनिया और भ्रष्ट राजनीति। अब मुझे लगता है कि शायद समस्या बस इतनी हो, ऐसा नहीं है।

जहां तक इंजीनीयरों का सवाल है, तो मुझे लगता है कि अधिकांश लोग तो इस पेशे में पैसा बनाने आते हैं, पेशे से आकर्षित होकर नहीं। परन्तु वे भी इस भौंडे, अकार्यक्षम, अति सामान्य निर्माण कार्य के चलते मानसिक रूप से थक जाते हैं। यहां मुझे मेरा एक दोस्त याद आ रहा है जो एक बहुत ही नवाचारी इंजीनीयर के साथ काम करता है। उसने मुझे सड़क बनाने की एक आसान सी डिज़ाईन बताई, जिसमें बारिश-बाद मरम्मत की समस्या नहीं रहेगी। इस डिज़ाइन में कई गुण नज़र आते हैं। इसमें पूरा कांक्रीट बिछाने की ज़रूरत नहीं थी, इससे स्थानीय स्तर पर रोजगार के अवसर पैदा होते, कामगारों में हुनर का विकास होता, कम ऊर्जा-सघन सामग्री का उपयोग होता और ज्यादा टिकाऊ सड़कें भी बनती और मरम्मत भी आसानी से हो जाती। मैं सोचता रहा कि इतनी बढ़िया, हर तरह से लाभप्रद डिज़ाइन को स्वीकार क्यों नहीं किया जाता। मेरे दोस्त ने मुझे घूरकर कहा कि एक कि.मी. सड़क पर नया डामर-गिट्टी बिछाने में एक लाख रुपए का मुनाफा होता है। फिर पूछा कि बताओ हमारे देश में कितने कि.मी. सड़कें हैं!

बेशक उसने सही कहा। परन्तु बात यहीं खत्म नहीं होती। और भी कई चीज़ें इसमें शामिल हैं। बहरहाल, वे घूम-फिरकर पहुंच जाती हैं उसी एक स्वार्थ तक— नगद नारायण। फिर भी इस समस्या के कितने ही पहलू हैं।

जैसे मुझे लगता है कि यह बात भी उतनी ही महत्वपूर्ण है कि कामगारों के लिए हुनर विकास का अवसर है या नहीं; अथवा इंजीनीयरों के लिए अपनी प्रतिभा के उपयोग की गुंजाइश है या नहीं। और इस मामले में अकेले विज्ञान से काम नहीं चलेगा। जहां विज्ञान कई समस्याएं हल कर सकता है, वहीं वह खुद भी एक समस्या बन जाता है क्योंकि कई बार वह अपनी स्थापित साख के कारण आपको पीछे धकेलता है, आगे नहीं बढ़ने देता। विज्ञान और डिज़ाइन के स्थापित तरीकों में इन बातों का ध्यान नहीं रखा जाता। वहां तो बस इस बात का महत्व है कि डिज़ाइन कैसी भी हो पर दोहराने योग्य होना चाहिए। क्योंकि यदि कामगार हुनर विकसित करने लगे, तो भवन-ठेकेदारों को सस्ते मज़दूर कहां से मिलेगें?

मसलन मौजूदा निर्माण टेक्नॉलॉजी को ही लें। जो सामग्री इसमें इस्तेमाल होती है उसका यदि कोई गुण है तो यह कि इसमें डिज़ाइन को अतिरंजित किया जा सकता है और कामगारों के स्तर पर हुनर की कोई ज़रूरत नहीं होती। इंजीनीयर को भी इसमें ज्यादा कुशल होना ज़रूरी नहीं है। इसके मुकाबले कहीं ज्यादा नए किस्म की डिज़ाइनें संभव हैं। और न सिर्फ भवनों में बल्कि बांध, सड़क, सभी मामलों में नवाचार संभव है। नए किस्म की सामग्री का उपयोग किया जा सकता है जैसे प्राकृतिक रेशे काफी मजबूत होते हैं और creep भी बहुत कम होता है। परन्तु इनकी सुरक्षा का उपाय करना होता है। कभी-कभी पूरी तरह से ढंक देना होता है। इनकी तुलना स्टील तक से की जा सकती है। किन्तु प्राकृतिक रेशे वाली प्रक्रिया सीमेंट और कॉन्क्रीट के समान अन्धाधुन्ध उत्पादन के लिए ठीक नहीं बैठती।

रंजन

मैंने ऐसे कई उदाहरण देखे हैं जो आज अपवाद स्वरूप अलग नज़र आते हैं। पर लगता है कि इन्हीं में तो भविष्य की आशा छिपी है। ये वे लोग हैं जो टेक्नॉलॉजी को एक साधन मानते हैं, साध्य नहीं। ये लोग टेक्नॉलॉजी के अन्धाधुन्ध उपयोग को विकास का पर्याय नहीं मानते।

शायद मैं इन्हीं चीज़ों की सबसे ज्यादा क़दर करता हूँ, अब पहले से भी ज्यादा। ये भविष्य के संकेत, भविष्य की आशाएं। इन फ़िल्मों को बनाते हुए जो सबसे अहम बात मैंने सीखी, वह है कि जो है और जो हो सकता है याने यथार्थ और संभव के बीच के अन्तर को पहचानना। यदि हम यह अंतर नहीं पहचान पाते तो हम उसी में अटक जाएंगे जो आज है, शायद इसी वजह से कि वह है।

मैत्रेयी

इन फ़िल्मों की यह शृंखला पूरी कर अब मेरा वापस कंप्यूटर की दुनिया में जाने का समय हो गया है। जानती हूँ कि इस दुनिया से इतना समय दूर रहने के बाद इसमें वापस जाना बहुत मुश्किल है। आज के विज्ञान की गति की बात हमने इन पुस्तिकाओं में की है। एक दूसरे से आगे बढ़ जाने की मानो एक दौड़ चल रही है और इंसानों की इस स्पर्धा-प्रतिस्पर्धा में ही विज्ञान ऐसी गति पा रहा है कि उसे निरंतर करते रहना, उससे अलग न होना यह इस 'वैज्ञानिक' होने का भाग ही बन गया है।

लेकिन मेरी दुविधाएं और परेशानियां सिर्फ इतनी ही नहीं है। इस एक वर्ष के अलगाव ने और इन फ़िल्मों के साथ तय किए गए सफ़र ने एक बार फिर उन सारे प्रश्नों को जगा दिया है जिन्हें मैं अपने दिमाग में आने से रोक रही थी। प्रकृति के साथ हमारा बदलता रिश्ता, हर चीज़, हर घटना पर नियंत्रण का दौर, प्रक्रियाओं का और उसके साथ ज़िंदगी का मशीनीकरण, इसके बदौलत हर क्षेत्र में, हर काम में इंसानों की घटती सक्रियता, और अब इस सबकी चरम सीमा पर कंप्यूटर द्वारा संभव होता आटोमेशन का यह नया दौर।

यह सब जानती तो थी पर फिर भी एक किस्म का आनंद था उस डब्बे के साथ काम करने का। पूरी तरह से हमारे नियंत्रण में रहने वाली एक निर्जीव वस्तू जो लगातार एक चुनौती सी हमारे सामने रखती है। इसमें से अधिकतम हासिल करना और उन सारी समस्याओं का हल ढूंढना जो यह डब्बा पेश करे, यह एक ऐसी चुनौती है जिसे मैं अस्वीकार नहीं कर पाती। कभी अपने आप से ही परेशान हो जाती हूँ क्योंकि इसी नियंत्रण से जुड़े सारे सवालों को जानकर भी कैसे मैं इस काम में मज़ा ले पाती हूँ। फ़िल्मों के ज़रिये किए गए इस विज्ञान के इतिहास के सफर ने तो इस दुविधा को और पैना कर दिया है।

जगह-जगह के लोगों से हम मिले जो विज्ञान और टेक्नॉलॉजी के इस इकतरफ़े 'विकास' से पीड़ित हैं क्योंकि इस 'विकास' के दौरान उन्हें दरकिनार किया गया है, उनकी जीवनशैली को नष्ट किया गया है, उन्हें पूरे तौर से बेदख़ल किया गया है। चाहे वह नर्मदा घाटी के लोग हों, या बस्तर के आदिवासी या अन्य विकास योजनाओं से प्रभावित या हरित क्रांति से हुए नुकसान की ओर ध्यान आकर्षित करते या औरतों की प्रजनन शक्ति पर नियंत्रण करते तंत्रज्ञान पर आपत्ति लेते लोग— सभी ने आज के विज्ञान और टेक्नॉलॉजी पर सवाल तो उठाए ही हैं। उनपर ग़ौर करना और साथ ही नए विकल्पों की, नए रास्तों की खोज करना यह अनिवार्य लगता है।

लेकिन इन सबमें एक सुर है टेक्नॉलॉजी को पूरी तरह नकारने का। वह कहीं मुझे और दुविधा में डाल देता है। यह मत एक विकल्प के रूप में तो सामने नहीं आता। विज्ञान और टेक्नॉलॉजी की इस पूरी शृंखला में और जीवन के इस पूरे इतिहास में टेक्नॉलॉजी विहीन जीवन तो कहीं नज़र नहीं आता। क्या पत्थर के औज़ारों को हम टेक्नॉलॉजी के रूप में नहीं देखेंगे? खेती को भी नियंत्रण के रूप में नहीं देखेंगे क्या? फिर क्या हम इस सबको भी नकारने को तैयार हैं?

जानती हूँ, कि इस दुविधापूर्ण स्थिति में से निकलने के रास्ते हम सभी टटोल रहे हैं। हमारी फ़िल्मों द्वारा यह यात्रा तो उस पूरी खोज का महज़ एक हिस्सा है। आज के हमारे ज्ञान के आधार पर हम कितना आगे जा सकते हैं? इसी जानकारी को एक निहायत अलग परिप्रेक्ष्य में ढालना क्या संभव नहीं? एक ग़ैर-यांत्रिक, ग़ैर-मशीनी विश्व दृष्टि विकसित करने के लिए ज़रूरी नहीं कि हम यांत्रिकी के नियमों को पूरी तरह खारिज करें। इसी संदर्भ में याद आती है एक किताब— एक विज्ञान-उपन्यास, मार्ज पिअर्सी की "वुमन ऑन दी एज ऑफ टाइम"। इसमें भावी दुनिया का एक नज़ारा है जो समानता पर आधारित है और साथ बहुत 'टेक्नॉलॉजीकृत'। मसलन प्रजनन की पूरी क्रिया को मानव शरीर से बाहर किया जाता है और सारे इन्सान एक-दूसरे से औरत-मर्द की तरह नहीं, इन्सानों की तरह मिलते-जुलते हैं। इसी प्रकार से अत्याधुनिक कृषि टेक्नॉलॉजी की बदौलत प्राकृतिक परिवेश में भरपूर विविधता है और एक टिकाऊ इकोसिस्टम का आधार है।

मैं अब अगर फिर जा रही हूँ अपने कंप्यूटरों के पास तो इस नए परिप्रेक्ष्य से। एक नए उत्साह के साथ जो इस तरह की कल्पनाओं को साकार करने में मददगार होगा। अतीत की इस यात्रा से मिले संकेतों के साथ और आज के एक समग्र दृष्टिकोण सहित। अब मेरे सामने चुनौती हैं। मेरे सपने, मेरी कल्पनाएं— न कि कंप्यूटर द्वारा पेश की गई समस्याएं।

दो शब्द

इस पुस्तक को पढ़कर और इन फ़िल्मों को देखते समय शायद आपको अहसास हुआ हो कि हम सब, जिन्होंने इस कार्य में भाग लिया, किस तरह इसमें लीन हो चुके थे। हम विज्ञान, इतिहास और समाज के इस विशाल क्षेत्र की खोज को और भी आगे बढ़ाना चाहते हैं। इसलिए आपकी टिप्पणियाँ हमारे लिए बहुत मूल्यवान साबित होंगी।

विशेष रूप से हम शिक्षकों की राय जानना चाहते हैं, और उन सभी लोगों की जिन्होंने इस सामग्री को उपयोगी पाया। चाहे आप वो पालक हों, जो स्कूली पुस्तक को रटने वाले बच्चों के लिए हड़प्पावालों को जीवित करने में सफ़ल हुए, या आपने किसी इंजिनीयरिंग कॉलेज के प्रथम-वर्षीय विद्यार्थियों को इन फ़िल्मों से परिचित करवाया, या शायद आप चित्रकार हों जिन्हें अपने काम के लिए कोई नयी प्रेरणा मिली— हमें आपके अनुभवों के बारे में जानने की उत्सुकता रहेगी।

वो कौनसे प्रसंग या दृश्य थे जिनमें आपको अपने काम की या दिलचस्पियों की प्रतिध्वनियां मिलीं? कौनसी कमियां महसूस हुई, कहां मुश्किल लगा, क्या देख-सुन-पढ़कर मज़ा आया? हो सकता है आप इस संदर्भ में अन्य फ़िल्मों या पुस्तकों के लिए भी कोई सुझाव देना चाहें। यदि आपको इस पुस्तक की और प्रतियों की ज़रूरत हो, हमें अवश्य लिखें। पर्याप्त मांग होने पर फ़िल्म-स्क्रिप्ट की प्रतियां भी बनायी जा सकती हैं।

फ़िल्मों के मूल हिन्दी और अंग्रेज़ी सब-टाइटल वाले अनुवाद के अलावा, हम तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड, मराठी, गुजराती और बांगला में 'डब' किए हुए अनुवाद भी तैयार कर रहे हैं। इनके बारे में आप जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें पत्र लिखें, साथ ही उन संस्थाओं या लोगों के नाम और पते भी भेजें जो इन रूपान्तरों में दिलचस्पी ले सकते हैं।

जैसा कि हम कहते आए हैं, यह कोशिश तो इस यात्रा की बस शुरूआत है। आप भी हमारी खोज में शामिल हो जाइए!

कॉमेट प्रॉजेक्ट टीम

इस पते पर लिखें :

प्रतिक्रियएं
कॉमेट प्रॉजेक्ट
टोपीवाला लेन स्कूल
लॅमिंग्टन रोड, बम्बई 400 007.

या

निर्देशक
राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद
विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग टेक्नॉलॉजी भवन
नया महरॉली मार्ग
नई दिल्ली - 110 016

सहभाग

■ **हिन्दी रूपांतर**
सुशील जोशी

■ **संपादन**
छन्दिता मुखर्जी
गीता रामकृष्णन्
स्मृति नेवाटिया
कॉमिट प्रॉजेक्ट

■ **कंप्युटर कम्पोझिंग और प्रिन्टींग**
डिजिटल सर्विसेस, बंबई

■ **कार्यान्वयन**
निवेदिता सड़वेलकर
सहायक
संजय दलवी

■ **आभार**
र. मोहन
सुनील खुल्लर
विनायक आंग्रे
प्रकाश भोसले,
अर्चना टिपणीस
और गीता खेड़ेकर
डिजिटल सर्विसेस
नील सड़वेलकर
नेहरू सेंटर

■ **आवरण पृष्ठ**
राजा मोहन्ती

■ **पेटी आच्छादन**
अर्चना शाह द्वारा प्राप्त कच्छ का विशेष कपड़ा
अज्रख। लकड़ी के ब्लॉक एवं वानस्पतिक रंगों में हाथ की छपाई।

■ **पहली आवृत्तीः** 1992

■ **मुद्रण**
डिजिटल सर्विसेस, 222 हिरानंदाणी ईन्डस्ट्रियल एस्टेट
कांजूरमार्ग, बंबई 400 078

कुतुब खाना मदरसा मोहम्मदी, मद्रास

अमीर खुसरो की कृति 'शिरीन-वा-खुसरो' का पहला पृष्ठ, यह पाण्डुलिपि 1426 की है

अभी भी सुनने-सुनाने की कहानियों में है। यहीं से आधुनिक कहानी के जन्म की कहानी शुरू होती है।

यही बात कला में दिखती है। शिल्प और चित्रकारी में देवदूत और पवित्र विषय हाशिये में चले जाते हैं तथा मनुष्य व मनुष्याकृति केन्द्र में आ जाते हैं। रेनेसांस से शुरू होता है यह प्रवास। परलोक की निष्प्राण, क्षीण अनुभूति को पीछे छोड़कर लोगों की ज़िन्दगी और आपसी रिश्तों की गति और स्फूर्ति से भरपूर अनुभूति की ओर प्रवास। यह स्फूर्ति ही रेनेसांस लेखन को घटनाओं और मसलों का रोजनामचा बनने से बचाती है।

हां, और एक बात तो मैं भूल ही गई थी। यह सब कुछ हो रहा था बोलचाल की स्थानीय भाषाओं में। आखिर यूरोप में भी एक 'संस्कृत' मौजूद थी—लैटिन। उसे छोड़कर साहित्य स्थानीय भाषाओं में आ गया था — साहित्य, जो सिर्फ धर्म से बंधा नहीं था। इसके बाद भी लंबे अर्से तक लैटिन ही ज्ञान-विज्ञान की भाषा बनी रही। परन्तु धीरे-धीरे स्थानीय भाषाओं का दायरा बढ़ने लगा था। आखिरकार न्यूटन ने अपनी 'प्रिंसिपिया' का दूसरा संस्करण अंग्रेज़ी में छपवाया।

विज्ञान से दूर घटनेवाली इन घटनाओं का एक पृष्ठभूमि बनाने में बहुत महत्व था। इसमें कुछ खामियां भी घर करती गईं— जैसे एक सुप्त नस्लवाद का अहसास, औरतों के प्रति प्रेम व भोग का नज़रिया और फिर कुदरत को देखने का एक विशेष किस्म का दृष्टिकोण। ईश्वर के स्वामित्व से मुक्त होने के बाद प्रकृति ईश्वर की देन तो रही नहीं, इसलिए अन्य चीज़ों के समान वह भी अब इन्सानी मिल्कियत के दायरे में आ गई।

अब बच जाता है वह सवाल जो बार-बार उठता रहता है कि भारतीय उपमहाद्वीप में ऐसा सब क्यों नही हुआ। अपनी समझ के मुताबिक हम इसका कुछ-न-कुछ जवाब देते रहे हैं। यह शायद जवाब के कुछ पहलू ही हों, या हो सकता है कि इस सवाल का कोई एक जवाब देना संभव ही न हो। आखिर सवाल के मकसद और प्रश्नकर्ता के बदलने के साथ जवाब भी तो बदल जाते हैं।

यह तो मुझे संभव नहीं लगता कि हमारे यहां की स्थानीय भाषाओं में ऐसे साहित्य और कला नहीं थे। कला के तो उदाहरण बेशुमार हैं। परन्तु साहित्य के उदाहरण भक्ति परम्परा के बाहर बहुत कम हैं। जब

स्वतंत्र भारत

1947 से वर्तमान तक

आज़ादी के साथ विकास की चुनौतियां भी आईं— एक अभावग्रस्त देश में समता मूलक विकास और पुनर्रचना। इस चुनौती ने वैज्ञानिकों और टेक्नॉलॉजीविदों की कल्पना का आव्हान किया।

होमी भाभा ने जो भूमिका अदा की उससे पता चलता है कि उस समय के वैज्ञानिकों ने संस्थानों के निर्माण में किस तरह की भागीदारी निभाई। पूरा ज़ोर आत्मनिर्भरता पर था।

बम्बई हाई जाकर तेल व प्राकृतिक गैस आयोग के अध्यक्ष से बातचीत करने से पता चलता है कि कितना फासला तय किया है। एक समय था जब हम सुई तक बाहर से आयात करते थे।

हमारे चार रिपोर्टर कार में दिल्ली का भ्रमण करते है और चर्चा के माध्यम से आत्मनिर्भरता के विभिन्न पहलुओं और इसकी समस्याओं को समझने की कोशिश करते हैं।

हरित क्रांति को अक्सर खाद्य उत्पादन में आत्मनिर्भरता का प्रतीक मान लिया जाता है। यह दावा कितना सही है? हम इस मुद्दे पर किसानों, एक कृषि वैज्ञानिक और एक अर्थशास्त्री की राय लेते हैं।

हरित क्रांति के संकर बीजों के लिए पानी की बहुत ही आवश्यकता होती है। नर्मदा नदी पर प्रस्तावित बांधों से खेती के लिए पानी और उद्योगों के लिए बिजली उपलब्ध होने की उम्मीद है। नर्मदा तट पर फ़िल्माए गए दृश्यों के और बांध-आलोचकों से मुलाकात के माध्यम से विवादास्पद मुद्दों का खाका प्रस्तुत किया जाता है। इनमें विस्थापितों की समस्याएं, जंगल का नुकसान और तकनीकी मुद्दे शामिल हैं।

आज़ाद भारत की कई उपलब्धियां रही है पर कुछ समस्याएं भी बरकरार हैं। नई टेक्नॉलॉजी के ज़बर्दस्त नतीजे हमारे सामने हैं परंतु कई बार दीर्घावधि में इनकी भारी कीमत चुकानी पड़ती है और इनके फ़ायदे भी सबको समान रूप से नहीं मिलते। लोगों में ज्यादा जागरुकता और उनकी भागीदारी का महत्व इससे रेखांकित हो जाता है।

एक गीत के माध्यम से बताया जाता है कि हम अपना अतीत तो नहीं बदल सकते पर भविष्य ज़रूर बना सकते हैं। स्थानीय विकास में की भागीदारी की एक ताज़ा मिसाल बलिराजा बांध ने पेश की है। यह उदाहरण महाराष्ट्र के एक गाँव का है। इस सूखा पीड़ित इलाके के लोगों ने एक पानी उपभोक्ता को-आपरेटिव का गठन किया है। इसके मूल में है पानी पर समान अधिकार। उनके संघर्ष का पहला राजनैतिक चरण पूरा हो चुका है परंतु असली इम्तहान अभी बाकी है। अब उन्हें सीमित पानी का उपयोग करने के लिए नई टेक्नॉलॉजी को अपनाना है ताकि खेती का विकास हो सके। तभी तो उनकी को-आपरेटिव सफ़ल और समतामूलक बनेगी।
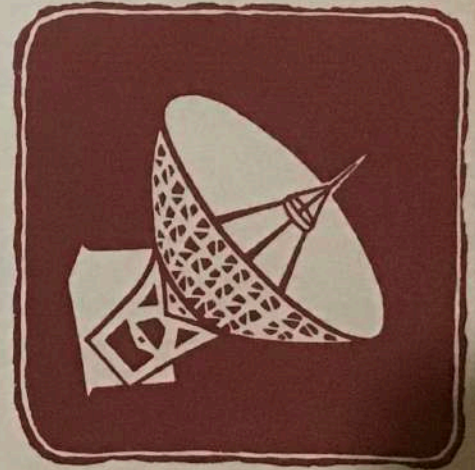
कॉमेट प्रोजेक्ट सलाहकारी समिति

प्रो. यशपाल
अध्यक्ष, युनिवर्सिटी ग्रॉंट्स कमीशन

डॉ. वसंत गोवारीकर
सचिव, डिपार्टमेंट ऑफ साइन्स एन्ड टेक्नॉलॉजी

डॉ. डी. पी. अग्रवाल
अध्यक्ष, आर्किआलॉजी एन्ड हायड्रॉलॉजी एरिआ,
फ़िज़िकल रिसर्च लॅबोरेटरी, अहमदाबाद

श्री. एन. वी. के. मूर्ती
भूतपूर्व मुख्य अधिकारी, नेहरू सेंटर, बंबई

डॉ. जयंत वी. नारलीकर
टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च, बम्बई

प्रो. इरफ़ान हबीब
अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी

डॉ. अशोक जैन
संचालक, नॅशनल इंस्टिट्यूट ऑफ साइन्स
टेक्नॉलॉजी एन्ड डेवलपमेंट स्टडीज, नई दिल्ली

प्रो. ए. रहमान
भूतपूर्व संचालक, निस्टेड्स, नई दिल्ली

श्री विनोद रायना
एकलव्य, भोपाल

डॉ. नरेन्द्र के. सहगल
निर्देशक, नॅशनल कौन्सिल फॉर साइन्स एन्ड
टेक्नॉलॉजी कम्युनिकेशन,
डिपार्टमेंट ऑफ साइन्स एन्ड टेक्नॉलॉजी

प्रो. आर. एस. शर्मा
इतिहासज्ञ

डॉ. आसिया सिद्दिकी
डिपार्टमेंट ऑफ हिस्ट्री, बंबई युनिवर्सिटी

डॉ. बी. वी. सुब्बरायप्पा
संचालक, सेंटर फॉर हिस्ट्री एन्ड फिलॉसफी ऑफ साइन्स,
इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ वर्ल्ड कल्चर, बेंगलोर

डॉ. उमेन्द्र त्रिवेदी
संचालक, डिपार्टमेंट ऑफ साइन्स एन्ड टेक्नॉलॉजी

प्रो. बी. एम. उदगांवकर
टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च, बंबई

एक्स-ऑफिशियो सदस्य
महानिर्देशक, दूरदर्शन
आर्थिक सलाहकार, डिपार्टमेंट ऑफ साइन्स एन्ड टेक्नॉलॉजी

भारत की छाप :

फ़िल्मों में भाग लेनेवाले

मूल संकल्पना एवं निर्माण
छन्दिता मुखर्जी

अनुसंधान एवं लेखन
सुहास परांजपे
स्मृति नेवाटिया
छन्दिता मुखर्जी
वसुंधरा फडके
उर्मी जुवेकर
एवं
आरती रेगे
मंदिरा कुमार

दिग्दर्शन
छन्दिता मुखर्जी

सहायक
उर्मी जुवेकर
स्मृति नेवाटिया
वसुंधरा फडके
एवं
अनिक घोष
मंदिरा कुमार
नील सडवेलकर
निखत सिद्दिकी

सूत्रधार
'निस्सीम'— हेमू अधिकारी
'मैत्रेयी'— वसुंधरा फडके

रिपोर्टर्स
'अमृता प्रसाद'— उर्मी जुवेकर
'शहनाज़ खान'— सोहैला कपूर लिमये
'रंजन प्रधान'— अनिरुद्ध लिमये
'टी. रामनाथन'— जयराम तात्ताचार
'रघुनन्दन'— शिवकुमार सुब्रह्मण्यम्

छायाचित्रण
इंद्रजीत बंसल
फ़र्नांडो कब्राल ए सा
दर्शन दवे
अनिल मेहता
सी. के. मुरलीधरन्
रंजन पालित

अतिरिक्त कैमरा
अनूप जोतवानी
अश्वनी कौल
समीर सबनीस

ध्वनिमुद्रण
इंद्रजीत नियोगी
सहयोगी
अजय मुंजाल

संकलन
रीना मोहन
रेनु सलूजा
दीप्ति भल्ला
समीरा जैन

हिंदी संवाद
प्रकाश हिंदुस्तानी
हृदय लानी
स्मृति नेवाटिया
ए. वी. राममूर्ती
राना सहरी
इशान त्रिवेदी

संगीत
के. नारायणन्

गीतरचना
ए. वी. राममूर्ती
हिमांशु राय रावल
स्मृति नेवाटिया
राना सहरी

स्वररचना
श्रीधर फडके

प्रोडक्शन
सुबोध रणदिवे
हरिन व्यास
संतोष खत्रा
शील सडवेलकर

प्रबंध
गीता रामकृष्णन्
परामर्श
अनिरुद्ध लिमये.

कार्यालय
एन्. कृष्णन्
कश्मीरा मिस्त्री
मेलनी सिक्वेरा
के. जी. विशालाक्षी

संपर्क
अरिंदम गांगुली
कम्युनिकेशन सेंटर, दिल्ली
वी. हरिदास
वासु स्टूडियो, मद्रास

बहते हुए महाद्वीप

हम जब विज्ञान के इतिहास पर फ़िल्म बनाने बैठे, तब एक बात दिमाग में कुलबुलाती रही। वही बात विज्ञान और इतिहास के अध्ययन में भी बार-बार उठती रही। वह बात थी हमारे प्रागैतिहास की। आखिर भारतवासी, यह पहचान कैसे बनी, पहले इंसान कैसे बने, पृथ्वी पर जीवन कहां से आया, यह ब्रह्माण्ड कैसे बना... प्रश्नों का सिलसिला तो बहुत ही लम्बा है पर खासकर इस उपमहाद्वीप की बातें करते हुए यह जानना बहुत ज़रूरी लगा कि इस उपमहाद्वीप का अर्थ क्या है?

इसका एक कारण और भी था। विज्ञान की खोजों ने कुछ चौंकाने वाले तथ्य सामने ला खड़े किए थे। इस सदी की शुरुआत में वैज्ञानिकों ने पता लगाया कि ग्रीनलैण्ड जैसे बर्फीले इलाके में कई हज़ार साल पहले उष्ण कटिबन्धीय पौधे पाए जाते थे। इतना ही नहीं, यह भी पता चला कि अफ्रीका और ब्राज़ील के जो इलाके आज भूमध्य रेखा के इर्द-गिर्द हैं, वे किसी ज़माने में बर्फ और ग्लेशियर (बर्फीली चट्टानों) से ढंके हुए थे। आगे चलकर, पर्वत शृंखलाओं का अध्ययन करने पर पता चला कि आज जो महाद्वीप समुन्दर के आर-पार हैं, उनकी पर्वत शृंखलाओं में समानताएं हैं। जैसे उत्तर पूर्वी अमरीका की पर्वत शृंखलाएं इंग्लैण्ड के पहाड़ों से मिलती जुलती थीं। धीरे-धीरे विज्ञान की जानकारी व तकनीकें और विकसित हुईं। अब पता चला कि एशिया, यूरोप और उत्तरी अमरीका की 10 करोड़ साल पुरानी चट्टानों में एक जैसे थलचर स्तनधारी के जीवाश्म (फ़ॉसिल) पाए गए। एक-दूसरे से इतनी दूर स्थित इन महाद्वीपों पर एक से स्तनधारी प्राणी कैसे पाए गए? भूमध्य रेखा के इर्द-गिर्द के बदलते मौसम को कैसे समझें? एक खास तरह की वनस्पति की उपस्थिती की व्याख्या कैसे करें?

इन सारे सवालों ने पृथ्वी और उसके जीवन की ऐतिहासिक जानकारी रखने वाले वैज्ञानिकों को पशोपेश में डाल दिया। इस सबका केवल एक ही स्पष्टीकरण हो सकता था। अगर अमरीका और यूरोप की ज़मीन पर किसी ज़माने में एक ही तरह के स्तनधारी रहते थे, तो इसका अर्थ यह लगाया जा सकता है कि इन दोनों महाद्वीपों की ज़मीन कभी आपस में जुड़ी हुई थी। यह मानना ज़रूरी लगने

बृहद उपमहाद्वीप पैनजिआ से उस दुनिया तक जिसे हम आज जानते हैं : 20 करोड़ वर्षों पहले शुरू हुई प्रक्रिया की एक अनुमानित झांकी